कमला भंडारी

मध्यकालीन हिन्दी-कविता पर शैवमत का प्रभाव

मध्यकालीन हिन्दी-कविता पर शैवमत का प्रभाव

(राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा पी. एच. डी. की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध)

डॉ० कमला भण्डारी,
एम. ए. पी., एच. डी.

पंचशील प्रकाशन, जयपुर

प्रकाशक :
मूलचन्द गुप्ता,
संचालक,
पंचशील प्रकाशन,
फिल्मकालोनी, चौड़ा रास्ता, जयपुर–३

प्रथम संस्करण, १९७१

मूल्य : तीस रुपया मात्र

मुद्रक :
जयपुर मान प्रिंटर्स,
बाणावालों का दरवाजा, जयपुर–३

भूमिका

मुझे हर्ष है कि डा० श्रीमति कमला भंडारी का शोध अध्यवसाय उपाधि के साथ में सफल होकर आज प्रकाशित रूप में विद्वानों के हाथों में आगया है। यह कृति लेखिका की रुचि और उसके परिश्रम का फल तो है ही, साथ ही उनके स्वर्गीय पति श्री रामचन्द्र भंडारी एडवोकेट की प्रेरणा का प्रतीक भी है। आज श्री भंडारी इस लोक में नहीं है, किन्तु उनकी प्रेरणा का यह आलोक वैदूष्य के गगन में सदैव जगमगाता रहेगा। अपने मित्र के 'प्रेरणालोक' का मैं हृदय से अभिनन्दन करता हूँ।

डा० श्रीमति कमला भंडारी परिश्रमशीला होने के साथ साथ भावुक महिला हैं। अतएव उनकी मनीषा को हृदय का पूरा सहयोग मिला है। इसमें संदेह नहीं कि आलोचना गवेषणा की प्रतिष्ठा है। प्रस्तुत कृति में दोनों का समन्वय है, किन्तु लेखिका की भावुकता के संयत योग से अभिव्यक्ति में 'मणि-कांचन योग' प्रस्तुत हो गया है। 'शोध-ग्रन्थ-माला' की यह 'मणि' कितनी मूल्यवान है, इसका निर्णय तो विद्वान पाठक ही करेंगे, किन्तु मैं इतना कह सकता हूँ कि इसमें 'शैवमत' के सम्वन्ध में जितनी सामग्री प्रस्तुत की गयी है उस सबको लेखिका ने 'मध्यकालीन हिन्दी कविता' के साथ बड़े साहस और धैर्य से सम्बन्धित किया है।

'शैवमत' की पीठिका बड़ी प्राचीन है। भारतीय संस्कृति के आदिम सूत्रों की खोज में 'शैवमत' का इतिहास अपना अमोघ सहयोग देता रहा है। वैदिक देव 'रुद्र' में इस मत के सूत्रों को खोजने की बात पुरानी पड़ गयी है। गवेषणा की भूमि पर इस दिशा में गवेषक और गहरी खोज करके इस निष्कर्ष पर पहुँच रहे हैं कि देव-पद पर भारत में शिव की बड़ी प्राचीन और लोकप्रिय प्रतिष्ठा रही है। किसी मतवाद के क्षेत्र में 'शिव' कब लाये गये, यह बिल्कुल दूसरी बात है।

'वैष्णव मत' और 'शैव मत' को एक ही साथ तोलना औचित्यपूर्ण नहीं होगा क्योंकि 'वैष्णव मत' वैदिक मत का बहुत परवर्ती स्वरूप है जिसमें आदिम आस्थाओं का नियतीकरण है। शैव संस्कृति संस्कृति के प्रवाह के

पाषाण का आदिम, अनगढ रूप प्रस्तुत करती है और वैष्णव संस्कृति शालि ग्राम का रूप प्रस्तुत करती है। संस्कृति के इतिहास में दोनों का अपना अपना गौरव है। मुझे ऐसा लगता है कि 'शैवमत' की गति में प्रसार के लक्षण रहे हैं और 'वैष्णव मत' की गति में प्रचार के लक्षण। विकृतियों के संक्रमण से दोनों ही मुक्त न रह सके, यह तथ्य है।

भारतीय धर्मों की यह विशेषता रही है कि आडंबरों के चक्र में पड़कर भी वे 'भावना' और 'व्यवहार' का पार्थक्य स्वीकार न कर सके। भावना का प्रारंभिक प्रतीकीकरण मानव-संस्कृति के विकास की स्वाभाविकता का परिचायक है, किन्तु प्रतीकीकरण की आचरणमूलक अँगड़ाइयों में भावना का छाद्मिक इतिहास भी निहित है। प्रायः सभी धर्मों की गति में यह इतिहास देखा जा सकता है। फिर 'शैवमत' को इस नियति से मुक्त करके कैसे देखा जा सकता है। श्रीमती भंडारी ने 'शैवमत' के इतिहास में इसी 'गति' और'नियति' का विवेचन किया है, किन्तु आलोचना की औपाधिक मर्यादा में।

सामान्यतया 'मत' और 'धर्म' में विशेष अन्तर नहीं माना जाता, किन्तु विशेषीकरण की भूमि पर दोनों में अन्तर है। 'मत' सिद्धान्तपरकता व्यक्त करता है और 'धर्म' 'श्रद्धा' और 'विश्वास' आचरणपरकता व्यक्त करता है। डा० भंडारी ने 'शैवमत' के अन्तर्गत 'मत' और 'धर्म' दोनों की विवेचना की है।

इस शोध-ग्रन्थ को लेखिका ने छै अध्यायों में विभाजित किया है, जिनमें 'विकास का इतिहास' और 'उपसंहार' भी सम्मिलित है। पंचम अध्याय के 'क', 'ख' और 'ग' अंश मूलतः एक ही अध्याय की विकृति हैं, जिनकी पृथक पृथक व्यवस्था शोध की दृष्टि से आवश्यक है। इस महाकृति का विषय-परक संक्षेपण चार भागों में किया जा सकता है—१. शैवमत का इतिहास, २. शैव-सिद्धान्तों की विवेचना, ३. मध्यकालीन हिन्दी कविता पर शैव मत का प्रभाव तथा ४. मध्यकालीन हिन्दी कविता पर शैव साहित्य का प्रभाव।

'शैवमत' के विकास का इतिहास बड़ा जटिल है और सिद्धान्तों का प्रतिपादन तो और भी जटिल है। इस जटिल कार्य को, जिस धैर्य और क्षमता से डा० भंडारी ने सम्पन्न किया है, वह श्लाघ्य है। मध्यकालीन कविता के वन से 'शैवकाव्य' की खोज गंगा की बालुका से मुक्ता की खोज से कुछ कम कठिन नहीं है। लेखिका ने इस खोज का निर्वाह भी बड़ी कुशल दृष्टि से किया है।

लेखिका की विवेचन-शैली बड़ी सरल और रोचक है जिसमें स्पष्ट अभिव्यक्ति को समुचित व्यवस्था मिली है, पारिभाषिक शब्दावली की प्रतीक्षात्मक दुरुहता लेखिका की विवशता है, किन्तु रोचकता से वह परीमार्जित हो गयी है। शब्दों में उपयुक्त संगति और अर्थ-शक्ति विद्यमान है।

अपने ढंग का यह अनूठा कार्य अपनी अभिनवता से विद्वद्रुमि की तृप्ति करेगा, मुझे पूर्ण विश्वास है। मैं यह आशा करता हूँ कि लेखिका का यह श्रम साकार होकर उसका नव्य प्रेरणाएँ देकर अग्रिम शोध-कार्य की दिशा देगा।

अरुण-कुटीर,
जयपुर
११-७-७१

सरनामसिंह शर्मा 'अरुण'
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

———

प्राक्कथन

भारतीय भक्ति के दो प्रमुख अंग शैव और वैष्णव मत हैं। भारतीय साहित्य पर इनका व्यापक प्रभाव रहा। वैष्णव मत पर तथा वैष्णवों के आराध्य राम अथवा कृष्ण से सम्बन्धित, मध्ययुगीन हिन्दी काव्य पर अनेक शोध प्रबन्ध लिखे गये हैं। वैसे तो आंग्ल भाषा में शैवदर्शन पर आलोचना ग्रंथ प्राप्त होते हैं तथापि हिन्दी साहित्य में आज तक उनका अभाव सा ही है। शैवमत पर डा० यदुवंशी कृत शैवमत का हिन्दी में अनुवाद हुआ है। उक्त रचना में लेखक ने वैदिक देवता रुद्र और उनके परिवार का इतिहास तथा विहंगम दृष्टि से तेरहवीं शताब्दी तक के शैवमत की रूपरेखा प्रस्तुत की है। डा० हिरण्मय के शोध प्रबन्ध—"हिन्दी कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन" में दक्षिण में प्रचलित वीर शैवमत तथा शुद्ध शैवमत और उनके साहित्य का विवेचन हुआ है। डा० उमेश मिश्र का "लिंगायत–मत" तथा धर्मवीर भारती का "सिद्ध साहित्य" आदि और ग्रंथ भी मिलते हैं जिनमें शैवमत का प्रतिपादन हुआ है। इन्होंने शैवमत के अध्ययन को पर्याप्त गति प्रदान की है किन्तु "मध्यकालीन हिन्दी कविता पर शैवमत का प्रभाव" शीर्षक के अन्तर्गत केवल मत के प्रभाव की गवेषणा ही नहीं की गयी है अपितु मत से सम्बन्धित साहित्य की भी गवेषणा की गयी है। सामान्यतः मत का तात्पर्य दार्शनिक सिद्धान्तों से जोड़ा जाता है, किन्तु जिस साहित्य में मत सुरक्षित है उसकी भी सामान्यतः उपेक्षा नहीं की जा सकती बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि ग्रंथ को सुरक्षित रखने वाले आवरण–वस्त्र की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

यह ठीक है कि शैव दर्शन की एक परम्परा रही है, जिसमें काल क्रम से अनेक विकास सूत्रों ने मिल कर परम्परा के विकास में अपना योग भी दिया है जिस प्रकार शैवदर्शन में शिव के स्वरूप, जीव, जगत्, कर्म, मुक्ति आदि अनेक समस्याओं पर एक विचार परम्परा दृष्टिगोचर होती है उसी प्रकार शैव साहित्य में शिव के स्वरूपों, सम्बन्धों, घटनाओं के परिवेश में भी बहुत कुछ मान्यताएं विकसित होती चली आ रही हैं, जिनके प्रति शैव भक्तों की विश्वास और श्रद्धा की धाराएं अविरल रूप से उमड़ती आ रही हैं।

भावों की अभिव्यंजना के लिये भक्तों ने अनेक पद्धतियों और शैलियों को न केवल जन्म दिया वरन् उनका अनुसरण भी किया। इसी का परिणाम साहित्य में रस अलंकार आदि की व्यवस्था है जिनके सम्बन्ध में शैवों का एक नियत दृष्टिकोण रहा है। उनकी मान्यता रही है कि शिव से सम्बन्धित जिन जिन अपमान और रसों का विनियोग होता आ रहा है उन्हीं की परम्परा बनी रहे। इस दृष्टि से शैव कथाओं में लिपटे हुए शैवमत के साथ रस और अलंकार की भूमिका को भी भुलाया नहीं जा सकता। इसी कारण मध्यकालीन हिन्दी कविता पर शैवमत का प्रभाव देखते समय उक्त विषयों की प्रभाव की गवेषणा उपयुक्त ही नहीं आवश्यक भी समझी गयी है।

शैवमत के परिवेश में जिन सिद्धान्तों को देखा गया है, वे भारतीय संस्कृति के दार्शनिक परिच्छेद के अनिवार्य उपकरण हैं। भेदोपभेदों में उछलते डूबते वे सिद्धान्त किसी भी दशा में संस्कृति के पल्ले को नहीं छोड़ रहे हैं। इसीलिए साहित्य के पहलू में भी भारतीय दर्शन अटूट प्रेम का भाजन रहा है। वह अपनी तात्विक रक्षा साहित्य में अधिक सबल रूचिरता से बनाए हुए हैं इसीलिये प्रस्तुत निबन्ध में शैवदर्शन के साथ साथ उनके आधार भूत साहित्य की भी यथास्थान मीमांसा की गयी है।

साहित्य क्या है यहां यह कहने की आवश्यकता नहीं है किन्तु वह जीवन का एक मनोरम प्रतिविम्ब है। इसको तो छिपाया भी नहीं जा सकता। उसमें हमारी चेतना के प्रत्येक पक्ष के साथ साथ भावना के अनेक पक्ष मिलते हैं। जहां चिन्तन रुचिर और मोहक बनने की कल्पना करता है वहीं भावना के योग से कोई न कोई आधार लेकर किसी वस्तु या विषय का चयन करके— साहित्य अपने रूप को संवार ही देता है। जो कथाएं हमें साहित्य में मिलती हैं अथवा जो कल्पनाएं चिन्तन को तरल, सरस एवं शब्दकाव्य बनाने का प्रयत्न करती हैं वे किसी कथावस्तु के सृजन में भी बड़ी सहायक होती हैं। न जाने ऐसी कितनी कल्पनाओं के पुट ने वैदिक रुद्र को शिव तक लाने का प्रयत्न किया और न जाने कितनी कथाओं को जन्म दिया। मध्यकालीन हिन्दी कविता उन्हीं कल्पनाओं की परम्परा का एक शब्दलोक है जिसका अपना कथा परिवार, रस परिवार, और अपमान परिवार है। यद्यपि इन परिवारों के सदस्य भिन्न हैं फिर भी उनकी कुछ सामान्य परिस्थितियां या प्रवृत्तियां भी हैं जो उन सब को, उनके पूर्वज वैदिक रुद्र देव में संनिहित करती हैं।

इन सब उपकरणों की मीमांसा के निमित्त प्रस्तुत निबन्ध में छः अध्यायों की व्यवस्था की गयी है, जिनके अन्त में संक्षिप्त उपसंहार जुड़ा हुआ

है । ऋग्वेद में 'रुद्र' के लिये शिव शब्द का प्रयोग हुआ है एवं रुद्र के विशेषण के रूप में शिव शब्द उक्त वेद में अनेक स्थानों पर आया है । प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में वैदिक तथा उत्तर वैदिक साहित्य में शिव के नाम–रूप–गुण उपासना, वाहन, उनके परिवार के स्वरूप, आदि का उल्लेख है । शिव तथा उनके परिवार से सम्बद्ध पौराणिक कथाओं पर आधारित विभिन्न कथाओं का परिचय दिया गया है । इस अध्याय में शैवमत का निरूपण करते हुए उसके भेदोपभेदों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है । यह अध्ययन इस दिशा में नवीन और मौलिक प्रयास है, जो शैवमत की मूल प्रवृत्तियों और प्रेरणाओं के विकास की दिशा को समझने में सहायक होगा ।

द्वितीय अध्याय में शैव–सिद्धान्तों का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया गया है । शैव सिद्धान्त में चिन्तन, योग और भक्ति तत्त्व आते हैं । अतएव अध्ययन की सुविधा के लिये इस अध्याय के 'क, ख, ग' भागों में उक्त तीनों पक्षों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है । चिन्तन पक्ष में दर्शन का क्षेत्र, शैव दर्शन और उसकी सीमाएं तथा निरूपण दिया गया है । शैव मत के तात्विक विश्लेषण में उस के छत्तीस तत्त्वों की विशद व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है, जिसमें शिवतत्त्व, शक्ति तत्त्व, विद्यातत्त्व–सदाशिव, ईश्वर, शुद्ध विद्या, और आत्मतत्त्व के इकतीस तत्त्वों का विश्लेषण है । इस अध्याय में शैव साहित्य में प्रतिपादित शैवमत के विभिन्न सम्प्रदायों में मान्य चैन्तनिक विचार-धारा की रूप रेखा को प्रस्तुत किया गया है । निष्कर्ष में मध्यकालीन कविता पर शैवदर्शन के प्रभाव की ओर संकेत किया गया है । शैवदर्शन का अध्ययन हिन्दी पाठकों के लिये अछूता सा रहा है । शैवमत की दार्शनिक गुत्थियां सुल-झाने और पारिभाषिक शब्दावली को समझने में पाठकों को इस अध्ययन से पर्याप्त सहायता मिलेगी ।

इस अध्याय के 'ख' भाग में योग का इतिहास, योग के प्रकार, शैव योग, शैव योग में अन्य योगों का विनिवेश और अनेक भूमिकाओं पर पल्लवित शैव-योग धारा का विवेचन प्रस्तुत किया गया है । इस अध्याय का लक्ष्य शैव-योग-परक साहित्य में प्रतिपादित योग धारा की रूप रेखा प्रस्तुत करना है । मध्य-कालीन हिन्दी संत कवियों की योग–परक–रचनाओं पर शैवयोग धारा के प्रभा-वान्वेषण के लिये उक्त अध्ययन अपेक्षित है ।

द्वितीय अध्याय के 'ग' भाग में शैवमत का भक्ति दर्शन विवेचनीय रहा है । भक्ति दर्शन में उसके तीन प्रमुख पक्ष उपासक, उपास्य और उपासना की अलग अलग व्याख्या की गयी है । उपासक पक्ष में उपासक उपासक के

लक्षण, गुण, शैवोपासक, उनके उपभेद, शैवोपासकों का प्रसार तथा उपासना की अनेक भूमिकाओं पर उपासक को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। उपास्य पक्ष में उपास्य, नाम-नामी सम्बन्ध, शिव के नाम और उसकी मीमांसा, शिव-स्वरूप, मूर्तियों में शिव स्वरूप, शिव परिवार और शिवलीला का अवलोकन हुआ। उपासना में भक्ति तत्त्व की व्याख्या' भक्ति का इतिहास, भक्ति के साधन, लक्ष्य, उत्कृष्टता के अतिरिक्त शैवों की बाह्य एवं आभ्यांतरिक पूजा, शैवों के तीर्थ, शैवों की पूजा-विधि बतलायी गयी है। इस अध्याय में शैव सिद्धान्तों के निरूपण में नवीन वैज्ञानिक प्रणाली को देखा जा सकता है।

शोध प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में शैवमत के आधार पर पल्लवित साहित्य का परिचय दिया गया है। इस अध्याय में मध्यकाल पर्यन्त शैवसाहित्य का संकलन, उत्तरोत्तर उसके विकास एवं उत्तरवर्ती साहित्य पर उसके प्रभाव की रूप रेखा प्रस्तुत करने के लिये आवश्यक समझ कर किया गया है। मध्यकाल पर्यन्त शैवसाहित्य की विस्तृत नामावली से शैवमत की प्राचीनता एवं व्यापकता का ज्ञान होता है। विस्मृति के गर्भ में छिपे उक्त साहित्य का अनुसन्धान एवं अध्ययन की अपेक्षा है।

चतुर्थ अध्याय में मध्यकालीन हिन्दी साहित्य पर शैवमत के प्रभाव की दिशा और दशा की ओर संकेत किया गया है। पंचम अध्याय मध्यकालीन हिन्दी साहित्य पर, शैवमत के प्रभाव पक्ष सम्बद्ध है। इस अध्याय में प्रस्तुत अभिलेख के द्वितीय अध्याय का क्रियात्मक प्रभाव दिखलाया गया है। उक्त अध्याय के सदृश ही पंचम अध्याय को 'क ख ग' तीनों भागों में विभक्त किया गया। 'क' भाग में मध्यकालीन हिन्दी कविता पर शैवदर्शन के प्रभाव का विवेचन किया गया है, जिसमें संवत् १३७५ से १८५० तक के साहित्य की विविध धाराओं पर प्रभावान्वेषण को लक्ष्य रखा है। इसी प्रकार 'ख' भाग में मध्यकालीन हिन्दी कविता पर शैव योग धारा के अनुकूल एवं प्रतिकूल प्रभाव का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। उसमें आलोच्य युग के सत काव्य में योग की विभिन्न भूमिका पर पल्लवित योग धारा पर शैवयोग धारा के प्रभाव का अन्वेषण हुआ है। संत कवियों के योग-परक काव्य की प्रेरणा एवं प्रवृत्तियों तथा योग की पारिभाषिक शब्दावली के मूल स्रोतों का अध्ययन किया गया है जो, भावी-अध्ययन में सहायक सिद्ध होगा। 'ग' भाग में मध्यकालीन हिन्दी काव्य में प्रस्तुत उपास्य शिव के नाम-रूप-गुण और उपासना के स्वरूप-विवेचन द्वारा उस पर शैव भक्तिदर्शन के प्रभाव के अन्वेषण का प्रयास किया गया है।

षष्ठ अध्याय में हिन्दी साहित्य पर शैव साहित्य के प्रभाव को दिखलाया गया है। उसमें शैव साहित्य के प्रभाव की विभिन्न धाराओं का विवेचन हुआ है।

उपसंहार में शैवमत के विभिन्न एवं प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्तों एवं मध्यकालीन हिन्दी कविता पर उसके प्रभाव का संक्षेप में पर्यालोचन हुआ है। इसके साथ ही शैवमत की सांस्कृतिक, दार्शनिक एवं साहित्यिक उपयोगिता एवं उसके नैतिक मूल्यों के अवदान की ओर संकेत किया गया है। इस प्रकार अपने शोध प्रबन्ध में कतिपय दोषों और अभावों के रहते, मैं इस निष्कर्ष पर पंहुची हूं कि शैवमत भारतीय धर्म साधना का प्रमुख अंग है और साहित्यिक अन्वेषण में उसके योग की अपेक्षा कदापि नहीं की जा सकती। वैष्णव धर्म के सदृश इसका मध्यकालीन साहित्य पर महत्वपूर्ण प्रभाव रहा है।

इस ग्रन्थ के तैयार करने में मुझे अनेक स्थानों के विद्वानों, पुस्तकाध्यक्षों एवं महात्माओं से भी बड़ी सहायता मिली है। मैं उनके प्रति अपना आभार प्रकट करती हूं। मेरे निदेशक डा० सरनाम सिंह शर्मा 'अरुण' ने जिस तन्मयता और लगन से मेरी कृति को प्रेरित किया है, इसके लिए मैं उनकी कृतज्ञ हूं। इस कृति में जिन विद्वानों के ग्रंथों से सहायता ली गई है उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन भी मेरा कर्तव्य है। पुस्तक के सुरुचिपूर्ण प्रकाशन के लिए मैं पंचशील प्रकाशन के संचालक श्री मूलचन्द गुप्ता की भी आभारी हूँ। अन्त में उन सभी महानुभावों को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकती जिन्होंने मुझे इस कार्य में सहयोग दिया।

१० जुलाई, १९७१

प्रधानाचार्य
महारानी सुदर्शना कालेज
बीकानेर

कमला भण्डारी

विषय-सूची

कुण्डलिनी–उद्बोधन; नाद–बिन्दु; राज योग । शैवयोग : शैवयोग में अन्य योगों का विनिवेश; शैवयोग की अनेक भूमिकाएं; कायिक भूमिका–यम; नियम; आसन; प्राणायाम; प्राण; प्राणायाम के अंग; षट्कर्म; मुद्रा; नाड़ी विचार; कुण्डलिनी उत्थापन; चक्र वर्णन–मूलाधार चक्र; स्वाधिष्ठान चक्र; अनाहत चक्र; विशुद्ध चक्र; आज्ञाचक्र सहस्त्र दल कमल; प्रत्याहार–प्रत्याहार के साधन । मानसिक भूमिका–चित्त; चित्त के रूप; चित्त की भूमियां; चित्त की वृत्ति और प्रकार; संस्कार; वृत्ति–निरोध–उपाय; चित्त विक्षेप–कारण; चित्त के क्लेश; धारणा; ध्यान; ध्यान के भेद; समाधि–समाधि के भेद । शैदयोग की आध्यात्मिक भूमिका–शैवयोग और गुरु; महत्त्व; निष्कर्ष ।

(ग) शैव भक्ति :—उपासक–उपासक के लक्षण; उपासक के गुण–श्रद्धा; विश्वास; अहिंसा; सत्य; शौच; दया । शैवोपासक–वीरशैवों के उपभेद; पाशुपत शैवों के उपभेद; शुद्ध शैव तथा काश्मीरी शैव; दशनामी । शैवोपासकों का प्रसार । उपासना की अनेक भूमिकाओं पर उपासक । शैवोपासक की कायिक भूमिका–वेशभूषा; आभूषण–मेखला; शृंगी; अधारी; कर्ण; मुद्रा; जनेऊ; रूद्राक्ष; खप्पर; दण्ड; तिलक; अन्य चिन्ह । उपासक आचार–वीर शैवोपासकों के असामान्य आचार; दीक्षा; अष्टावरण-लिंग; गुरु; जंगम; पादोदक; प्रसाद; पंचाचार; गोरखपंथी उपासकों के असामान्य आचार–रहनी; दीक्षा संस्कार । शैवोपासकों की मानसिक भूमिका–शैवोपासकों की आध्यात्मिक भूमिका; निष्कर्ष ।

उपास्य:–नाम-नामी सम्बन्ध; शिव के नाम और उनकी मीमांसा; शिव रूप-भयंकर; सोम्य । मूर्तियों में शिव रूप–मानवकार मूर्तियां; लिंग मूर्तियां; अर्धनारीश्वर मूर्तियां; नटराज मूर्तियां । शिव परिवार–पार्वती; स्कन्द; गणेश । शिव लीला; शिव–सती लीला; पार्वती प्रसंग से शिव लीला; नटराज रूप; ब्राह्मण रूप; हनुमान रूप; किरात रूप; शिव अवतार; निष्कर्ष ।

उपासना—भक्ति (व्युत्पत्ति एवं अर्थ); भक्ति प्रयोग क्षेत्र; भक्ति का इतिहास; भक्ति का स्वरूप; भक्ति के भेद; भक्ति के साधन; भक्ति का लक्ष्य; भक्ति की उत्कृष्टता । बाह्योपासना–शिवपूजा के उपकरण; उपकरणों का फलांकाक्षा से सम्बन्ध; उपासना के विशेष दिन । शैवों के प्रमुख तीर्थ–स्थान । पूजा विधि–नमक चमक पूजा विधि; पार्थिव पूजा; आभ्यांतरिक पूजा; शैवतांत्रिकों की आभ्यांतरिक उपासना । निष्कर्ष ।

अध्याय १

शैवमत-विकास

भारतीय धर्म ग्रन्थों में शिव को मंगलकर देव के रूप में स्वीकार किया गया है। इस नाम का कोई क्रमवद्ध इतिहास तो हमारे सामने प्रस्तुत नहीं है किन्तु आज जो "रुद्र" नाम शिव का पर्यायवाचक माना जाता है उसी को हम "शिव" नाम का उद्‌भव बीज भी मान सकते हैं। "रुद्र" नाम का बीजपात ऋग्वेद में दृष्टिगोचर होता है।

वैदिक काल में नाम

ऋग्वेद में "रुद्र" के अनेक पर्यायी शब्द मिलते हैं, जिनमें अर्थ का एक विकासक्रम मिलता है। रूद्र बलवान हैं इसलिए वृषभ,[1] आकाश में निवास करने से दिवोवराह,[2] भयंकर अग्नि रूप होने से कल्पलीकिन,[3] वर्षा करने वाले होने के कारण मेघपति,[4] शीतल एवं गुणकारी औषधियों के स्वामी होने के कारण औषधीश,[5] वज्र धारण करने से वज्रधारी कहे गए हैं।[6] उन्हें भीम

---

१. एव बभ्रो वृषभ चेकितान यथा देव न हृणीषे न हंसि।
हवन श्रुन्नो रुद्रेहि वोधि वृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥
—ऋग्वेद २।३३।१५

२. दिवो वराहम् रुषं कपर्दिनं, त्वेषं रूपं ममसा नि ह्वयामहो
हस्ते विभ्रद्‌भेषजा वार्याणि, शर्म वर्म छर्दिरस्मभ्यं यंसत्।
—ऋग्वेद १।११४।५

३. प्र बभ्रवे वृषभाय शिवतीचे, महो महीं सुष्टुतिमीरयामि।
नमस्या कल्पलीकिनं नमोभिर्गृणीमसि त्वेषं रुद्रस्य नाम॥
—ऋग्वेद २।३३।८

४. ऋग्वेद १।४३।४।

५. वही, ५।४२।११।

६. वही, २।३३।१

उपहन्तु,[१] जलाष और जलाषभेषज,[२] स्वयशस्,[३] प्रचेतस्,[४] कवि और प्रभूत जगत् का ईशान[५] भी आख्यात किया गया है। एक स्थान पर रुद्र के लिए "शिव"[६] का प्रयोग भी हुआ है।

ऋग्वेद में शिव शब्द का प्रयोग संभवतः बहुत कम हुआ है और वह भी विशेषरण के रूप में, किन्तु यजुर्वेद में रुद्र के लिए अनेक ऐसे विशेषरणों का प्रयोग मिलता है जो लौकिक संस्कृत में 'शिव' के भी विशेषरण हैं। वे पिनाकी[७] आततायी, कपर्दी,[८] नीलग्रीव[९] (नीलकण्ठ) विश्वकर्मा (लौहित वर्ण वाले) त्रयम्बक्[१०] आदि अनेक नामों से अभिहित हुए हैं। इसमें सन्देह नहीं कि यजुर्वेद ने रुद्र के नामों का पर्याप्त विकास किया। इनमें से अधिकांश का सम्बन्ध लौकिक संस्कृत में शिव से ही रहा है। ऋग्वेद में जिन नामों का व्यवहार हुआ उनमें से बहुत से तो वहीं रह गये और कुछ आगे बढ़े जिनमें से कुछ ने अर्थ परिवर्तन कर दिया और कुछ मूल अर्थ को लेकर ही चलते रहे जैसे पिनाकी, त्रयम्वक् आदि।

---

१. स्तुहि श्रुतं गर्तसदं युवानं, मृगं न भीममुपह त्नुमुग्रम्।
मृला जरित्रे रुद्र स्तवानोऽन्यं ते अस्मन्नि बपन्तु सेनाः॥
—ऋग्वेद २।३३।११

२. ऋग्वेद १।४३।४, २।३३।७।

३. तद्रुद्राय स्वयशसे —ऋग्वेद १।१२९।३।

४. कद्रुद्राय प्रचेतसे मीलहुष्टमाय तव्यसे। — ऋ० १।४३।१।

५. ऋग्वेद २।३३।९।

६. स्तोमं वो अद्य रुद्राय शिक्वसे क्षयद्वीराय नमसा दिदिष्टन।
येभिः शिवः स्ववाँएवयावभिर्दिवः सिषक्तिस्वयशा निकामभिः॥
—ऋग्वेद १०।९२।९।

७. मीढुष्टम शिवतम शिवोनः सुमनाभव। परमेवृक्ष आयुधं
निधाय कृत्तिंवसानऽआचर पिनाकं विभ्रदानहि। —शु० य० २६।५१।

८. विज्यं धनुः कर्पादनो विशल्यो वाणवान उत
अनेशन्नस्य था इषग आभुरस्य निषंगधिः॥ —शु० य० १६।१०।

९. नमोस्तु नीलग्रीवाय सहस्राक्षाय मीढुषे। वा० सं०—
—य० वे० १६।१।६६।८।

१०. त्रयम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्। कृ० य० १।८।६। [ऋग्वेद]

अथर्ववेद ने इस नाम परम्परा को और आगे बढ़ाया और जहां महादेव,[१] शर्व भव,[२] मन्त्रदाता आदि नामों की वृद्धि हुई वहां सहस्राक्ष,[३] व्युक्तकेश[४] आदि नाम भी प्रयुक्त हुए। अन्य वेदों के कई नामों की भाँति अथर्ववेद के अनेक नामों ने भी अर्थ परिवर्तन का मार्ग ग्रहण किया। सहस्राक्ष जैसे नाम रुद्र और शिव मध्य की शृंखला की कड़ी न रहकर भिन्नार्थ बन गये।

ब्राह्मणों ने 'रुद्र' नाम की व्याख्या की दिशा में एक कदम आगे बढ़ाया और रुदन करने के कारण उनको रौद्र[५] बतलाया। रुद्र का दैवत्व अधिक विकसित हुआ। रुद्र और अग्नि में अभेद हो गया।[६] याज्ञवलक्य द्वारा परिगणित तैंतीस देवों में रुद्रों ने ही ग्यारह स्थान घेर लिये तथा इन्द्र, आदित्य, वसु और प्रजापति के साथ दैवत्व पथ पर आसीन हुए।[७]

---

१. सोऽवर्धत स महानतमवत् स महादत्रोऽभवत्। अथ० वे० १५।१।४।

२. भवाशर्वाविदं धूमो रुद्रं पशुपतिश्चयः।
इषूर्या एषां संविद्म ता नः सन्तु सदा शिवाः॥
—अथ० वे० १०। ६। ६।

३. अस्त्रा नीलशिखण्डेन सहस्राक्षेण वाजिना।
रुद्रेणार्वकाषतिना तेन मा समरामहि॥ अथ० वे० ११।२।७।

४. अथ० वे० ११. २।

५. तमब्रवीद् रुद्रो सीति तथदस्य तन्नाम्रा करोत्।
अग्निस्तद्रूपमभवत् अग्निवे रुद्रो।
यदरोदीतस्मादुद्रः। सोऽब्रवीत् ज्यायान्वाऽवतो
ऽस्मिधेह्येव में नामेति। —शत० ब्रा० ६।१।३।१०।

६. अग्निर्वे सः देव तस्येतानि नामानि शर्वइति
यथाप्राच्या आचक्षते भवति। यथा वाहीकाः
पशुनांपती रुद्रोऽग्निरिति।
—शत० ब्रा० १।७।३।८।

७. स हो वाच महिमानऽस्वेषामेते त्रयस्त्रिंसन्तेव
देवाऽइति कसमे ते त्रदस्त्रिंशत् इत्यष्टो व्यस्गः
एकादश रुद्राः द्वादशादित्यास्तऽएक त्रिंशत्
इन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिशाविति।
—शत० ब्रा० १४।३।७।३।

शतपथ ब्राह्मण की भांति अन्य ब्राह्मणों ने भी रुद्र के महत्व को प्रतिपादित करने में अपना अपना गौरवादि वतलाया। कौशीतकी ब्राह्मण ने रुद्र को उत्तर दिशा[1] का अधिपति बना कर मानों यम के स्थान पर भी बैठा दिया।

उपनिषदों ने भी रुद्र नाम के विकास में अपना पर्याप्त योग दिया। श्वेताश्वतर उपनिषद् ने रुद्र को गिरिशन्त, गिरित्र[2] ही नहीं कहा वरन् शिव शब्द से अभिहित किया। एक ओर नामावली में विकास किया और दूसरी ओर नाम की परपंरा को अक्षुण्ण भी रखा। 'शिव' शब्द इसी का द्योतक है। एक प्रकरण में रुद्र को अग्नि, सूर्य, वायु, ब्रह्म, प्रजापति व महेश्वर[3] भी कह डाला।

छान्दोग्य उपनिषद् में रुद्र को वसुवों से अधिक महत्वशाली बतलाया गया। उपनिषद् ने कहा— "जितने समय में आदित्य पूर्व से उदित होता है और पश्चिम में अस्त होता है उससे दुगुने समय में वह दक्षिण से उदित होता है और उत्तर में अस्त होता है। इतने समय पर्यन्त वह रुद्रों के ही आधिपत्य एवं स्वराज्य को प्राप्त होता है।" अर्थात् वसुवों की अपेक्षा रुद्रों का भोग काल दूना है। इसी उपनिषद् में एक स्थान पर "..... .. ....उपजीवन्तीन्द्रेण मुखेनवै ...." कह कर रुद्र और इन्द्र का सम्बन्ध व्यक्त किया गया है।[4]

माण्डूक्योपनिषद् में ओंकार के लिए 'शिव' शब्द का प्रयोग किया गया है। वहां "द्वतस्योपशमः शिवः" कह कर शिव शब्द के अर्थ को व्यक्त किया गया है। शांकरभाष्य में इसका अर्थ "सम्पूर्ण द्वैत का उपशम स्थान" होने से ओंकार को 'शिव' (मंगलमय) कहा गया है। इससे यह स्पष्ट है कि ऋग्वेद के शिव का अर्थ उपनिषदों ने भी सुरक्षित रखा।

---

१. कौशीतकी ब्राह्मण ३।४, ६।१,

२. यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
यामिषुं गिरिशन्त हस्ते विभर्ष्यस्तवे।
शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसोः पुरूषं जगत्।
—श्वे० उ० ३।३, ३।४, ३।५, ३।६, ३।७।

३. यो देवो अग्नौ यो अप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः
श्वे० उ० २।१७।

४. छान्दोग्य उपनिषद्–३।७।१७।

उत्तर वैदिक काल में नाम

रामायण महाभारत और पुराण ग्रन्थों में शिव शब्द कहीं कहीं विशेषण के रूप में भी प्रयुक्त हुआ किन्तु उसका प्रयोग बहुधा देव विशेष के लिए ही हुआ है। वैदिक साहित्य में रुद्र के अनेक विशेषण शिव के पर्यायी भी बन गये थे, किन्तु 'शिव' किसी कथा के पात्र होकर कहीं भी हमारे सामने नहीं आते। शिव सम्बन्धी कथाओं को जन्म देने और विकसित करने में रामायण व महाभारत के साथ पुराणों का बड़ा योग रहा है। इन्ही ग्रन्थों में शिव के सम्बन्ध की कथाएं भी प्रचलित होती हैं। शिव-विष्णु[1] और शिव-ब्रह्मा[2] का सम्बन्ध विकसित होता हुआ, शिव परिवार भी विस्तार को प्राप्त होता है। देव सम्बन्ध के ये प्रसंग भारतीय लौकिक साहित्य के लिए पुराणादि की अनुपम देन हैं। अन्य देव कथाओं की भाँति शिव कथाओं में वर्णाश्रम धर्म के साथ साथ भक्ति भावना का स्वरूप भी प्रखर हो उठा है।

तन्त्रों में शिव[3] नाम अपना स्पष्ट अर्थ लेकर आया है, बिलकुल उसी प्रकार का पुराणों में मिलता है, किन्तु कथा प्रसंग का वहाँ अभाव सा है। उनमें तो साधना विषयक कुछ प्रस्थापना है और कुछ तन्त्रों में उपासना पद्धति का निरूपण है। जो हो तन्त्र साधना अथवा उपासना दोनों में शिव नाम अवतीर्ण हुआ है।

वैदिक काल में रूप

वैदिक काल से पौराणिक काल तक शिव के स्वरूप में पर्याप्त विकास पाया जाता है। ये निराकार से साकार हो गये हैं। शिव के स्वरूप का विकास ऋग्वेद में वर्णित रुद्र के स्वरूप से प्रारम्भ होता है। इसमें इनके दो रूपों का उल्लेख मिलता है — एक भयंकर और दूसरा कल्याणकारी। भयंकर रूप में इन्हें वज्रधारी[4]

---

१. येयं मूर्तिमंगवतः शंकर आस स्वयं हरिः।
—बराह पुराण ६।७।

२. शंकरो भगवान् शोरिर्भूतिर्गौरी द्विजोत्तम
नमो नमो विशेषस्त्वं त्वं ब्रह्मा त्वं पिनाकधृक्॥
—वा० पु० २।८।२१।

३. अस्ति देवी परब्रह्म स्वरूपी निष्कलः शिवः।
सर्वज्ञः सर्वकर्ता च सर्वेशो निर्मलाशयः॥
अयं ज्योतिरनाद्यन्तो निर्विकारः परात्परः।
निर्गुणः सच्चिदानन्दस्तदंसा जीवसंज्ञका॥
—कुलार्णव तंत्र १।११–१२।

४. ऋग्वेद २।३३।१।

रूप में चित्रित किया गया है तथा गोघ्न और नृघ्न इनके वज्रों के नाम बतलाये गये हैं[१]। इनका अमर्ष भीषण है। अपने सौम्य रूप में रुद्र औषधीश हैं।[२] इनके वरणीय औषधवाले हाथ को यशस्कर एवं पीयूषमय[३] बतलाया गया है।

यजुर्वेद में रुद्र को बलवान्, सुसज्जित योद्धा के रूप में चित्रित किया है। उनके हाथ में पिनाक[४] नामक धनुष तथा बाण है और बाणों को रखने के लिए तूणीर भी है। उनके पास सहस्रों प्रकार के खड्ग और आयुध हैं। उनकी तलवार का नाम निस्न्धी है तथा उसको रखने के लिए निघ्नघी भी है।[५] वें श्रृंग वज्र भी धारण करते हैं। सिर की रक्षा के लिए शिरस्त्राण व शरीर की रक्षा के लिए 'वर्म' और 'कवच' भी धारण करते हैं।[६] वे अपने भक्तों के दुश्मनों को मारने के लिए सिर पर बिलम (शिरस्त्राण), कवच एवं वर्म धारण कर, शरसंधान करके, रथासीन होकर मैदान में उतरते हैं। ये जटाधारी भी हैं।[७] यजुर्वेद में रुद्र अम्बिका सहित यज्ञ भाग ग्रहण करते बतलाये गये हैं।[८] वे अपने कल्याणकारी रूप में केवल पुण्य-फल के दाता हैं। इसी वेद के

---

१. आरे ते गोघ्नमुत पुरुषघ्नं, क्षयद्वीर सुम्नंभस्मे ते अस्तु।
मृला च नो अधि च ब्रूहि देवाधा च नः शर्म यच्छ द्विबर्हा।
—ऋ० वे० १।११४।१०।

२. ऋग्वेद ५।४२।११।

३. क्व स्य ते रुद्र मृल्याकुर्हस्तो, यो अस्ति भेषजो जलाषः।
अपभर्ता रपसो देव्यस्याभी नु मा वृषभ चक्षमीथाः॥
—ऋग्वेद २।३३।७।

४. शु० य० वे० १६।५१।

५. वही, १६।२१।

६. महीधर भाष्य के अनुसार 'कवच' और 'वर्म' में अन्तर है। लोहे का बना शरीर रक्षक 'वर्म' कहलाता था। कपास भर कर कपड़े का सिला शरीर रक्षक वस्त्र विशेष कवच कहलाता था। कवच के ऊपर 'वर्म' पहिना जाता था। यथा—

पटस्यूतं कार्पासगर्भं देहरक्षकं कवचम्।
लोहमयं शरीर रक्षकम् वर्म॥
—शु० य० वे० १५।३५ पर महीधर भाष्य।

७. शु० य० वे०, वा० सं० १६।१।६६।६,१०।

८. एष ते रुद्र भागः सहस्वस्राम्बिकया तं जुषस्वस्वाहा
एष ते रुद्रभागऽआरवुरते पशुः। —शु० य० वे० ३।५७ से ६३।

अनुसार 'रुद्र' की ग्रीवा नीली है, वे नीलकण्ठ हैं, सहस्रनेत्र हैं[1] तथा मेघस्वरूप हैं। वे वल्कल धारण करते हैं, वृषभ पर बैठने वाले लोहितवर्ण विश्वकर्मा भी हैं।

अथर्ववेद में रुद्र का स्वरूप और भी स्पष्ट हो गया है। इनके मुख, चक्षु, त्वक्, अंग, उदर, जिह्वा तथा दांतों का वर्णन भी इसमें किया गया है। इनके सहस्रनेत्र और नीली गर्दन का भी उल्लेख मिलता है।[2] इनके सिर पर जटाजूट का वर्णन मिलता है तथा साथ ही व्युक्त केश भी कहे गये हैं। इनके केशों का रंग लाल और नीला है तथा शरीर का रंग बबुलीश (कपिल) है और अंतरिक्ष में निवास[3] करते हैं। इनका मयूरपिच्छ से विभूषित स्वर्णमय धनुष सैकड़ों वाणों से सुशोभित हैं।[4]

उपनिषदों में 'रुद्र' के स्वरूप का वर्णन मिलता है। इनमें रुद्र को समस्त मुखों वाला, समस्त सिरोंवाला, समस्त ग्रीवावोंवाला, समस्त जीवों के अन्तःकरण में स्थित, सर्वव्यापी, सर्वगत् और मंगलकारी-रूप में वर्णित किया गया है।[5] अग्नि, सूर्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, प्रजापति आदि नामों से उनके रूप का भी इंगित मिलता है।[6]

---

१. नमोऽस्तु नीलग्रीवाय सहस्राक्षय मीढुषे।
—शु० य० वे०, वा० सं० १६।१।६६।८।

२. मुखाय ते पशुपते यानि चक्षंषि ते भव।
त्वचे रूपाय क्षुंशे प्रतीचीनाय ते नमः॥
अस्त्रा नीलशिखण्डेन सहस्राक्षेण वाजिना।
रुद्रेणार्थकघातिना तेन मा समरामहि॥
—अ० वे० ११।२।५,७।

३. पुरस्तात् ते नमः कृण्म उतरादपरादुत।
अभीवर्गात दिवस्यर्यन्तरिक्षाय ते नमः। —अथ० वे० ११।२।४।

४. धनुर्विभर्षि हरितं हिरण्ययं सहस्रघ्नि शतवधं शिखण्डिनम्।
रुद्रस्येषुश्चरति देवहेतिस्तस्यै नमो यतमस्यां दिशीतः।
—अथ० वे० ११।२।१२।

५. सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः।
सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात्सर्वगतः शिवः॥ —श्वे० उप० ३।११।

६. मैत्रायणी उपनिषद् ५।८।

वैदिक साहित्य की तरह उत्तर वैदिक साहित्य में भी इनके रूप के विकास क्रम का पता चलता है। इस काल में इनके रूप का विकास अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया था। बौधायन धर्म सूत्र में रुद्र की पत्नी, पुत्र और पार्षदों का भी उल्लेख मिलता है।[1]

उत्तर वैदिक काल से रूप

यह तो अन्यत्र कहा ही जा चुका है कि हमें शिव के दो रूपों के दर्शन होते हैं— रुद्र रूप तथा शिव रूप। जिस प्रकार शिव का रुद्र रूप वेदों में प्रधान रहा उसी प्रकार उत्तरवैदिक काल में रुद्र का शिव रूप प्रधान हो गया। रुद्र और शिव दोनों ही भक्तों की सम्पति हैं, किन्तु रुद्र बहुधा अनिष्टदेव के रूप में ही सामने आये हैं जबकि शिव का स्वरूप इष्ट देव का ही रहा है। भक्त लोग शिव के प्रायः सगुण रूप में ही दर्शन करते हैं। सगुण शिव का एक परिवार है। वे उसी में रहते हैं। वे शिवा से कभी विलग नहीं होते। यहां तक कि उनका आधा शरीर ही शिवा है। इसीलिए वे अर्धनारीश्वर भी हैं।[2] उनके एक पुत्र देवसेनापति और दूसरे देवों में अग्रपूज्य हैं। परिवार के सभी लोगों की विशेषताएं हैं। शिव पंचानन [3] भी कहे जाते हैं पर पुत्र एक और कदम आगे बढ़ कर षडानन हो गये हैं[4] और गणेशजी केवल गजानन ही नहीं, लम्बोदर भी हैं।[5] पत्नी शिवा पर्वत की पुत्री, न जाने कितने अवतार और रूप धारण करने वाली हैं। सबके वाहन भी अपने अपने हैं। शिवजी का वाहन वृषभ है। कभी कभी तो शिवा, शिव के साथ वृषभासीन दिखाई पड़ती हैं। ऐसी बात नहीं है कि शिवा का अपना कोई वाहन नहीं है। वह अपने दैवी रूप में सिंहवाहिनी हैं। उस समय वह अष्टभुजा धारिणी भी हैं। इसी प्रकार स्वामी कार्तिकेय का वाहन मयूर है। इन वाहनों की इतनी विशेषता नहीं जितनी लम्बोदर गजानन के वाहन की है। मूषक पर आसीन होकर जब

---

१. बौ० ध० सू० २।५।६।

२. अर्धनारीशरीराय अव्यक्ताय नमोनमः।

—लिंग पु० १।१८।३०।

३. न्यसेत् सिंहासने देव शुक्लं पंचमुखं विभुम्।
दशाबाहुं न खण्डेन्दुं दधानं दक्षिणैः करैः॥

—अग्नि० पु० ७४।५०।

४. अग्नि पुराण १।१०८।२८-३०।

५. वही, ३१२।४, ३१७।१६।

गणनायक निकलते हैं तो देव समाज में उपहास्य होने के स्थान पर वे पूज्य ही दृष्टिगोचर होते हैं। शिव कैलास पर निवास करते हैं। वे त्रिनेत्र हैं। उनके तीसरे नेत्र की ज्वाला से ही मदन[1] दग्ध होता है। गंगावतरण[2] उनकी जटाओं की सघनता एवं विस्तृति सामने ला देती है। जो शिव शशि भूषण हैं वही शिव अहि भूषण भी हैं। जो अवढ़रदानी और शंकर हैं, वही प्रलयंकर और भयंकर भी हैं, जो अपने सौम्य रूप में मोहक हैं वही अपने रुद्र रूप में भयंकर भी हैं।

सौम्य और भयंकर ये दोनों रूप पुराणों ने[3] वड़े विस्तार से वर्णित किये हैं। लास्यमुद्रा में वे वड़े आकर्षक हो जाते हैं और ताण्डव नृत्य से दिग्गजों तक को प्रकम्पित करते हैं। उनका रुद्र रूप दुष्टों के लिए है और शिव रूप अपने उपासकों के लिए। संस्कृत साहित्य पर पौराणिक शिव रूप का बड़ा गहन प्रभाव पड़ा है। इनके दोनों रूपों से साहित्य ने तो अपने को पल्लवित पुष्पित किया ही है साथ ही उससे अनेक लोक कथाएं भी विकसित हो गई हैं। शिव पार्वती और उनके परिवार को लेकर न जाने कितनी कहानियां दादी नानी के मुख से विकसित हुई हैं। उन सभी में रुद्र या शिव के प्राचीनतम रूप सुरक्षित हैं।

वैदिक काल में गुण

शिव के नाम और रूप से उनके गुणों को अलग नहीं किया जा सकता। वैदिक रुद्र रूप में भयंकरता भी थी और सौम्यता भी थी। ऋग्वेद ने तो उन्हें वहुधा अभिष्ट देव के गुणों से ही अनुपेत किया है। अन्य वेदों अथवा उत्तरवैदिक साहित्य ने भी उनके रौद्र रूप को चित्रित किया है किन्तु रामायण–महाभारत काल में शिव रूप ही प्रधान हो गया है। उससे शिव संबंधित गुणों का अधिक विकास हुआ है।

वेदों ने रुद्र के बलवान, दृढ़, अजेय, अक्षेय शक्तिवाले, रूप का वर्णन करके उनके पोषक और हन्ता रूप का एक ही साथ समावेश कर दिया है।

---

१. वा० रा०,बा० का० स० २३।१०।
२. (१) वही ४३।२-११।
   (२) महा० भा०, वन० पर्व० ८५।२२-२५।
३. (क) 'विश्वरूपाय करालाय विकृतरूपाय'।
   —अग्नि पुराण २३३।१३।
   (ख) ब्रह्म पुराण, अध्याय ३५।३७।

ऋगेत्तर वेदों में रुद्र के सौम्य गुण स्पष्ट होने लगे । ये प्रलयंकर होने के अतिरिक्त कल्याणकारी, शान्त एवं मुक्तिदाता के गुणों से उपेट भी हो गये । मंत्रोपदेष्टा कह कर यजुर्वेद और अथर्ववेद ने 'ब्रह्म' को महत्व देकर शिव के गुणों को सुरक्षित रखते हुए भी उन्हें 'ब्रह्म' का प्रतीक बना दिया ।[1]

उपनिषदों ने शिव[2] और ब्रह्म में अभेद स्थापित करने का अतुल प्रयत्न किया है, किन्तु उत्तरवैदिक काल में शिव अपने सगुण रूप में ही व्यक्त हुए हैं । इसका एक विशेष कारण उपासना पद्धति का विकास रहा है । रुद्र को सूत्रग्रन्थों ने व्याधिहर्ता, पालक और रक्षक के गुणों से युक्त बतलाकर[3] उनको शिवत्व प्रदान किया । तन्त्रों में तो रुद्र स्पष्टतः शिव रूप में परिणत हो गये । उपनिषदों की अभेद दृष्टि में दृष्टि डाल कर तंत्रों ने शिव को परब्रह्म निष्कल्प, सर्वज्ञ, सर्वकर्ता, सर्वेश, निर्मलाशय ज्योतिस्वरूप, निर्गुण, निर्विकार, सच्चिदानन्द आदि अनेक गुणों ने आपूर्ण कर दिया ।[4]

आराध्य या उपास्य के रूप में शिव के गुणों का विस्तार ही होता चला गया । अपने भक्तों या उपासकों के लिए ये विषप, गंगाधर आदि भी बन गये । इस प्रकार के अनेक गुणों का विकास होता रहा और भक्तों ने अपनी तरल भावना की तरंगों में शिव को 'बहुगुणी' बना दिया । जिस प्रकार रुद्र नाम शिव में विलीन होता गया उसी प्रकार रुद्र के गुण भी शिव के गुणों में विलीन या समाविष्ट होते गये ।

---

१. (क) नमो रुद्राय हरये ब्रह्मणे परमात्मने ।
प्रधानपुरुषेशाय सर्गस्थित्यन्तकारिणे ।।
—लिंग पुराण १।१।१ ।

(ख) देवेषु च महान् देवो महादेवस्ततः स्मृतः ।
सर्वेशत्वाच्च लोकानामवश्यत्वात् तथेश्वरः ।।
—वायु पु० ५।३८ ।

(ग) त्वामेकमाहुः पुरुषं पुराणन् आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्
—सौर पुराण २६।३१ ।

२. (क) एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य
इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः । —श्वे० उ० ३।२ ।

(ख) ततः परं ब्रह्म परं बृहन्तम् । श्वे० उ० ३।७ ।

३. व्याधिप्लाय रुद्राय.............................शां० श्र० सू० ३।४।८ ।

४. कुलार्णव तंत्र १।११-१२ ।

वैदिक काल से पौराणिक काल तक जिस प्रकार शिव के नाम, रूप एवं गुण का विकास होता गया उसी प्रकार उपासना पद्धति में भी विकास हुआ ।

वेदों के 'रुद्र' की उपासना भावमयी थी । वहां केवल प्रार्थनाओं द्वारा ही इनकी उपासना की जाती थी परन्तु ब्राह्मणकाल में इन्हें अपना इष्टदेव मान कर यज्ञ भाग भी दिया जाने का विधान मिलता है ।[1] कौशीतकी ब्राह्मण में वे भव और शर्व नाम से अलग देव भी माने जाने लगे और इनकी मूर्तियां भी बनने लगीं ।[2] लाटायन् श्रॉत सूत्र के त्र्यम्बक सोम प्रसंग में विधान है कि यज्ञ के बाद खड़े होकर उपस्थान करना चाहिए और यज्ञ में रुद्र भाग अवश्य कल्पित होना चाहिए ।[3] बौधायन धर्मसूत्र में तो स्पष्ट उल्लेख है कि "मैं भव देव को तृप्त करता हूँ, उग्र, रुद्र, भीम महान् को भी तृप्त करता हूँ तथा उनकी पत्नी, सुत तथा पार्षदों को भी तृप्त करता हूँ । वे हमारे प्राण हैं, हम उनके लिए हवन करें और वे हमारी रक्षा करें ।[4] मानव गृह्य सूत्र में उल्लेख है कि अमंगल को दूर करने के लिए 'रुद्र' का जाप करना चाहिये और उनके निवास का भी ध्यान करना चाहिए ।[5]

उत्तरवैदिक काल में उपासना विधि का और भी विकास हुआ । इनमें शिव के विभिन्न रूपों की अनेक विधि से पूजा का विधान है । पुराणों में शिव के साथ उनकी पत्नी, पुत्रों व गणों आदि की पूजा का[6] निरूपण भी मिलता है । यहीं से उपासना विधियों में बहुरूपता आगई । तन्त्रों में शिव उपासना विधि का विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है । इनमें शिव व शिवा के निमित्त करने

---

१. (क) तैत्तिरीय ब्राह्मण—१।६।१० ।
   (ख) शतपथ ब्राह्मण १-७।३।१-८ ।
२. कौ० ब्रा० ४।४ ।
३. लाटयायन श्रौत सूत्र ५।३ ।
४. ओं भवं देवं तर्पयामि । ओं शिवं देवं तर्पयामि
   ओम ई शानं, ओं पशुपतिं —बौ० धर्म० सू० २।५।६ ।
५. अमंगल्यं येद् अतिक्रानति अमुनायन्त्विति जयति....
   —मा० गृ० सू० १।१३।६-१४ ।
६. अग्नि पुराण—३२२ ।

योग्य विभिन्न पूजा विधियों का विधान है ।[1] महानिर्वाण तन्त्र में शिव के साथ पार्वती की उपासना का भी विधान उपलब्ध होता है ।[2] इसी काल में कोल उपासना पद्धति का भी प्रचार शुरु हो गया था ।

इस प्रकार वेदों की भावमयी उपासना धीरे धीरे विकसित हो कर मूर्ति पूजा में परिणत हो गई । वही रूप आज भी उपलब्ध होता है ।

शिव सम्बन्धी प्रमुख कथाएं

कथा विकास

वैदिक साहित्य में रुद्र के निर्गुण, निराकार स्वरूप की प्रतिष्ठा थी और वैदिक कवियों ने उनके इसी रूप की आराधना की, किन्तु उत्तर वैदिक साहित्य में रुद्र शिव में परिणत हो गए और उनकी निर्गुण उपासना के साथ सगुण एवं साकार उपासना भी आरम्भ हो गयी । वैदिक रुद्र की पत्नी, रुद्र के पुत्र तथा रुद्र के पार्षदों सम्बन्धी कथाएँ भी उत्तर वैदिक साहित्य में चित्रित होने लगीं ।

रामायण, महाभारत तथा पुराणों में शिव और उनके परिवार तथा उनसे सम्बद्ध अनेक प्रमुख तथा अप्रमुख कथाएँ भी प्राप्त होती हैं । शिव और सती की कथा इसी क्रम की प्रमुख कड़ी है । इसका उल्लेख रामायण, महाभारत,[3] ब्रह्मपुराण,[4] ब्रह्माण्ड पुराण,[5] मत्स्य पुराण,[6] लिंग पुराण,[7] वराह पुराण,[8] सौर पुराण[9] तथा शिव पुराण[10] आदि में मिलता है । कथा का

---

१. आधानशेष जननीमरविन्दयोने विष्णोः शिवस्य च
वपुः प्रतिपादयित्री । सृष्टि स्थितिक्षयकरी जगतां
त्रयाणाम् । स्तुत्वा गिरं विमलयाम्यहमम्बिके त्वाम् ।

— काली तंत्र ५।२।२ ।

२. त्वं परा प्रकृतिः साक्षात् ब्रह्मणः परमात्मनः ।
त्वतो जातं जगत्सर्वं त्वं जगज्जननी शिवे ।।

— महा० नि० तं० ४।१० ।

३. महा० भा० सौप्तिक पर्व, १८।१-२३ ।

४. ब्रह्मपुराण, ३४।१-३५ ।

५. ब्रह्माण्ड पुराण, २।१३।४५ ।

६. म० पु० ७२।११ ।

७. लिंग पुराण, १।९९।१३-५० ।

८. व० पु० २१।४-६६ ।

९. सौ० पु० ७।१०-३४ ।

१०. शि० पु०, रुद्र सं०, अध्याय १२, १४, १५, १६, १७।

आधार, उसके विकास का क्रम प्रायः सर्वत्र समान है ।

शिव पुराण में कहा गया है कि प्रजापति दक्ष ने क्षीर सागर के उत्तर तट पर, जगदम्बिका शिवा को पुत्री रूप में प्राप्त करने की इच्छा तथा उनके प्रत्यक्ष दर्शन की लालसा से, तपस्या की। उनकी निरन्तर साधना से प्रसन्न होकर शिवा ने दर्शन दिए और दक्ष की इच्छा पूर्ण करने का वचन दिया। कालान्तर में राजा दक्ष के यहाँ पुत्री उत्पन्न हुई जो सती के नाम से प्रसिद्ध हुई। सती का विवाह शिव से सम्पन्न हुआ। वस्तुतः शिवा शिव की अनन्य शक्ति हैं, सदैव अविनाभाव से उनके साथ ही निवास करती हैं। परब्रह्म शिव की इन कथाओं में उनके अनन्य सम्बन्ध की सर्वत्र सुरक्षा हुई है।

दक्ष कथा

सती से सम्बद्ध सती त्याग[1] और दक्ष यज्ञ विध्वंस की कथाएँ साहित्य के आकर्षण केन्द्र हैं। रामायण की कथा के अनुसार राम के चरणों में शिव की अनन्य भक्ति देख कर, सती को विस्मय हुआ तथा उन्होंने शिव से इसका कारण पूछा। भगवान शिव ने राम के परब्रह्म स्वरूप का वर्णन किया, किन्तु सती का विस्मय दूर नहीं हुआ और उन्होंने राम की परीक्षा लेनी चाही। अतः शिव से स्वीकृति लेकर, वे सीता का रूप धारण कर, राम की परीक्षा लेने गयीं। इस वेष में राम की परीक्षा लेने के कारण शिव ने उनका मानसिक त्याग कर दिया।

सती त्याग

सती के इस मानसिक त्याग के प्रसंग में ही दक्ष-यज्ञ-विध्वंस[2] की कथा भी आती है। सती अनामंत्रित ही दक्ष के यज्ञ में गयीं, वहाँ शिव का अनादर देख कर उनका हृदय विक्षुब्ध हो उठा और क्रोध के कारण वे यज्ञस्थल में ही योगाग्नि से भस्म हो गयीं। इस

दक्ष-यज्ञ-विध्वंस

---

१. (क) रुद्र संहिता, शिव पुराण, अध्याय २४, २५, २७।
(ख) मत्स्य पुराण, १३।१२, १८, १९।
(ग) वराह पुराण, २२।१,२।

२. (क) महाभारत, सौ० प० १८।१-२३।
(ख) वही, अनु० प० १५०।२५-३१।
(ग) वा० पु० ३०।४०, २८१।
(घ) म० पु० १३।१२, १८, १९।
(च) ब्र० पु० ३९।३१, ४०।५, ८, १८।
(छ) शि० पु० अ० ४१, ४२।
(ज) वराह पुराण-२२।१,२।

पर वीर-भद्र तथा शिव के अन्य गणों ने दक्ष यज्ञ को विध्वंस कर डाला तथा यज्ञ में आए हुए ऋषियों और देवताओं का संहार आरम्भ कर दिया। इस दुर्दशा को देख कर अन्य ऋषियों ने शिव की स्तुति की, शिव ने स्तुति से प्रसन्न होकर, यज्ञ भूमि में उन्हें दर्शन दिये। शिव ने प्रजापति के धड़ में यज्ञ-पशु—बकरे का सिर जोड़, उनको नव जीवन दिया तथा इसी प्रकार अन्य ऋषियों और देवताओं को भी पुनर्जीवित किया।

पार्वती विवाह तथा मदन दहन

शिव के सम्बन्ध से एक और प्रसिद्ध कथा पार्वती की[1] कथा है। शिव भक्तों के अनुसार शिव की शक्ति, दक्ष की पुत्री सती, जो दक्ष-यज्ञ भूमि में भस्म हुई, वे ही राजा हिमवान् के यहां अवतरित हो कर पार्वती कहलायीं। पार्वती के जन्म, शिव को प्राप्त करने के लिए उनकी तपस्या, तथा पार्वती विवाह आदि प्रसंगों के आधार पर अनेक संस्कृत और हिन्दी ग्रन्थों का सृजन हुआ। इस कथा के विकास का श्रेय भी रामायण, महाभारत और पुराणों को है। शिव विवाह के प्रसंग में ही 'मदन दहन'[2] की कथा आती है। सती के भस्म होने पर, शिव कैलाश पर्वत पर जाकर तपस्या करने लगे। इसी बीच तारकासुर के वध के लिए देवताओं को सेनापति की आवश्यकता हुई। शिव से उत्पन्न, उनके पुत्र ही इस कार्य को कर सकते थे। अतः देवताओं ने शिव को, पार्वती से विवाह के लिए प्रेरित करने का कार्य 'मदन' को सौंपा। 'मदन' शिव के क्रोध का पात्र बने। शिव ने अपने तीसरे नेत्र से मदन का दहन किया।

---

१. (क) ब्रह्माण्ड पुराण-३।६७।३५।
 (ख) लिंग पुराण-१।१०२।१-६२।
 (ग) शि पु० अ० २२, २३, २४, २८, २६, ३१, ३२, ३३।
 (घ) रामायण·आ० कां० ३६।५-२६।
 (च) महाभारत, वन पर्व-१८३।५-५६, १८८।८-५०।
 (छ) वही, शल्य पर्व-४४।६-३७।
 (ज) वा० पु०-७२।२०-२६।
 (झ) वराह पुराण-२३।७, २३।१३-२८।
 (ञ) वही, २५, ३२, ३३, ३४।

२. (क) रामायण-बा० का० २३।१०।
 (ख) महाभारत, अनु० प०-११२।२६-३४।
 (ग) ब्र० पु० ७१।३६, ७१।४०, ४१, ४२।
 (घ) लिं० पु० १।१०१।१६-४३।

शिव का यह त्रिनेत्र स्वरूप वेदों में भी प्रतिपादित है, त्रिनेत्र स्वरूप से ही 'मदन' की कथा का विकास हुआ है।

शिव नीलकण्ठ हैं, उनके इस नीलकण्ठ विशेषण से ही सागर मंथन और विषपान की कथा का प्रतिपादन हुआ है।[1]

शिव द्वारा विष पान उत्तर-वैदिक-साहित्य की मान्यता के अनुसार शिव विषपान करने के ही कारण नीलकण्ठ कहलाये हैं। इस प्रकार उत्तर वैदिक साहित्य में, शिव के वैदिक विशेषणों के आधार पर ही, कथाओं का विकास हुआ। इन कथाओं में शिव के गुणों के विकास की परम्परा भी अक्षुण्ण है, शिव त्रिगुणातीत भी हैं त्रिगुणाश्रय भी। वे अपने भक्तों के लिए गुणों से युक्त होकर साकार होते हैं और उन पर अनेक प्रकार से अनुग्रह भी करते हैं। उत्तर वैदिक साहित्य में, उनके पारिवारिक जीवन से सम्वन्धित सती तथा पार्वती की कथा के समान ही, उनके उदार चरित्र को अभिव्यक्त करने वाले भी अनेक प्रसंग प्राप्त होते हैं।

इनमें कुबेर की मैत्री[2] की कथा प्रसिद्ध है। काम्पिल्य नगर के राजा यज्ञदत्त के पुत्र का नाम गुणनिधि था। गुणनिधि को,

कुबेर मैत्री कथा उसके दुश्चरित्र के कारण, पिता ने घर से निकाल दिया। घर से निकलकर गुणनिधि शिव मन्दिर में नैवेद्य चुराने के लिए गया। वहां उसने अपने वस्त्र को जलाकर प्रकाश किया। मन्दिर में चोरी करने के कारण वह पकड़ा गया। चोरी की सजा में उसे प्राणदण्ड मिला। शिव मन्दिर में वस्त्र जला कर प्रकाश करने के कारण, भगवान शिव उससे प्रसन्न थे। अतः प्राण दण्ड के उपरान्त उसे शिवलोक प्राप्त हुआ। यही गुण-निधि कालान्तर में कलिंगराज 'दम' बना। इस जीवन में भी उसने शिव की अनन्य भक्ति की, शिवालयों में दीप जलवाये। भक्ति के फलस्वरूप उसे दिक्पाल पद प्राप्त हुआ। ये ही गुणनिधि, ब्रह्मा के मानस पुत्र 'विश्रवा' के यहां 'वैश्रवण' नाम से उत्पन्न हुए। इन्होंने शिव लिंग की प्रतिष्ठा कर दुष्कर तपस्या की।

---

१. (क) रामायण–बा० का० ४५।१८-२६।
(ख) महाभारत, ब० प०–१३।२२-२६।
(ग) वा० पु० ५४।४८, ५८, ६७।
(घ) ब्रह्माण्ड पुराण २।२५।६०।
(च) शि० पु०–अ० १८, १९।

२. (क) शिव पुराण–अ० २०।
(ख) ब्रह्म पु०–३९।४९।

कठोर तपस्या से इनके शरीर में अस्थि और चर्म मात्र ही अवशिष्ट रह गए। उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर शिव और पार्वती ने दर्शन दिए। भगवान शंकर के तेज से उसकी आंखें चौंधिया गयी, शंकर की कृपा से वह पुनः नेत्र ज्योति प्राप्त कर सका। यज्ञदत्त के पुत्र, गुणनिधि की, वामा की ओर घूर घूर कर देखने के कारण, बायीं आंख फूट गयी। गुणनिधि के इस चरित्र से पार्वती को बड़ा क्रोध आया। शिव के अनुरोध से उमा ने शान्त होकर उस कुबेर को पुत्र रूप में स्वीकार किया और कहा कि तुम्हारी एक आंख तो फूट ही गयी है, अतः एक ही पिंगल नेत्र से युक्त रहो, मेरे रूप से ईर्ष्या होने के कारण तुम्हारा नाम 'कुबेर' होगा। शिव और पार्वती की अनुकम्पा से, भगवान शिव के चरणों में अनन्य भक्ति के साथ गुणनिधि ने कुबेर पद प्राप्त किया। भगवान शिव आशुतोष हैं, उनकी कृपा से भक्त सदैव आनन्द प्राप्त करते हैं।

दधीच कथा

मुनि दधीच की प्रसिद्ध पौराणिक कथा है। मुनि श्रेष्ठ दधीचि ने दीर्घ काल तक महामृत्युंजय का जप तथा तपस्या कर उदार एवं भक्तवत्सल शिव से तीन वर प्राप्त किए—"मेरी हड्डी वज्र हो जाय, मेरा कोई वध न कर सके तथा मैं सदैव अदीन रहूँ।" शिव कल्याणकर हैं, असुरों का संहार करने वाले हैं। शिव द्वारा "त्रिपुर दाह"[1] की कथा का उल्लेख महाभारत एवं अनेक पुराणों में मिलता है।

दैत्यों के त्रिपुर का दाह

यह कथा शिवपुराण में विस्तार के साथ दी गयी है। 'त्रिपुरवासी' दैत्यों से संतप्त होकर देवताओं ने, शिव से दैत्यों के वध के लिए विनय की। शिव ने देवताओं की प्रार्थना स्वीकार कर, दैत्यों के त्रिपुर को नष्ट करने के लिए देवताओं को दिव्य रथ, सारथि, धनुष, उत्तम बाण आदि तैयार करने का आदेश दिया। सारथि, धनुष, उत्तम बाण आदि से युक्त हो, मुंजकेश-विरूपाक्ष-शिव ने 'त्रिपुरदाह' के लिए पहले गणेश का स्तवन किया। जिससे उन्हें तारक पुत्र महामनस्वी दैत्यों के तीनों नगर संयुक्त रूप से आकाश में स्थित दीख पड़े। शिव ने, अभिजित मुहूर्त्त में पाशुपतास्त्र नामक जाज्वल्यमान शीघ्रगामी बाण से, त्रिपुर निवासी दैत्यों को दग्ध कर दिया। इन तीनों पुरों का वध करने के कारण ही शिव "त्रिपुरारी" कहलाये। 'त्रिपुरारी' शब्द उनके नाम

---

१. (क) महाभारत—कर्ण पर्व २४।५८—७३, २५।१७—२५।
(ख) म० पु० १३१।१३, १८८।५७।
(ग) लिंग पुराण—१।७२।१।
(घ) शि० पु०—रुद्र संहिता-अ० ६-१०।

का ही पर्यायी बन गया। इस शब्द का प्रयोग इनकी स्तुतियों में अनेक बार हुआ है।

शिव के नाम, रूप, गुण, और उपासना का प्रतिपादन करने वाली इन कथाओं का निरन्तर विकास होता रहा है। ये कथाएँ मध्यकालीन साहित्य की अनुपम निधि हैं। लोक साहित्य में भी इनका सुविस्तृत और आकर्षक रूप देखने में आता है। इस प्रकार ये कथाएँ पौराणिक काल से ही साहित्य की वृद्धि में योग देती रही हैं। भक्ति रस से परिपूर्ण इन कथाओं का आध्यात्मिक रूप अधिक मान्य है।

शैव

पूर्वोक्त शिव एवं शिव से सम्वन्धित कथाओं से स्पष्ट है कि वैदिक एवं उत्तर वैदिक काल में शैवों की प्रचुरता रही है तथा शिव एवं उनके परिवार के अनन्य भक्त भी हो-गये हैं। शिव भक्त ही शैव कहलाते हैं।

'शैव' शब्द की व्युत्पति शिव में 'अण' प्रत्यय लगने से मानी गयी है। 'शैव' शब्द से "शिवस्यइदम् शैवम्"[1] तथा "शिवस्य यम् शैवः" अर्थात् शिव सम्वन्धी वस्तु, तथा शिव का भक्त और उपासक, अर्थ लिया जाता है। शैव शब्द विशेषण है जो अपने विशेष्य के साथ शिवपरकता व्यक्त करता है। शिव की उपासना करने वाले, शिव तत्व को समझने वाले, शिव से प्रेम रखने वाले, शिव की स्तुति करने वाले, शिव की पूजा करने वाले सभी शैव कोटि में रखे जा सकते हैं। वैदिक कालीन 'रुद्र' के उपासकों को एकदम शैव कहना तो उचित नहीं है किन्तु उनको अशैव कहना भी एक समस्या है।

पुराणकाल में शैवों का प्रावल्य हो चला था। इसी कारण शिव, वामन, स्कन्द आदि पुराणों के आधार पर शैवों के स्वरूप का विवेचन किया जाता है। शिवपुराण में शिव को ही परतत्व माना गया है। शिव पुराण में जहां सदाशिव के चतुर्व्यूह का उल्लेख है वहाँ ब्रह्म, कालरुद्र और विष्णु को शैव माना गया है।[2] शिव पुराण के एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि शक्ति और शक्तिमान से प्रकट होने के कारण यह सारा जगत् शाक्त और शैव है।

कुमार सम्भव के प्रणेता महाकवि कालिदास स्वयं परम शैव थे। उनके कुमार सम्भव में प्रथम सर्ग से लेकर सप्तदश सर्ग पर्यन्त शिव चरित रसात्मक शैली में वर्णित है। द्वितीय सर्ग में इन्द्रादि देव ब्रह्म-साक्षात्कार करते हैं, तब

---

१. तस्येदम्–पाणिनिसूत्र–१।

२. शिव पुराण, वा० स०, पूर्वखण्ड–अध्याय १० श्लोक ६-१०।

परम शैव ब्रह्मा ने उन्हें शैव सिद्धान्त का ही ज्ञान कराया और शिवाराधना का प्रशस्त मार्ग निर्दिष्ट किया और कुमार जन्म की पावन कथा का अविर्भाव हुआ।[१]

दण्डी के दशकुमार[२] चरित नामक ग्रन्थ में शेष साधुओं का उल्लेख मिलता है। शैव साधुओं का उल्लेख आनन्दगिरि ने अपने शंकर विजय[3] नामक ग्रन्थ में भी किया है। इसी प्रकार संस्कृत साहित्य में शैव साधुओं का उल्लेख मिलता आ रहा है। प्रबोध चन्द्रोदय नामक नाटक में शैव, शाक्त, कापालिकों का संकेत किया गया है।[४] रामानुजाचार्य के श्रीभाष्य में कालमुख और कापालिक नामक शैव सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है। उन्होंने कालमुख साधुओं का वर्णन करते हुए, शैवमत के उक्त सम्प्रदाय में प्रचलित कई प्रकार के आचरणों का उल्लेख किया है। कापालिक सम्प्रदाय का कालमुख सम्प्रदाय से केवल साधना सम्बन्धी भेद ही नहीं था वरन् उन दोनों की वेषभूषा में भी अन्तर होता था।[५] श्री रानानुजाचार्य का कथन है कि कालमुख सम्प्रदाय के अनुयायी त्रिपुण्ड में कालाअंश रखते थे और कापालिकों का त्रिपुण्ड केवल लाल ही होता था। वे कपालों की माला अवश्य पहिनते थे। इस कापालिक सम्प्रदाय से ही गोरख का नाथ पंथ निकला।

यह नाथ परम्परा या कनफटी परम्परा अत्यन्त प्राचीन है और इसका सम्वन्ध पाशुपत लाकुलीश मत से जोड़ा जाता है। गोरखनाथ ने योगमार्ग को एक व्यवस्थित रूप दिया। गोरखनाथ से पूर्व की अनेक शैव धाराएं इसमें समन्वित हो गईं।[६] गोरखनाथ ने आसाम से पेशावर के आगे तक तथा कश्मीर व नेपाल से महाराष्ट्र तक की यात्राएं करके अपने मत का प्रचार किया और अनेक केन्द्र स्थापित किये। जिससे भिन्न भिन्न शाखाएं चल निकली। इनमें से कम से कम बारह आज भी प्रसिद्ध हैं,[७] जो वस्तुतः अशैव नहीं हैं।

---

१. कालिदास-कुमार सम्भव–द्वितीय सर्ग।
२. जनरल आफ दी अमेरिकन औरियंटल सोसायटी, भाग ४४, पृ० २०६–२०७।
३ वही, पृ० २०६–२०७।
४. प्रबोध चन्द्रोदय, ट्रेलर द्वारा अनुदित प्रथम संस्करण, पृ० ३६।
५. वेदान्त सूत्र विद रामानुजस् कमेन्ट्री, पृ० ५२०–२१।
६. डॉ० धर्मवीर भारती, सिद्ध साहित्य, पृ० ३२३।
७. श्री परशुराम चतुर्वेदी, उतरी भारत की सन्त परम्परा, पृ० ५८।

शैवमत : भेदोपभेद

वेदों की उपासना पद्धति पुराणों के आविर्भाव काल में सामान्यतः तीन रूपों में विभक्त पाते हैं — शिवोपासना, वैष्णवोपासना व ब्रह्मोपासना। कहने की आवश्यकता नहीं कि शैव पुराणों में अन्य देवों की अपेक्षा शिव को प्रमुख स्थान प्रदान किया गया किन्तु अन्य पुराणों की भावमयी छाया में भी शिव का एक स्थान सुरक्षित रहा।

शैवमत वेदों ने जिस भावमयी उपासना को जन्म दिया था उसे आगे चलकर 'दर्शन' का सामना करना पड़ा और इसी दार्शनिक वातावरण से शैवमत का भेदीकरण होने लगा। यह पहिले दो भागों में विभक्त हुआ—आगमिक और पाशुपत। आगमिक को शैवागम भी कहते हैं। आगमिक दर्शन को पाशुपत की अपेक्षा वैदिक विचारधारा से अधिक संबंधित माना जाता है। इसके अनेक भेदोपभेद हैं जिनमें शैव सिद्धान्त, प्रतिभिज्ञादर्शन और वीर शैवमत अधिक प्रसिद्ध हैं। पाशुपत मत में कालक्रम से कई अवैदिक तत्व आ जाने के कारण इसे वेदबाह्य बतलाया गया। इसके भी कई भेद हो गये जिनमें पाशुपत या लकुलिश, कापालिक, रसेश्वर, गोरखनाथी आदि प्रमुख हैं।

पाशुपत तांत्रिक शैव मतों में पाशुपत मत सबसे प्राचीन माना गया है। अवान्तर उपनिषद्काल में ही इसका विकास होने लगा था।[1] इसके ऐतिहासिक संस्थापक का नाम लकुलीश या नकुलीश बतलाया जाता है। इनकी मूर्तियां अब भी गुर्जर, राजस्थान, मालवा तथा गौड़ प्रदेश में मिलती हैं, जिनमें वे एक हाथ में लकुटी धारण किये हैं। इन लकुटीश का समय, मथुरा शैव स्तम्भ के शिलालेख के आधार पर डॉ० भण्डारकर ने, द्वितीय शताब्दी का उतरार्द्ध माना है। इसी समय कुशानवंशी हुविष्क की मुद्राओं पर लकुटीश शिव की मूर्तियां मिलती हैं। पशुपति शब्द से ही पाशुपत शब्द व्युत्पन्न हुआ है। पाशुपत दर्शन में जगत् के बन्धन में फंसा हुआ जीव पशु है। यह रूपक बद्ध पशुओं से लिया गया है।[2] इस मत में जगत् को पाश या मल कहा गया है। जीव को मुक्त करने वाले शिव को ही पशुपति कहा गया है। पशुपति से संबंधित शास्त्र पाशुपत कहलाता है। जीवों की बद्धता की भावना

---

१. हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास, प्रथम भाग, सं० राजबली पाण्डेय, पृ० ५१२।

२. हिन्दी की निर्गुण काव्य धारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, डा० गोविन्द त्रिगुणायत, पृ० १८१।

के उदय होने पर शैनमत में पशुपति नाम और अधिक प्रचलित हुआ और दर्शनशास्त्र में पाशुपत दर्शन को अधिक महत्व प्राप्त हुआ।[1] पाशुपत धर्म का वर्णन महाभारत व पुराणों में भी मिलता है।[2]

शैव सिद्धान्त का मत

इस मत का प्रचार एवं प्रसार क्षेत्र-तामिल प्रदेश रहा है। इस मत में भक्ति की अच्छी मान्यता रही है। इसीलिए तामिल में उच्चकोटि के शैव भक्त उत्पन्न हुए थे। इस दर्शन के प्रतिपाद्य तीन तत्व हैं—शिव, शक्ति और विन्दु। शिव संसार के रचियता, शक्ति सहायिका और बिन्दु उपादान माने गये हैं। संतों पर इस दर्शन के दो प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। एक मोक्ष धारणा विषयक और दूसरा विन्दु धारणा सम्वन्धी। इस दर्शन के आचार्यों के अनुसार मोक्ष प्राप्ति के पश्चात मुक्तात्मा को कहीं आना जाना नहीं पड़ता।

वीर शैव

शैवों का एक अन्य मत 'वीर शैव' नाम से प्रसिद्ध है। 'वी' अर्थ 'जीव' तथा शिव एक्य वोधिका विद्या और 'र' का अर्थ रमण करने वाला है। अतः जीव तथा शिव की एकता में रमण करने वाला व्यक्ति 'वीरशैव' कहलाता है। वीर शैवों की प्रधानता बेलगांव, बीजापुर, धारवाल जिलों व मैसूर राज्य आदि में रही है।[3] इसका प्रचार दक्षिण में ताँत्रिक साधना के रूप में अधिक प्रचलित था। इसे लिंगायत सम्प्रदाय या शक्ति विशिष्टाद्वैत से अभिहित किया जाता है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन

प्रत्यभिज्ञा दर्शन शैव दर्शन की अद्वैतवादी शाखा है। यह शाखा काश्मीर में उदित हुई। इस मत के प्रधान आचार्यों में श्री अभिनवगुप्ताचार्य, श्री सोमानन्द व श्री वसुगुप्त आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। इस दर्शन में पति, पशु और पाश तीन पदार्थों का विवेचन हुआ है इस कारण इसे त्रिक् या षड्र्थ दर्शन भी कहते हैं। डा० भण्डारकर के अनुसार इसके दो भेद हैं—स्पन्दशास्त्र और प्रत्यभिज्ञाशास्त्र। स्पन्द-शास्त्र के प्रचारक वसुगुप्त और प्रत्यभिज्ञा शास्त्र

---

१. 'कल्याण', वेदान्त अंक, पाशुपत सिद्धान्त और वेदान्त, डा० राजबली पाण्डेय पृ०, ४४७।
२. हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, डा० गोविन्द त्रिगुणायत, पृ० १८१।
३. दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृ० २८९।

के प्रवर्तक सोमानन्द हैं। पं० गोपीनाथ कविराज के अनुसार यह विभाजन ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ तंत्रों में सत्य होने पर भी भ्रान्ति मूलक है।[१]

कालामुख, कापालिक आदि

उपर्युक्त प्रसिद्ध शैव मतों के अतिरिक्त रसेश्वर, कालामुख, कापालिक सम्प्रदायों की प्रसिद्धि है। मध्य युग में इनका भी अच्छा प्रचार था। कापालिक सम्प्रदाय से ही आगे चल कर गोरखनाथी पंथ निकला जिसका प्रचार समस्त भारत में हुआ। हिन्दी के निर्गुण कवियों का इस सम्प्रदाय से सीधा सम्बन्ध है। इस पंथ के अनुयायी योगी, कनफटा, दर्शनी, गोरखपंथी आदि विविध नामों से प्रसिद्ध हैं।

इस प्रकार शैवमत एक विशिष्ट मत न रह कर विभिन्न मतों में विभाजित होता गया और आज भी इनकी शाखाएँ फैलती जा रही हैं। परन्तु इनकी दार्शनिक पृष्ठभूमि अद्वैत, द्वैत व विशिष्टाद्वैत पर ही आधारित हैं।

शैव साहित्य

शिव की उपासना वैदिक काल से ही प्रचलित है। इस सम्बन्ध में शतरुद्रीय अध्याय की पर्याप्त प्रसिद्धि है।[२] तैत्तिरीय आरण्यक में समस्त जगत् रुद्र रूप वतलाया गया है।[३] कौशीतकी ब्राह्मण[४] में भगवान् रुद्र की उत्पत्ति का वर्णन है। भगवान् शिव सर्वानन् शिरोग्रीव, सर्वभूत गुहाशय, सर्वव्यापी तथा सर्वगत माने गए हैं।[५] अथर्वशिरस उपनिषद् में पाशुपतव्रत, पशु, पाश आदि तंत्र के पारिभाषिक शव्दों की उपलब्धि सर्वप्रथम होती है।[६] वाजसमेयी संहिता में अम्विका और शिवा, जैमिनी ब्राह्मण में "ब्रह्मविद्यास्वरूपिणी" "उमा", हेमवती और तैत्तिरीय आरण्यक में "कन्या कुमारी", "कात्यायनी", दुर्गा आदि की चर्चा है। इस प्रकार प्रायः सारा प्राच्य साहित्य भगवान् भवानी शंकर के यशोकीर्तन से देदीप्यमान है। रामायण तथा महाभारत में भी शैव मतों का वर्णन है। वामन पुराण में शैवों के चार विभिन्न सम्प्रदाय वतलाये गए हैं — शैव,

---

१. कल्याण, शिवांक, काश्मीरीय शैव दर्शन के सम्बन्ध में कुछ बातें, पं० गोपीनाथ कविराज—पृ० ८१।
२. भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, पृ० ५७०।
३. तैतिरीय आरण्यक १०।१६।
४. कौशीतकी ६।१।
५. श्वेताश्वर उपनिषद् ३।११।
६. ब्र० सू० २।२।३७ का भाष्य।

पांशुपत, काल दमन तथा कापालिक।[1] शंकराचार्य ने माहेश्वरों तथा उनके पंच पदार्थों का उल्लेख किया है।

शैवमत के जितने अनुयायी हैं—(जो भगवान् शंकर के विविध स्वरूपों एवं आकारों की उपासना करते हैं), उतने और किसी देव के नहीं हैं। पुराणों, तन्त्रों, मरटकाद्वात्रिंशिका, क्षेमेन्द्रकृत नर्ममाला, माध्वाचार्य रचित सर्वदर्शन-संग्रह, हरिभद्रसूरि प्रणीत षदड्र्शन समुच्च की गुणरत्न विरचित टीका तथा विविध देशी भाषाओं के ग्रन्थों में भी इनके सम्बन्ध में बहुत उपयोगी वृतान्त इतस्ततः बिखरा हुआ मिलता है। महर्षि वादरायण प्रणीत ब्रह्मसूत्र के शंकर भाष्य पर वाचस्पति मित्र ने 'भामती' नामक टीका में, दूसरे अध्याय की सैंतीसवें सूक्त की व्याख्या में, शैव, पाशुपत, कारुणिक सिद्धान्ती एवं कापालिक आदि सम्प्रदायों का वर्णन किया है। उसी सूत्र की टीका पर भास्कराचार्य ने कारुणिक सिद्धान्तियों के स्थान में इनको 'काठक सिद्धान्ती' नाम दिया है। निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी श्री निवास ने अपनी 'वेदान्त कौस्तुभ' नामक टीका में तथा 'पाँच रात्र प्रामाण्य' नामक टीका में उसी सूत्र की व्याख्या करते हुए 'काठक' या 'कारुणिक' के स्थान में, 'कालमुख' नाम का निर्देश दिया है। इस प्रकार शिव के सम्बन्ध से अनेक सम्प्रदाय थे, जिनका विभिन्न रूप से साहित्य में वर्णन हुआ है।

शिव पुराण, लिंग पुराण, स्कन्द पुराण, मत्स्य पुराण, कूर्म पुराण और ब्रह्मांड आदि पुराणों को शैव पुराण ही माना है। इतिहासों और पुराणों के अतिरिक्त तंत्र ग्रन्थ और स्मृतियों में भी शैव मत का उल्लेख हुआ है। तन्त्रों में भगवान् शंकर की अनेक विद्याओं और रहस्यों का वर्णन आया है। स्मृतियों में भी कर्मकाण्ड सम्बन्धी विषयों में शिवोपासना का विषय आया है। वीर मित्रोदय में शिवोपासना और लिंगार्चन का विस्तृत वर्णन है।[2]

तांत्रिक श्रुतियों में भी परब्रह्म, परशिव और स्थल आदि भिन्न भिन्न नामों से पुकारा गया है। अतः श्रौतागम रूप शैव संहिताओं को भी 'शिव-दर्शन', शैव शास्त्र, शैवागम, शैव तन्त्र, सिद्धान्त-शास्त्र आदि नामों से पुकारते हैं। समस्त युगावर्तों में योगाचार्यों के व्याज से भगवान शंकर ही शैवाचार्य होते हैं और वहां शिष्य परम्परायें जो चलती हैं वे ही शैवाचार्य होते हैं। भगवान्

---

१. वामन पुराण ६।८६।९१।
२. 'कल्याण', शिवांक, लिंग रहस्य, रामदास गौड़, पृ० १४०।

शंकर के अठाइस अवतार योगाचार्य के रूप में मिलते हैं[1] और प्रत्येक के शान्त चित्तवाले चार चार शिष्य हुए हैं। इस प्रकार शैवाचार्यों की संख्या एक सौ बारह हो जाती है।[2] ये सब सिद्ध पाशुपत हैं। इनका शरीर भस्म से विभूषित रहता है। ये सम्पूर्ण शास्त्रों के तत्त्वज्ञ, वेद और वेदांगों के पारंगत विद्वान् शिवाश्रम में अनुरक्त, शिवज्ञान परायण, सब प्रकार की आसक्तियों से मुक्त, एक मात्र भगवान शिव में ही मन को लगाये रखने वाले, सम्पूर्ण द्वन्द्वों को सहने वाले, धीर, सर्वभूतहितकारी, कोमल, स्वस्थ्य, क्रोध शून्य और जितेन्द्रिय होते हैं। रुद्राक्ष की माला ही इनका आभूषण है। उनके मस्तक पर त्रिपुण्ड अंकित होते हैं। कोई तो शिखा के रूप में ही जटा धारण करते हैं तो किन्ही के सारे केश ही जटारूप में होते हैं तथा कोई कोई जटा नहीं भी रखते हैं। कितने ही सदा माथा मुंडाये रहते हैं, प्रायः कन्दमूल का आहार करते हैं। प्राणायाम साधना में तत्पर होते हैं। "मैं शिव का ही हूँ" इस अभियान से युक्त होते हैं। सदा

---

१. शिव पुराण-वायवीय संहिता, अध्याय ९।
श्वेत, सुतार, मदन, सुहोत्र, कंक, लौगाक्षि, महामायस्वी-जयगीश्व्य–दधिवाह, ऋषभ, मुनि, उग्र, अत्रि, सुपालक, गौतम, वेदशिरामुनि, गोकर्ण, गुहावासी, शिखण्डी, जटामाली, अट्टहास, दारुक, लांगुली, महाकाल, शूली, दण्डी, मुडीश, सहिष्णु, सोमशर्मा, नकुलीश्वर।

२. शिव पुराण–वायवीय संहिता, अध्याय ९—
नाम:—श्वेत, श्वेत शिख, श्वेताश्व, श्वेत लौहित, दुन्दुभि, शतरूपक, ऋचीक, केतुमान, विकोश, विपाश, पाशनाशन्, सुमुख, दुर्मुख, द्रुतिक्रम, सनत्कुमार, सनक, सनन्दन, सनातन, सुधामा, बिरजा, शंख, अंडज, सारस्वत, मेघ, मेघवाह, सुवाहक, कपिल, आसुरी, पंचशिख, वाष्कल, पराशर, गर्ग, भार्गव, अंगिरा, बलबन्धु, निरामित्र, सेतुभृंग, तपोधन, लम्बोदर, लम्ब, लम्बात्मा, लम्बकेशक्, सर्वज्ञ, सम्बुद्धि, साध्य, सिद्धि, सुधामा, कश्यप, वशिष्ट, विरजा, अत्रि, उग्र, गुरूश्रेष्ट, श्रावण, श्रविष्ठक, कुणि, कुण-बाहु, कुशरीर, कुनेत्रक, काश्यप, उषनः, च्यवन, ब्रहस्पति, उत्थयः, बामदेव, महाकाल, महानिल, वाचःश्रवा, सुधीर, श्यावक, यतीश्वर, हिरण्यनाम, कौशल्य, लोकाक्षि, कुथुमि, सुमन्तु, जैमिनी, कुबन्ध, कुशकन्धर, पल्का, दारमायणि, केतुमान, गौतम, मल्लवी, मधुपिंग, श्वेतकेतु, उषिज्, वृहदश्व, देवले, कवि, शालिहोत्र, युवनाश्व, शरदवसु, छगल, आश्वलायन, अक्षपाद, कणांद, कुल्लुक, वत्स, कुशिक, गर्ग, मित्रक, और रुष्टि।

शिव के ही चिन्तन में लगे रहते हैं। उन्होंने संसार रूपी विष वृक्ष के अंकुर को मथ डाला है। वे सदा परमधाम में जाने के लिए कटिबद्ध होते हैं।

प्राचीन काल में शैवागम-प्रवर्तक श्री रेवणसिद्ध, श्री उपमन्यु आदि ने, सिद्ध तथा महर्षियों व महात्माओं से शिव दीक्षा प्राप्त कर शैवमत का अनुसरण किया। श्री रेवणसिद्धि से अगस्त्यादि महर्षियों ने शिवज्ञानोपदेश को प्राप्त किया। पद्म पुराण के अन्तर्गत शिव गीता से ज्ञात होता है कि अगस्त महर्षि ने रामचन्द्र जी को शिव दीक्षा, शिवव्रतादि शैव धर्माचरणों का उपदेश दिया। श्री उपमन्यु से श्रीकृष्ण ने शिवदीक्षा व शिवव्रताचरण को प्राप्त किया।[1] इसका उल्लेख महाभारत के अनुशासन पर्व में भी है। इस प्रकार शैवागम तथा उसमें प्रतिपाद्य शैव धर्माचरण वैदिक श्रुति के समान आदृत हैं।

अवान्तर काल में अनेक शैवाचार्यों ने इन तंत्रों के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है। इनमें आठवीं शताब्दी में आविर्भूत आचार्य सद्योज्योति का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनके गुरू का नाम उग्रज्योति था। सद्योज्योति के महत्वपूर्ण ग्रन्थ नरेश्वर–परीक्षा गोरवागम की वृत्ति, स्वायम्भुव आगम पर उद्योत तथा तत्व-संग्रह, तत्व-त्रय, भोगकारिका, मोक्षकारिका, परमोक्षनिरासकारिका हैं। ग्यारहवीं शताब्दी में 'हरदत्त' शैवाचार्य नामक विशिष्ट शैवाचार्य हुए। अपने श्रुति सूक्त माला, चतुर्वेद-तात्पर्य संग्रह में वेद वेदान्त का तात्पर्य शिव महिमा के प्रतिपादन में बतलाया है। 'शिव लिंग भूप' ने (पन्द्रहवीं शती) इस पर रमणीक टीका लिखी। श्री कण्ठ और अप्पय दीक्षित ने इस ग्रन्थ को अपना उपजीव्य माना है। अभिनय-गुप्त से पहिले वृहस्पति, शंकर नन्दन, विद्यापति, देवबल द्वैताचार्य, आदि शैव आचार्य हुए हैं। इनका उल्लेख तन्त्रालोक में मिलता है।[2]

शैव सिद्धान्त मत-आचार्य और साहित्य

नारायण कण्ठ के पुत्र रामकण्ठ (ग्यारहवी शती का आरम्भ) ने सद्योज्योति के ग्रन्थों पर पांडित्यपूर्ण व्याख्याएँ तथा मौलिक ग्रन्थ भी लिखे हैं। जिनमें प्रकाश (नरेश्वर परीक्षा टीका) मातंगवृत्ति, नादकारिका, मोक्षकारिका वृत्ति, परमोक्ष निरासकारिका वृत्ति प्रसिद्ध हैं। श्री कण्ठ सूरि ने 'रत्नत्रय' लिखा है। उतंग शिवाचार्य के शिष्य भोजराज रचित तत्व प्रकाशिका माननीय ग्रन्थ है। उत्तंग शिवाचार्य के शिष्य 'अघोर शिवाचार्य' (बारहवीं शती का मध्य) ने तत्व प्रकाशिका तथा नाद-

---

१. शिवपुराण, वायवीय संहिता, अध्याय ९।
१. श्री बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० ५९०।

कारिका पर वृत्तियां लिख कर इन ग्रन्थों को बोधगम्य बनाया। सद्योज्योति के अन्तिम पाँच ग्रन्थ, भोजराज की तत्वप्रकाशिका, रामकण्ठ की नादकारिका, श्रीकण्ठ का रत्नत्रय–आठ ग्रन्थ 'अष्ट प्रकरण' के नाम से विख्यात हैं।[1]

वीर शैव मत, आचार्य और साहित्य

वीर शैव मत के अनुयायियों का नाम लिंगायत या जंगम है। कर्नाटक में इस मत के आद्य प्रचारक का नाम 'वसव' (बारहवीं शती) माना जाता है। ये कलचुरि नरेश विज्जल के मंत्री बतलाये जाते हैं। वीर शैवों के अनुसार रेणुकाचार्य, दारुकाचार्य, एकोरामाचार्य, पण्डिताचार्य तथा विश्वाराध्य आदि पांच आचार्यों ने क्रमशः सोमेश्वर, सिद्धेश्वर, रामनाथ, मल्लिकार्जुन तथा विश्वेश्वर (विश्वनाथ) नामक प्रसिद्ध शिव लिंगों से आविर्भूत होकर शैव धर्म का प्रचार किया। श्री शिव योगी शिवाचार्य का "सिद्धान्त-शिखा-मार्ग" वीर-शैव-मत का माननीय ग्रन्थ है।

दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में 'मयकन्द देवुर' नाम के प्रख्यात संत और विद्वान दक्षिण में हुए। उन्होंने तत्कालीन समस्त शैव सिद्धान्त का सार केवल बारह संस्कृत अनुष्टुप पद्यों में किया है। आपकी यह कृति 'शिवज्ञानबोधम्' के नाम से प्रसिद्ध है। शैवों में इसका वही स्थान है जो वैष्णवों में भगवद्गीता का है। शैवमत के दार्शनिक पक्ष का सम्पूर्ण विकास इस ग्रन्थ में प्राप्य है और इसी से उसके निश्चित रूप का भी ज्ञान होता है। उसको शैव सिद्धान्त का अंतिम मौलिक ग्रन्थ माना जाता है। अन्य शेष ग्रन्थ प्राचीन ग्रन्थों की टीका के रूप में ही हैं।

कर्नाटक प्रदेश में होयसल वंश के राजाओं के समय में वीर शैव और काल-मुख सम्प्रदायों का विशेष प्रचार हुआ।[2] इस युग के वीर शैवों में पालकुरिक सोमनाथ महान् आचार्य थे। इन्होंने प्रताप देव द्वितीय की सभा में रहकर सोमनाथ भाष्य, रुद्र भाष्य, अष्कट पंचक, नमस्कार गद्य, अक्षारांक गद्य, पंच प्रार्थना गद्य, वसवीदाहरण और चतुर्वेद तात्पर्य संग्रह नामक पुस्तकें लिखीं।

इसी मत के हरीश्वर या हरिहर नामक विद्वान ने शैवभक्तों के चरित्र को सुन्दर काव्य के रूप में लिखा। इनका 'गिरिजा कल्याण' अत्यन्त प्रसिद्ध है। 'राघवांक' ने 'हरिश्चन्द्र' काव्य लिखा। 'पंदमरस वल्लाल' नामक आचार्य नरेश नरसिंह के मंत्री थे। ये भी वीर शैव धर्म के अनुयायी थे। इनका 'दीक्षा

---

१. श्री बलदेव उपाध्याय–आर्य संस्कृति के मूलाधार, पृ० ३३१।
२. ,, आचार्य सायण और माधव, पृ० १६।

बोध' गुरुशिष्य के सम्वाद रूप से शैव धर्म के सिद्धान्तों का विवरण है। इसी समय देवकवि ने कुसुमावलि नामक आख्यायिका लिखी और सोमराज ने उद्-भट काव्य का निर्माण किया।

सायण और माधव का आविर्भाव काल विक्रम की चौहदवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और पन्द्रहवीं शताब्दी का प्रथमार्द्ध माना जाता है। विक्रम की सौलहवीं शताब्दी तक विजय नगर के राजा शैव मतानुयायी ही थे। शिव इनके कुल देवता थे जिनकी पूजा 'विरुपाक्ष' नाम से की जाती थी। इन संगमवंशीय नरेशों की आस्था शंकराचार्य के द्वारा प्रतिष्ठापित शृंगेरी मठ तथा उसके आचार्यों के प्रति विशेष थी। इस मठ के आचार्य विद्यातीर्थ की स्मृति में, मठ को अनेक गांव दान रूप दिये और उनका नाम 'विद्यारण्यपुर' रखा। इन नरेशों के गुरु भी शैवाचार्य ही थे।

सुप्रसिद्ध शैवाचार्य 'काशीविलास क्रियाशक्ति' इस वंश के मान्य आचार्य थे। इनकी उस समय प्रभुता थी। ये शिवाद्वैत के प्रतिपादक तथा आगम में निष्णात सिद्ध महात्मा थे। इनके ही पट शिष्य माध्व मंत्री थे जो अपने गुरु के उपदेश से शुद्ध-शिवान्ताय पद्धति से भगवान त्र्यम्बक की उपासना किया करते थे। इन्होंने 'सूत संहिता' की तात्पर्य दीपिका नामक पांडित्यपूर्ण व्याख्या लिखी। सूत संहिता स्कन्दपुराण के अन्तर्गत एक विशिष्ट दार्शनिक अंश है। इसके अतिरिक्त इनके समकालीन दूसरे शैव यति 'श्री कण्ठनाथ' थे। ये सायणकाल के एक आलौकिक सिद्ध थे व नाथ पंथी महात्मा थे। भोगनाथ ने इनको करुणावतार शंकर का साक्षात् प्रतिनिधि कहा है। ये उस समय के अतीव प्रख्यात माहेश्वर तत्वों के व्याख्याता शैवपति प्रतीत होते हैं। श्रीकण्ठनाथ के राजगुरु होने से सायणकालीन राजाओं का शैवमतानुयायी होना सिद्ध होता है। काशीविलास के दूसरे शिष्य का नाम 'त्र्यम्बक क्रिया शक्ति' था जो गंगदेव तथा देवराज के गुरु वतलाये गये हैं। त्र्यम्वक के शिष्य का नाम 'चन्द्र भूषण' था। इस प्रकार विद्यारण्य युग में शैवागम के आचार्य अपने सिद्धान्तों का प्रचार प्रयत्नपूर्ण कर रहे थे।

'भारतीतीर्थ' स्वामी विद्यातीर्थ के अनन्तर शृंगेरी पीठ पर मठाधीश रूप में प्रतिष्ठित हुए। 'कालनिर्णय' के उपोद्घात से माधव पर आपके उपदेशों का प्रभाव लक्षित होता है। विद्यातीर्थ परमात्मा तीर्थ के शिष्य थे। इन्होंने 'रुद्र प्रश्न भाष्य' की रचना की। ये त्रिदण्डी स्वामी थे। आचार्य माधव ने 'न्यायमाला-विस्तार' में आपको परमात्मा कह कर निर्दिष्ट किया है तथा दूसरी वार भगवान शिव की अनुग्रह मूर्ति मान कर वर्णन किया है। माधव स्वतः

शिवाद्वैत सिद्धान्त के अनुयायी थे। आप अपने समय के उपनिपन्मार्गानुयायी एक विख्यात शैव तान्त्रिक थे।[१]

पाशुपत मत–आचार्य तथा साहित्य

पाशुपतों का सम्बन्ध न्याय वैशेषिक से नितान्त घनिष्ठ है।[२] गुणरत्न ने नैयायिकों को 'शैव' और वैशेषिकों को 'पाशुपत' कहा है। न्याय वार्तिक के रचियता उद्योतकर ने 'पाशुपताचार्य' उपाधि से अपना परिचय दिया है। माधवाचार्य ने 'सर्व दर्शन संग्रह' में इसका उल्लेख किया है। पाशुपत सूत्रों का मूल ग्रन्थ 'महेश्वर रचित पाशुपत सूत्र' अनन्तरायन ग्रन्थ माला में, कौण्डिल्य कृत 'पंचार्थी भाष्य' नाम से अभी प्रकाशित हुआ है। इस पंचाध्यायी में पाशुपतों के पांचों पदार्थों का विस्तृत तथा नितान्त प्रामाणिक विवेचन है। गोलकी मठ में पाशुपत सम्प्रदाय की प्रभुता थी। प्रताप रुद्र के समकालीन एवं विशिष्ट पाशुपत आचार्य विश्वेश्वर शम्भु का नाम मिलता है। जिन्होंने शैवों में दो भेद कर दिये—वीरभद्र और वीरमुष्टि। कालामुख सम्प्रदाय का दूसरा केन्द्र हुलियमठ था। तेरहवीं शती के अंत में 'ज्ञान-शक्ति' और 'साम्व-शक्ति' इसके अध्यक्ष थे।

चन्द्रगुप्त द्वितीय के काल के मथुरा शिला लेख के अनुसार उदिताचार्य पाशुपत या माहेश्वर थे। ये उपमिताचार्य के शिष्य थे। उपमिताचार्य के गुरु कपिल और कपिल के गुरु पाराशर थे।[3] इस शिलालेख के अनुसार उदिताचार्य कौशिक के वाद गुरु परम्परा में दसवें थे। लकुलीश कुशिक के गुरु थे। इन्होंने उपमितेश्वर और कपिलेश्वर नामक शिव लिंगो की स्थापना की। पुराणों के अनुसार, कौण्डिल्य की 'पाशुपत सूत्र', सूत संहिता, राजशेखर कृत षड्दर्शन, वृहवृति, गुणरत्न सूरि कृत में लकुलीश के प्रथम शिष्य 'कुशिक' माने गये हैं। शिला लेखों के आधार पर कहा जा सकता है कि गार्ग्य और कुशिक, लकुलीश के दो शिष्य सोमनाथ और मथुरा में बसे।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन–आचार्य और साहित्य

आचार्य वसुगुप्त प्रत्यभिज्ञादर्शन के प्रवर्तक माने जाते हैं। कहा जाता है कि शिव ने वसुगुप्त को स्वप्न में, काश्मीर में महादेव गिरि पर अंकित, शिव सूत्रों के वारे में वतलाया। वहाँ से इनका उद्धार करके वसुगुप्त ने अपनी 'स्पन्दकारिका' में संग्रह किया। वसुगुप्त के दो प्रधान शिष्य कल्लट

---

१. श्री बलदेव उपाध्याय, आचार्य सायण और माधव, पृ० ७१।

२. ,, आर्य संस्कृति के मूलाधार, पृ० ३२९।

३. के. सी. पाण्डे, भास्करी, भाग ३, पृष्ठ २९।

और सोमानन्द हुए। कल्लट ने स्पन्दशास्त्र का प्रवर्तन किया। कल्लट की सबसे श्रेष्ठ कृति स्पन्द-कारिका की वृति है, जो 'स्पन्द सर्वस्व' के नाम से विख्यात है। सोमानन्द के महत्वशाली ग्रन्थों के नाम'शिवदृष्टि' और'परात्रिंशिकाविवृति' हैं। उत्पलाचार्य (९०० ई०) सोमानन्द के शिष्य थे। इनकी ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका त्रिक् सम्प्रदाय का माननीय शास्त्र है। इस ग्रन्थ के नाम पर ही यह दर्शन 'प्रत्यभिज्ञा' नाम से व्यवहृत किया जाता है। उत्पल की 'सिद्धित्रयी' में अजऽ-प्रमातृ सिद्धि, ईश्वर सिद्धि तथा सम्वन्ध सिद्धि की गणना है और 'शिवस्तोत्रा-वली' भक्ति रस से पूरित बड़ा ही सुन्दर स्तोत्र संग्रह है। उत्पल के प्रशिष्य तथा लक्ष्मण गुप्त के शिष्य अभिनवगुप्त का नाम दर्शन तथा साहित्य दोनों संसारों में प्रसिद्ध है।

अभिनव भारती तथा 'ध्वन्यालोक लोचन' ने इनका नाम साहित्य जगत् में अमर कर दिया है। ईश्वर-प्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी, तन्त्रालोक, तन्त्रसार, मालिनी विजय-वार्तिक, परमार्थसार, परात्रिंशिका-विवृति ने त्रिक् दर्शन के इतिहास में इन्हें चिरस्थायी बना दिया है। इनका तन्त्रालोक मन्त्रशास्त्र का विश्वकोष है। साहित्य तथा दर्शन का सुन्दर सामंजस्य करने का श्रेय आपको है। ये अर्द्ध त्र्यम्वक मत के प्रधान आचार्य शम्भुनाथ के शिष्य और मत्स्येन्द्रनाथ सम्प्रदाय के एक सिद्ध कौल थे।

अभिनवगुप्त के शिष्य क्षेमराज (९७५–१०२५ ई०) ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'शिवसूत्र विमर्शिनी' में वसुगुप्त के शिव सूत्रों की व्याख्या की है। इनके शिवसूत्र विमर्शिणी, स्वच्छन्द तन्त्र, विज्ञान भैरव तथा नेत्र तंत्र पर उद्योत टीका, प्रत्यभिज्ञा हृदय, स्पन्द सन्देश, शिवस्तोत्रावली की टीका आदि प्रमुख ग्रन्थ हैं। क्षेमराज के बाद प्रत्यभिज्ञा दर्शन का विकास प्रधानतः उपर्युक्त ग्रन्थों पर टीकाओं द्वारा ही हुआ। इन टीकाकारों में सबसे वड़े 'योगराज' हुए, जो कि अभिनवगुप्त के ही शिष्य थे। योगराज के बाद वारहवीं शताब्दी में जयरथ ने अभिनव गुप्त के तन्त्रालोक पर टीका लिखी। उत्पल की 'स्पन्द-प्रदीपिका' भास्कर तथा वरदराज का 'शिवसूत्रवार्तिक' रामकण्ठ की स्पन्दकारिका विवृति, योगराज की परमार्थ सारवृति तथा जयरथ की तन्त्रालोक पर टीका, गोरक्ष की परिमल सहित 'महार्थमंजरी' विख्यात ग्रन्थ हैं।

दत्तात्रेय ने त्रिपुरातत्व पर अठारह हजार श्लोकों की 'दत्त संहिता' लिखी। परशुराम नामक आचार्य ने पचास खण्डों में तथा छः हजार सूत्रों में इसे संक्षिप्त किया। हरितायन सुमेधा नामक आचार्य ने इसे परशुराम कल्पसूत्र

से पुनर्वार संक्षिप्त किया। इसकी टीकाएँ 'उमानन्दनाथ' की 'नित्योत्सव' है, जिसे अशुद्ध समझ कर रामेश्वर ने दूसरी वृत्ति लिखी। इस त्रिपुरा मत के ताँत्रिक आचार्य अपने को नाथ मतानुयायी कहते हैं।

अपनी रुचि तथा सम्मति के अनुसार भारत के विभिन्न प्रान्तों के विद्वानों में, शंकर भगवान को केन्द्र मानकर, अनेक महत्वपूर्ण आध्यात्मिक सिद्धान्तों की उद्भावना हुई है। तामिल प्रान्त के शैव गण 'शैव सिद्धान्ती' के नाम से विख्यात हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से द्वैतवादी हैं। कर्नाटक प्रान्त का 'वीर शैव' धर्मशक्ति विशिष्टाद्वैत का उपासक है। गुजरात और राजस्थान के पाशुपत भी द्वैतवादी ही हैं। इन सबमें दार्शनिक दृष्टि से भिन्नता रखनेवाला काश्मीर का त्रिक् या प्रत्यभिज्ञा-दर्शन है, जो पूर्णरूपेण अद्वैतवादी है।

निष्कर्ष

समस्त भारतीय मान्यताओं और विचारधाराओं का एक मात्र उद्गम स्थान वेद ही है। वेदों में ऋग्वेद सबसे पुराना माना जाता है। ऋग्वेद में रुद्र देवता का नाम आया है। डॉ० मेकडॉनल ने रुद्र को अग्नि के साम्य के कारण इसे विनाशकारी विद्युत रूप में, झंझावत के विध्वंसक स्वरूप का प्रतीक माना है।[1] रुद्र और अग्नि के साम्य के कारण[2] अग्नि को ही रूप विशेष का प्रतीक माना है। कुछ विद्वानों ने उन्हें मृत्यु का देवता भी माना है। इस में जहाँ रुद्र का रूप भयानक है वहाँ सौम्य भी है। कभी वे रुद्र रूप धारण करते हैं तो कभी पोषक बन जाते हैं। उनसे अपनी सन्तान व पशुओं की रक्षा के लिए भी प्रार्थना की गई है। उन्हें भिषजों में सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है। इनकी गणना आकाश के देवता के रूप में भी की गई है।

यजुर्वेद के आधार पर कहा जा सकता है कि इस समय रुद्र के नाम, रूप आदि का पर्याप्त विकास हुआ। यहां इन्हें कई प्रशंसा सूचक उपाधियाँ भी दी गई। अथर्ववेद में रुद्र का और अधिक विकास हुआ। इस समय वे जन-साधारण की आस्था के केन्द्र भी बन चुके थे। वे लोकप्रिय देवता के रूप में भी प्रतिष्ठित हो चुके थे तथा उनकी उपाधि महादेव हो गई थी।[3]

ब्राह्मण ग्रन्थों में रुद्र का पद और भी ऊँचा हो जाता है। उन्हें पशुपति नाम से पुकारा है[4] जो शिव का ही पर्यायी है। यहां से उनके उपासकों की

---

१. डा० मेकडोनल–वैदिक माइथोलोजी, पृ० ७८।
२. त्वं अग्नेथ रुद्रो असुरो महादिवः –ऋग्वेद–२।१।६।
३. अथर्ब वेद–६।४४।३, ६।५७।१, १९।१०।६।
४. शतपथ ब्राह्मण-९।१।१।१।५।

संख्या बढ़ती गई तथा उसके साथ साथ उनका भी महत्व बढ़ता गया। इस समय तक 'रुद्र' परमेश्वर पद को पा चुके थे। ऐसा प्रमाण मिलता है कि इस काल तक रुद्र की उपासना जन साधारण से ऊपर उठकर आर्य जाति के उन्नत और प्रगतिशील वर्ग में भी व्याप्त हो गयी थी। पहिले के शक्तिशाली रुद्र जिनका आतंक सर्वत्र छाया हुआ था 'ऋत्' का वर्तमान स्वरूप बन गये। रुद्र का पद सर्वोच्च हो गया और वे नाम से ही नहीं अपितु अर्थ से भी महादेव बन गये तथा उन्हें देवाधिपति भी कहा गया।[१]

ब्राह्मण ग्रन्थों में रुद्र का कितना विकास हो चुका था, यह उपनिषदों से स्पष्ट झलकता है। अब 'रुद्र' को ईश, महेश्वर और ईशान व शिव भी कहा जाता था।[२] सूत्र काल में इस विषय की गृह्य सूत्रों से अधिक जानकारी प्राप्त होती है। उनसे ज्ञात होता है कि जहाँ एक ओर रुद्र ने दार्शनिकों के परब्रह्म का पद पाया था तो दूसरी ओर उनकी उपासना का जनसाधारण के सरल विश्वासों से भी घनिष्ट सम्बन्ध था। यहां पुराने नामों के साथ साथ नये नाम शंकर और शिव भी प्रचलित हुए और मूर्तिपूजा का विधान भी आरम्भ हो गया था मूर्तिपूजा उसासना की अंग बन गई। यहां देवगिरि का भी उल्लेख मिलता है।[३] इसी समय शिवलिंग का भी वर्णन प्राप्त होता है।[४]

शिव के नाम, रूप, गुण व उपासना आदि का पूर्ण विकास उत्तर वैदिक काल से ही, जैसा आज वर्तमान है वह प्राप्त होता है। यहीं से शिव के विभिन्न रूपों की व्याख्या व भिन्न भिन्न पद्धतियों से अर्चना शुरू हुई। इस समय तक शैव धर्म के उपभेद नहीं थे परन्तु अब दार्शनिक विचारधाराओं के विकसित होने से दार्शनिकों में आपस में मतभेद शुरू हुआ और उसके फलस्वरूप शैव धर्म भी कई सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। इन्हीं सम्प्रदायों के दर्शन का प्रभाव मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य पर पड़ा जोकि संत साहित्य के परिशीलन से स्पष्ट ज्ञात होता है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि वैदिक रुद्र ही क्रमशः विकसित होकर आज के शिव बने। साधारणतया यह धारणा बनी हुई है कि 'शिव' अनार्य देवता थे, द्रविड़ थे जिन्हे बाद में आर्यों ने आत्मसात कर लिया,

---

१. कौशीतकी ब्राह्मण २३।२।
२. श्वेताश्वत्र उपनिषद् ३३।११, ४।४०-११।
३. बौधायन गृह्य सूत्र ३।३।६।२।
४. वही, ३।२।१६।१४।

निराधार ही कही जा सकती है तथा इस अनुमान को कपोल कल्पना ही मानना होगा। हड़प्पा और मोहन जोदड़ो, लोथल, रंगपुर, रोपड़, वहल, बालम, गीरपुर तथा सौराष्ट्र व गुजरात के उन समस्त स्थलों में जहां हड़प्पा कालीन संकृति के अवशेष मिले हैं एक भी शिव लिंग प्राप्त नहीं हुआ है। किसी भी मूर्ति को देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि यहां लिंग ही पूजा जाता था। सिन्धु घाटी की सभ्यता जो इस समय सतलुज से लेकर नर्मदा के किनारे तक पहुँच गई है, लिंगोपासक होती तो उसके अवशेष या चिन्ह अवश्य होते।[1]

श्री रामानन्द दीक्षीतार के शैवमत की प्राचीनता नामक निवन्ध में शैवमत को ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व का माना हैं।[2] यह उपरोक्त तथ्यों से सिद्ध भी हो चुका है। यह अवश्य माना जा सकता है कि 'रुद्र' की लोकप्रियता के कारण, अनेक आर्यत्तर जातियों के देवताओं को, इसने अपने में आत्मसात कर लिया होगा।

"वस्तुतः शैव मत वेद प्रतिपादित, नितान्त विशुद्ध, व्यापक प्रभावशाली तथा प्राचीनतम मत है।"[3] इसे आर्येतर देवता कहना युक्ति-युक्त नहीं है।

---

१. श्री जगदीश चतुर्वेदी, राजर्षि पुरुषोतमदास टंडन अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ३८७।

२, श्री रामानन्द दीक्षीतार, शैवमत की प्राचीनता, कल्याण विशेषांक, पृ० १६७।

३. श्री बलदेव उपाध्याय, आर्य संस्कृति के मूलाधार, पृ० ३४२।

अध्याय २

शैव सिद्धान्त

शैव दर्शन

दर्शन का क्षेत्र

दर्शन का क्षेत्र विस्तृत है। 'दर्शन' का व्युत्पति लम्य अर्थ, 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्' लिया जाता है। इसके अनुसार दृश्यमान जगत् का सच्चा स्वरूप क्या है? इसकी उत्पति कहां से हुई? सृष्टि का कारण कौन है? यह चेतन है या अचेतन? वस्तु का सत्यभूत सात्विक स्वरूप क्या है?, आदि प्रश्नों का समुचित उत्तर देना दर्शन का प्रधान ध्येय है। दर्शन अथवा तत्वज्ञान का जीवन से गहरा सम्बन्ध है। दर्शन शास्त्र के सुचिन्तित आध्यात्मिक तथ्यों पर ही भारतीय धर्म प्रतिष्ठित है। धर्म के आध्यात्मिक-चिंतन, योग एवं भक्ति तीन पक्ष हैं। धार्मिक आचार के अभाव में दर्शन की स्थिति निष्फल है। दार्शनिक विचार द्वारा परिपुष्ट धर्म ही लोक मान्यता प्राप्त करता है।

शैव दर्शन-उसकी सीमाएं

दार्शनिक विचारों से परिपक्व होने के कारण शैवमत वैदिक काल से ही प्रतिष्ठा प्राप्त करता रहता है। इस मत में शिव ही सृष्टि के कर्ता और कारण हैं। शैवाचार्यों ने कारण कार्य सम्बन्ध से दार्शनिक तत्वों का विश्लेषण किया है और इसी कारण शैव धर्म के अनेक भेदों का सूत्रपात हुआ जिसमें मुख्य पाशुपत, शैव सिद्धान्त, वीर शैव एवं प्रत्यभिज्ञा आदि हैं।[1] इनमें सामान्य तत्वों की मान्यता स्पष्ट है।

तत्व निरूपण

अनेक शैव सम्प्रदायों ने जड़ व चेतन के मूल रूप को तत्व कहा है।[2] इसके अतिरिक्त मोक्ष प्राप्ति में उपयोगी ज्ञान को भी तत्व संज्ञा प्रदान की गई है। शैवागमों में तत्वत्रिधा विभक्त किये हैं:—शिवतत्व, विद्या तत्व तथा आत्म तत्व। शिवतत्व में शिव-तत्व और शक्तितत्व की व्याख्या होती है, विद्यातत्व में तीन तत्त्व गृहीत हैं—सदाशिव

---

१. विशिष्ट विवरण के लिए देखिए प्रथम अध्याय।

२. 'तस्य भावस्तत्वम्'

ईश्वर और शुद्ध विद्या, आत्मतत्व में इकत्तीस में तत्व अन्तर्भूत हैं–माया, कला, वियाराग, काल, नियति, पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, मन, श्रोत्, त्वक्, चक्षु, जिह्वा घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, आकाश, वायु, ववि, सलिल, भूमि।[1] इस प्रकार ये छत्तीस तत्व हो जाते है। इन तत्वों की समष्टि 'तत्वातीत' नामक सच्चिदानन्द 'तुरीयतत्व' में है। परमशिव ही परम तत्व या तुरीय-तत्व है।[2] सच्चिदानन्द रूप परशिव ब्रह्म में 'अविनाभाव सम्वन्ध' से विद्यमान विमर्श शक्ति का स्फुरण ही छतीस तत्व रूप में परिणत होता है।

तत्व ज्ञान का साधन

छत्तीस तत्वों से ही यह विश्व वना है और ये प्रलय तक विद्यमान रह कर जगत् को भोग की सामग्री देते हैं। इन्द्रियों के ज्ञान के वाद ही विषयों का ज्ञान होता है, विषयों के ज्ञान के बाद मन का और उसके वाद बुद्धि का ज्ञान होता है। इस प्रकार उतरोत्तर ज्ञान प्राप्त होने के वाद ही परमात्म तत्व का ज्ञान प्राप्त होता है।

तत्व विश्लेषण:

परमात्म तत्व का ज्ञान आत्मतत्व के इकत्तीस तत्वों को जानने के बाद ही सम्भव है। आत्मा-पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, मन श्रोत् आदि की भ्रमजनक अवस्था के ज्ञान के उपरान्त ही सत् अंश से सानिध्य प्राप्त करता है। दर्शन क्षेत्र तक पहुँचने के लिए आत्म तत्व के स्तर को ऊर्ध्वोन्मुख करना आवश्यक है। आत्म-तत्व के बाद विद्यातत्व और उसके वाद शिव-तत्व को माना जा सकता है। शिवतत्व ही वस्तुतः शैव दर्शन का प्रमुख ज्ञातव्य तत्व है।

शिव तत्व:

शैव दर्शन परम-शिव या ब्रह्म ही विश्व के उन्मेष की कल्पना करने के कारण शिवतत्व सृष्टि का मूल तत्व है, यही समस्त जगत् का निर्माता एवं चिद्रूप है, वह अपनी इच्छा से अपने अन्तर्गत व्याप्त विश्व को प्रकाशित करता है।[3] ये परम शिव परम-आत्मसमाहित हैं, यह परम-आत्म-समाहित रूप ही उनका निर्गुण निराकार, निष्क्रय, निष्कल रूप है। यह परम शिव परम-अद्वय तत्व, यामल

---

१. बलदेव उपाध्याय-भारतीय दर्शन, षष्ठ संस्करण, पृ० ५६१।
२. अभिनवगुप्त-तन्त्रालोक ३।३७।
३. अभिनवगुप्त, तन्त्रालोक, भाग ८, पृ० ८।

तत्व है।[१] शिव निगूढ़ परब्रह्म हैं, वे नाना प्रकार की शक्तियों के द्वारा जगत् स्वरूप में प्रकाशित हो रहे हैं। अपनी गुणमयी शक्ति से ब्रह्मा विष्णु और शिव नाम धारण कर वे ही सृष्टि, स्थिति और संहार करते हैं। वे स्वयं प्रकाश, भूमा, परात्पर ब्रह्म और सर्वव्यापी हैं, उनकी साकार लीला भी असीम परमतत्व का मान चित्र है।

शिव की स्वच्छ शुभ्र कान्ति निर्गुण परमेश्वर के स्वाभाविक निर्मलत्व की प्रतिच्छाया है। निराकार परमेश्वर स्वरूप में यही शिव निरावरण रूप से विद्यमान है, इसी कारण साकार लीला में शिव को दिगम्बर माना है। परमेश्वर रूप में शिव भय और अभय दोनों के हेतु हैं, इसी कारण साकार लीला में विषधर और सुधाकर उनके भूषण हैं। अतएव शिव ही महान् ईश्वर परमेश्वर हैं। परमेश्वर तत्व ही शिवतत्व है।[२]

परमेश्वर में चित् शक्ति को प्रधानता होने से वह शिवतत्व कहलाता है, आनन्द शक्ति की प्रधानता से वह शक्तितत्व कहलाता है।[३]

शक्ति तत्व

शक्ति को तंत्र ग्रन्थों में शिव या ब्रह्म की छाया कहा गया है,[४] वे शिव के सदृश सगुण और निर्गुण भेद से दो रूपों में स्थित हैं। अपने निर्गुण रूप में वह चैतन्य रूपिणी, आनन्द रूपिणी और ब्रह्मानन्द प्रकाशिनी हैं और सगुण रूप के द्वारा सर्वभूत प्रकाशिनी कहलाती हैं। शक्ति के सगुण रूप से ही सारी सृष्टि का विकास हुआ है। शक्ति कुण्डलिनी रूप में, शिव के साथ उत्पन्न हो, सारे संसार में व्याप्त हैं।[५] वास्तव में शक्ति ही शिवास्य तत्व है। इस तत्व का पूर्ण उन्मेष परमशिव की पूर्णाहन्ता अवस्था में होता है।

पूर्णाहन्ता अवस्था में उत्पन्न यह शक्ति इच्छा-ज्ञान-क्रिया रूपा है। शक्ति को शिव का निर्मल आदर्श कहा गया है। वह सुखरूपिणी है। भावि-चराचर-बीज-रूपिणी होने के कारण वह 'शिवरूप-विमर्श-निर्मलादर्श है। यह विमर्श शक्ति कारण रूपा है अतएव

शक्ति के रूप

---

१. श्री जयरथ कृत टीका-तन्त्रलोक १।१।
२. श्री पंचानन तर्करत्न—श्री शिवतत्व, पृ० १०८।
३. चित् प्राधान्ये शिवतत्वम्, आनन्द प्राधान्ये शक्ति तत्वम्, तन्त्रसार, पृ० ७३–७४।
४. कुन्जिका तन्त्र, प्रथम अध्याय।
५. भास्कर—शिव सूत्र वार्तिक १।१७।

यह शक्ति शिव रूप का विमल आदर्श है। शिव की सारी इच्छा या काम को पूर्ण करने के कारण इस शक्ति को विमर्शरूपिणी कामेश्वरी भी कहा गया है। यह ज्ञान-रूपिणी या क्रिया-रूपिणी ही नहीं, आनन्द-रूपिणी भी है।

आनन्द रूपिणी

आनन्द रूपा शक्ति ही सब सृष्टियों का मूल है। सृष्टि की रचना में निमित और उपादान कारण है। जीव विश्वसृष्टि के महानन्दमय में अनुचरण कर, अवस्थान कर, आनन्दमयी शक्ति में समाविष्ट हो कर भैरव को प्राप्त करता है।[1] वह आनन्द शक्ति परमशिव की स्वरूप-शक्ति है। यही व्याप्य-व्यापक रूप में ब्रह्माण्ड को व्याप्त किए हुए है। यह पराशक्ति शक्ति-चक्र की जननी है।[2] यही माया के ऊपर महामाया है[3], इसी 'आनन्द शक्ति' को 'वैन्दवी कला' की अभिधा दी जाती है।

समवायिनी

परम शिव की इस आनन्द स्वरूप शक्ति को जो शिव के साथ अविनाबद्ध भाव से अवस्थान करती है, 'समवायिनी' शक्ति कहा गया है।[4] इसका अस्तित्व केवल शिव पर निर्भर है। माया शक्ति या प्राकृत शक्ति इसी समवायिनी शक्ति से उत्पन्न होती है। इसको सभी शक्तियों की शक्ति और सभी गुणों का गुण बतलाया जाता है, किन्तु यह स्वरूप भूता समवायिनी शक्ति परम शिव को कभी आच्छादित नहीं करती। विमर्श, ज्ञान, संकल्प, अध्यवसाय आदि नामों से यह भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रतीत होती है। इच्छा शक्ति में ज्ञानशक्ति अन्तरंग रूप से और क्रिया शक्ति बहिरंग रूप से रहती है।

शिव शक्ति सम्बन्ध

इच्छा शक्ति, उससे उत्पन्न ज्ञान शक्ति तथा क्रिया शक्ति का आविर्भाव शिव से ही होता है। यही संसार का निमित्तकारण एवं चित् रूप है। इच्छा शक्ति से युक्त होने पर ही शिव सगुण शिव कहलाते हैं। शिव के आत्म-संहृत अद्वय रूप में पराशक्ति नि:शेष लीन हुई है, यही भावि चराचर बीज के रूप में, शिव से

---

१. विज्ञान भैरव, पृ० १५५।

२. "यासा शक्तिः परा सूक्ष्मा व्यापिनी निर्मला शिवा
शक्ति-चक्रस्य जननी परानन्दामृतात्मिका"
—शिवसूत्र वार्तिक।

३. "मायोपरि महामाया त्रिकोणानन्दरूपिणी"
—कुन्जिका तंत्र।

४. मालिनी विजयोत्तर तन्त्र, ३।५।

एक होकर, शिव में ही अवस्थान करती हैं। इसी कारण परमशिव शिवशक्ति का मिलन या संघट्ट है। यह संघट्ट यामल तत्व अथवा शक्ति–शक्तिमत सामरस्यात्मा है, जिससे एक ही साथ दो तत्व उत्पन्न होते हैं। सृष्टि–स्थिति उपसंहार रूपा इस शक्ति को 'तद्‌भरेण रता' अर्थात् परम शिव का मनोरंजन या तृप्ति विधान माना है। शिव तथा शक्ति, दोनों तत्व शाश्वत हैं और सदैव एक रूप होकर साथ रहते हैं।[1]

शिव शक्तिमान् हैं, शक्ति उनकी इच्छा है, जिससे वे सब कुछ कर सकते हैं। अतः न शिव शक्ति रहित हैं और न शक्ति शिव से पृथक है। शक्ति के बिना शिव अपूर्ण हैं, शक्ति भी शिव के बिना अपूर्ण होती है।[2] इसी कारण शिव प्रकाश रूप और शक्ति विमर्श या स्फूर्ति रूप है। यह सम्बन्ध शिव प्रतिविम्ब रूप भी माना गया है। जिस प्रकार चने के छिलके के अन्दर दो दल निकलते हैं उसी प्रकार परात्पर तत्व भी शिव और शक्ति रूप है। यह शक्ति ही शिव के सारे देह कृत्य करती है, अतनु चिदेक्‌मात्र शिव का कोई देह नहीं है। अतः शक्ति ही शिव की देह है, शक्ति के द्वारा ही शिव विश्व ब्रह्माण्ड की सारी क्रियाएँ करते हैं। शक्ति और शक्तिमान में जो भेद कल्पना है, वह एक भेद का भान मात्र है[3], शक्ति की अलग सत्ता परमपुरुष का अवभासन मात्र है। वे दोनों एक ही हैं, शिव विषयी हैं शक्ति विषय है, शिव भोक्ता हैं, शक्ति भोग्या हैं, शिव द्रष्टा हैं, शक्ति दृष्टव्य हैं। शिव आस्वादक हैं, शक्ति आस्वाद्य हैं, शिव मन्ता है और शक्ति मन्तव्य है।[4] चन्द्र-चन्द्रिका के तुल्य शिव-शक्ति भी अभिन्न हैं।

शिव शक्ति की अवस्थाएं

यह शक्ति पांच भिन्न अवस्थाओं में होती हुई स्फुरित होती है। स्फुरित होने की पूर्ववर्ती और प्रायः उपक्रान्ति अवस्था का नाम 'निजा' है। यह शिव की अव्यक्त एवं स्फुरणोन्मुखी शक्ति से विशिष्ट अवस्था है। शिव की इस अवस्था को 'अपरं पदम्' कहा है। शक्ति क्रमशः स्फुरण की ओर उन्मुख हो स्पन्दित होती है, स्पन्दित होकर ही वह सूक्ष्म अहन्ता से युक्त होती है। पूर्ण अहन्तावस्था में वह चेतनशीला अपने पृथक् अस्तित्व में विद्यमान

---

१. सोमानन्द-शिव दृष्टि, पृ० ९६।
२. वही, "न शिव शक्ति रहितो न शक्ति र्व्यतिरेकिणी",
 पृ० ५४, ३।९३
३. जयरथ कृत टीका-ध्वन्यालोक, पृ० ११०-११।
४. शिव पुराण-वायवीय संहिता-उत्तरभाग ५।५६–६१।

होती है। इन अवस्थाओं को क्रमशः परा, अपरा, सूक्ष्मा और कुण्डली कहा गया है। इन अवस्थाओं में शिव भी क्रमशः परम, शून्य, निरंजन और परमात्मा कहलाते हैं। परमात्मा और कुण्डलिनी अर्थात् शिव और शक्ति प्रथम दो सूक्ष्म तत्व हैं।

विद्या तत्व

इस प्रथम तत्व शिव में इच्छाशक्ति की प्रधानता होने पर सदाशिव तत्व कहलाता है। ज्ञान शक्ति की प्रधानता होने पर ईश्वर तत्व और क्रियाशक्ति की प्रधानता होने पर वही परमेश्वर विद्यातत्व के नाम से अभिहित किया जाता है। शैव दर्शन में इस विद्यातत्व के अन्तर्गत सदाशिव, ईश्वर और शुद्ध विद्या तत्व आते हैं।

सदाशिव

विद्यातत्व में सदाशिव तत्व का महत्वपूर्ण स्थान है। मैं ही शिव हूँ, यह ज्ञान ही सदाशिव तत्व है। सदाशिव तत्व में इच्छा शक्ति की अन्तरंग ज्ञान शक्ति की उद्रेकावस्था में क्रिया-शक्ति का प्रवेश होता हैं। इसी उद्रिक्तज्ञान शक्ति को आवरण करके 'अहमिदम्' (मैं यह प्रपंच हूँ) इस प्रकार अभिमान करना ही सदाशिव तत्व कहलाता है।[१] यह सदाशिव तत्व नाद रूप है, अदृष्ट शिव मूर्ति से व्याप्त स्फोट ध्वनि ही नाद है, और यह नाद ही सदाशिव है।[२] संसार के निमेष या प्रलय को भी सदाशिव तत्व कहा गया है।[3] इस तत्व का अनुभव 'अहं—इदम्' द्वारा होता है। इसमें 'अहं' शिव का द्योतक है और 'इदं' विश्व का परिचायक है, इस तत्व को इच्छा प्रधान बतलाया है। 'इदन्ता' के रूप में अभिव्यक्ति योग्यता ही सदाशिव तत्व है।[४] इस सदाशिव तत्व तक सब कुछ प्राकृत है, इस तत्त्व के ऊपर प्रकृति या माया को प्रवेश करने का अधिकार नहीं है। यह सदा-शिव तत्व बाह्य उन्मेष-निमेषशाली है।

बाह्य-उन्मेष ही ईश्वर तत्व है।[५] ज्ञान की विकासोन्मुख तीसरी अवस्था को ईश्वर तत्व कहा है। ईश्वर तत्व में इदं अर्थात्

---

१. पं० काशीनाथ शास्त्री—शक्ति, विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त निरूपण, कल्याण, वेदान्त अंक, पृ० २३१।

२. नेत्र तंत्र, भाग २, पृ० २८७—२८८।

३. पं० काशीनाथ शास्त्री, ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी भाग २, पृ०१९४-९५।

४. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा ३।१।६।

अभिनव कृत विवृति

५. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा—३।१।३।

ईश्वर तत्व विश्व का स्फुट रूप से ज्ञान होने लगता है। यह तत्व सदाशिव का वाह्य रूप है, इस तत्व को विकास की दृष्टि से विश्व के उन्मेष का द्योतक कह सकते हैं। जगत् को अपने भिन्न रूप में देखना ही ईश्वर तत्व है। सम्पूर्ण पदार्थों के ज्ञान के पश्चात् यह स्थिति सम्भव है।

विद्या तत्व सम्पूर्ण पदार्थों एवं परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त कराने वाली शक्ति का नाम विद्या है।[1] इसमें शिव की क्रियाशक्ति का प्राधान्य रहता है, यहां ही जीवात्मा में अभेद तत्व का भी स्फुरण होने लगता हैं। ज्ञान की इस दशा में 'अहं' तथा 'इदं' का पूर्ण समानाधिकरण्य रहता है अर्थात् दोनों की समानरूपेण स्थिति रहती हैं।[2]

सांराश यह है कि परासंविन् का 'शिव-शवत्यात्मक रूप' सर्गात्मक होता है। शिव तत्व में 'अहं' विमर्श होता है, सदाशिव तत्व में 'अहमिदं' विमर्श और ईश्वर तत्व में 'इदमिदं' विमर्श होता है। इनके प्रत्येक स्थल में परमपद की प्रधानता रहती है। सद्विद्या में 'अहं' और 'इदं' दोनों की समभावेन प्रधानता रहती है। इस सद् विद्या तत्व में विश्व और 'अहं' दोनों की सत्ता रहती है किन्तु पूर्ण अभेदत्व यहां नहीं होता। सदाशिव तत्व प्रलय का द्योतक है और ईश्वर तत्व केवल उदय का द्योतक है और सद्विद्या तत्व में प्रलय तथा उदय अथवा निमेष तथा उन्मेष दोनों रहते हैं।[3]

शिव तत्व और विद्यातत्व के समान ही आत्म तत्व का भी दर्शन क्षेत्र में प्रमुख स्थान है। इस तत्व में पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, पंच विषय और पंच भूत तथा माया, कला, विद्या आदि हैं। वस्तुतः उक्त तत्व ही जीव के अस्तित्व को बनाए रखने में समर्थ हैं। आत्म तत्व के मुख्य तत्वों का विश्लेषण इस प्रकार है—

माया 'माया' शब्द 'मा' और 'या' पदों से बनता है। 'मा' का अर्थ प्रलयकाल में जगत् का अधिष्ठान, तथा 'या' का अर्थ सृष्टिकाल में अभिव्यक्त होने वाला पदार्थ है, अर्थात् प्रलयकाल में जिसमें जीव लीन हो जाते हैं तथा सृष्टिकाल में जिससे उत्पन्न होते हैं, उसका नाम माया है। अतः जगत् की मूल प्रकृति का नाम माया है।[4] यह शैवतंत्रों में वस्तु रूपा है, वेदान्त के समान अनिर्वचनीया नहीं। यह ही अशुद्ध सृष्टि

---

१. मृगेन्तन्त्र १।१६८–१६९।
२. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा ३।१।३।
३. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, भाग २, पृ० १९६–१९७।
४. श्री बलदेव उपाध्याय, आर्य संस्कृति के मूलाधार, पृ० ३४५–४६।

का मूल कारण है। यह एक तथा नित्य है। उपनिषदों में ईश्वर की सृजन शक्ति, जीव की अविद्या तथा आचार की कुटिलता के अर्थ में माया शब्द का प्रयोग हुआ है। शंकराचार्य ने भी 'माया' शब्द का प्रयोग ईश्वर की सृजन-शक्ति अथवा अविद्या के उपनिषद् सम्मत अर्थ में ही किया है। इस प्रकार 'माया' उपनिषदों और शंकराचार्य दोनों के अनुसार, ईश्वर की शक्ति और अविद्या तथा उसके परिणामभूत मिथ्याचार के अर्थ में पाई जाती है।[1] इसे विश्व की एक ऐसी शक्ति माना गया है, जो शिव से अभिन्न, होकर भेदपूर्ण सृष्टि उत्पन्न करती है।[2] इसको जड़ कहा है, क्योंकि यह स्वयं भेदरूप जड़ कार्य करती हैं। यह सूक्ष्य एवं व्यापक है, शिव शक्ति से अभिन्न, विश्व का मूल कारण मानी गयी है। माया के सम्बन्ध में शैव सन्तों की धारणा है कि वह परमात्मा (सत् पुरुष) से उत्पन्न है तथा उसका कार्य सृष्टि का सृजन है। इसके दो रूप हैं– सत्य और मिथ्या। माया का सत्य रूप 'सत् पुरुष' की प्राप्ति में सहायक है तथा मिथ्या माया मनुष्य को ईश्वर से विमुख करती है। यह मिथ्या माया धोखे में डालने वाली तथा त्रिगुणात्मक है, यह जन्म, पालन और संहार भी करती है।

माया के भेद

यह माया ईश्वर की शक्ति है। परमात्मा निराकार है और इच्छा शक्ति साकार। इच्छा शक्ति द्वारा चित्रित जगत् के चित्र में माया, महामाया और योगमाया का ही विवरण है।[3] उक्त 'इच्छा' अथवा 'विमर्श' के 'चिद्रूपा' तथा 'माया रूपा' दो भेद बतलाये गए हैं और चिद्रूपा तथा 'मायारूपा' दोनों में अविनाभाव सम्बन्ध माना गया है।[4] माया को योगमाया, महामाया और माया भेद से तीन प्रकार का माना गया है। माया चिद्रूपिणी शक्ति का सगुण रूप है, वह काष्ठ में अग्नि के समान ही इस चिद्रूपिणी शक्ति में प्रच्छन्न रहती है। तंत्रमत में महामाया, माया और मायातत्व आदि शब्द माया के के लिए ही प्रयुक्त होते हैं। दार्शनिकों ने विमर्श के चिद्रूपा और माया रूपा भेद को ही समवायिनी और परिग्रहरूपा भी कहा है। यह परिग्रह रूपा-शुद्ध

---

१. डा० रामानन्द तिवारी-शंकराचार्य का आचार दर्शन, पृ० ६१।
२. तन्त्रालोक, भाग ६, पृ० ५५।
३. श्री पारसनाथ, 'माया, महामाया, योगमाया,'
—कल्याण, साधना अंक, पृ० ३६९।
४. आर्थर एवेलेन-शक्ति एण्ड शाक्त, पृ० १३६।

और अशुद्ध भेद से दो प्रकार की मानी गयी है। समवायिनी स्वाभाविकी है जो शिव में नित्य समवेत रहती है। परिग्रह शक्ति शुद्ध और अशुद्ध भेद से दो प्रकार की है। शुद्ध रूप को ही विन्दु या महामाया कहा जाता है,अशुद्ध रूप माया है।

महामाया और उसका कार्य क्षेत्र

यह शुद्ध परिग्रह रूपा महामाया या विन्दु विभिन्न अवस्था में अभिव्यक्त होती है। इनको परा, सूक्ष्मा और स्थूला कहा गया है।[1] बिन्दु की परावस्था ही महामाया है, यही परम कारण और नित्या है। इस महामाया के विक्षुब्ध होने पर शुद्ध धामों तथा उसमें निवास करने वाले मंत्रों अथवा मंत्रेश्वरों का जन्म होता है। इससे रौद्री ज्येष्ठा और वामा शक्तियां उत्पन्न होती हैं, इस शक्ति के रुद्र शिव रूप से रुद्र, ब्रह्मा और विष्णु उत्पन्न होते हैं और इनके क्रमिक संयोग से अग्नि, चन्द्र, सूर्य, तमस्, रजस्, सत्, ज्ञान, इच्छा और क्रिया आदि का जन्म होता है। इसे ही विकास का पहला क्रम कहा गया है। माया इससे सर्वथा भिन्न है।

माया और उसका कार्य क्षेत्र

'माया' अशुद्ध परिग्रह शक्ति का नाम है। यह महामाया की सूक्ष्म या दूसरी अवस्था है। अशुद्ध अध्वा का उपादान कारण यही है। श्रोत्, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण आदि पांच ज्ञानेन्द्रिय, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ-पांच कर्मेन्द्रिय, शब्द, स्पर्श, रूप, रस,गन्ध-पांच विषय, आकाश, वायु, वह्नि, सलिल, भूमि-पंच भूत तथा कला एवं कंचुक अशुद्ध अध्वा के ही अन्तर्गत हैं। यह सब माया का कार्य है। कलादितत्व समूह का अविभक्त स्वरूप माया है। इससे ही तत्व एवं भुवनात्मक कलादि तथा प्रकृति आदि साक्षात् या परम्परागत रूप से उत्पन्न होते हैं। संक्षेपतः समग्र अशुद्ध अध्वा का मूल कारण यही माया है। इसे 'जननी' तथा 'मोहिनी' भी कहा है। यह शुद्ध और अशुद्ध परिग्रहा शक्ति आत्म तत्व की अभिव्यक्ति में प्रमुख अंश है। इनके समान ही चिद्रूपा अथवा समवायिनी शक्ति का शिव के सम्बन्ध के कारण अनन्य महत्व है। परिग्रह शक्ति अचेतन और परिणाम शीला है।

सारांशतः समवायिनी शक्ति दृक् शक्ति (ज्ञान शक्ति) तथा क्रिया शक्ति (कुण्डलिनी) भेद से दो प्रकार की मानी गयी है। कुण्डलिनी 'जननी महा-कुण्डलिनी,' परावाक्, शब्द ब्रह्म स्वरूप, सर्वत्र व्यापक और तत्वज्ञान की साधन

---

१. श्री गोपीनाथ कविराज, तांत्रिक दृष्ट, कल्याण-साधना अंक, पृ० ४८१।

भूत चित्स्वरूपा भी कही गई है।[1] यही आत्म विमूढ पुरुषों के बन्धन का हेतु है, योगाभ्यास द्वारा जाग्रत कर लेने पर वही मोक्ष प्रप्ति में सहायक होती है। इसके चिद् और जड़ दो अंश हैं । इसका अचिद् अंश माया कहलाता है जिसको शैवमत में 'विच्छीला,' 'चिद्‌मिणी' माना गया है। यह अनन्त-रूपा, अन्नत-ज्योतिर्मयी शक्ति विश्व चेतना है जो प्रकृति और प्रधान नाम से अभिहित हुई है।

प्रकृति

यह प्रकृति महामाया की स्थूल अथवा तीसरी अवस्था है।[2] यह जड़ रूपा महामाया चित्रूप महाकुण्डलिनी में अन्तर्निहित रहती है और असंग शिव की चिद्रूप शक्ति में अधिष्ठित होकर सकल ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करती है।[3] सृष्टि के विकास के समय प्रकृति कुण्डलिनी शक्ति को आच्छादित कर लेती है। इसी कारण यह विश्व प्रकृति आद्या शक्ति भी है।

विद्या-अविद्या

द्वैत विशिष्ट रहने से यह शक्ति अविद्या, और द्वैत प्रपंच रहित रहने से शुद्ध विद्या अथवा ब्रह्म विद्या कहलाती है। अविद्या बन्धन और शुद्ध विद्या मोक्ष का हेतु होती है। अभेद भावना को ही ब्रह्म विद्या, महाविद्या, शुद्धविद्या तथा राजविद्या नामों से पुकारा गया है। यह विद्या भगवान की आत्मभूता पराशक्ति है और लोक विमोहिनी अविद्या अपरा शक्ति है। पराशक्ति द्वारा अपरा-शक्ति माया नष्ट होती है और पराशक्ति के स्पंदन से अपरा-शक्ति जाग्रत होती है। अपरा-शक्ति के जाग्रत होने पर पराशक्ति का नाश नहीं होता। अपरा-शक्ति क्रिया प्रधान है। इस प्रकार शुद्ध बिन्दु क्षुब्ध होकर शुद्ध देह, इन्द्रिय भोग और भुवन के रूप में परिणत होता है, जिसे शुद्ध अध्वा कहते हैं। यही दूसरी ओर शब्द की उत्पत्ति भी करता है।

शब्द प्रपंच

शब्द दृष्टि में भी पहले शब्द सृष्टि होती है। शब्द सूक्ष्म नाद, अक्षर बिन्दु और वर्ण भेद से तीन प्रकार का है। सूक्ष्म नाद अभिधेय बुद्धि का कारण। यह ही बिन्दु का प्रथम प्रसार है, यह चिन्तन शून्य है। इसका परामर्श-ज्ञान एवं कार्य स्वरूप ही अक्षर-बिन्दु है। अक्षर बिन्दु में स्थूल वाणी का सम्पूर्ण वैचित्र्य अव्यक्त रूप से अभिन्न होकर

---

१. सिद्ध सिद्धान्त पद्धति, पृ० ४७।
२. श्री गोपीनाथ कविराज, तांत्रिक दृष्टि, कल्याण-साधना अंक, पृ० ४८१।
३. श्री गोरखनाथ, सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति, पृ० १९।

रहता है। इस श्रोत-ग्राह्य स्थूल शब्द की उत्पत्ति आकाश और वायु से होती है।[१] तांत्रिकों के अनुसार परमेश्वर जनित महामाया या विन्दु का क्षोभ होने पर शब्द की उत्पत्ति होती है। यह शब्द, परव्योमस्वरूपा महामाया कुण्डलिनी का परिणाम है। पचभूत आकाश जिस प्रकार अवकाश दान तथा स्थूल शब्द के अभिव्यंजन से सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिर्मण्डल का भोग एवं अधिकार सम्पादन करता है, उसी प्रकार विन्दुरूप परमाकाश भी अवकाशदान तथा शब्द व्यंजन के द्वारा शुद्ध जगत् के भोग तथा अधिकार का कारण बनता है। इस प्रकार ये विविध शब्द मिल कर सृष्टि का विकास करते हैं।

नाद एवं बिन्धु

सूक्ष्मनाद अभिधेय बुद्धि का कारण तथा स्वयं क्रिया रूप है जिसकी परनाद रूपी ब्रह्म से उत्पत्ति मानी जाती है। नाद के रूप में प्रस्फुटित आत्मा ही, जीव की प्राण वायु से प्रेरित होकर अक्षरों का रूप धारण करता है। यह नाद सारे विश्व में व्याप्त है। तंत्र ग्रन्थों में कुण्डलिनी को भी नाद रूपा माना गया है, नाद से विन्दु की उत्पत्ति मानी है। नाद एवं विन्दु में क्रियाशक्ति निहित है,[२] इनको, सृष्टि को जन्म देने के लिए उत्सुक शक्ति की अवस्था माना है। विन्दु के भी कई भेद किये गए हैं। इनमें पराविन्दु का ही विशेष उल्लेख मिलता है। पराविन्दु' भी 'नाद' और 'जीव' में विभाजित हो जाता है। आगम शास्त्र में विन्दु को 'शिव' तथा बीज को शक्ति और नाद को उन दोनों का समवाय स्वरूप माना है। पराविन्दु में विन्दु और बीज अर्थात् शिव और शक्ति की अवस्थिति समवाय सम्बन्ध से रहती है, यही सम्बन्ध नाद है।

त्रिबिन्धु

बीज, विन्दु और नाद की समन्वित अवस्था को त्रिविन्दु कहा गया है। यह प्रकाश और विमर्श का समष्टि रूप भी कहा जाता है, इसकी उत्पत्ति पराविन्दु से मानी गयी है। पराविन्दु शिव और शक्ति की अविभाजित अवस्था है। नाद, बिन्दु और बीज क्षोभावस्था का परिणाम होता है, जिसे दोनों का आन्तरिक सम्बन्ध भी कहते हैं। यह पराविन्दु शक्ति वाक् रूपा है।

बिन्दु की शब्दात्मिका वृत्ति

विन्दु की शब्दात्मिका वृत्ति अथवा वाक् शक्ति वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती भेद से तीन प्रकार की है। विन्दु, परा, पश्यन्ती आदि शब्दात्मिका वृत्तियों से अविकल्प ज्ञान उत्पन्न होता है। विकल्प ज्ञान का अनुभव विन्दु

---

१. गोपीनाथ कविराज–तांत्रिक दृष्टि, कल्याण का साधना अंक, पृ० ४८०।
२. आर्थर ऐवेलेन–दी गारलैण्ड आफ लैटर्स, पृ० १२५।

के कार्य शब्द की सहकारिता से ही होता है। वाचक से पृथक् वाच्य की सत्ता है ही नहीं, केवल वाचक ही विद्यमान है, ज्ञान मात्र ही वाक् स्वरूप है। यह ज्ञान ही भिन्न वाक् शक्तियों से अभिव्यक्त होता है।

बैखरी अर्थवाचक स्रोत ग्राह्य स्थूल शब्द ही बैखरी है। कण्ठ आदि स्थानों से आघात होने पर वायु वर्ण का आकार धारण करता है, यह शब्द प्राण की वृत्ति को आश्रय करके प्रयुक्त होता है, भौतिक कानों से इसे सुना जा सकता है। इसके उद्भव में वायु और आकाश सहायक होते हैं,[1] यह सभी व्यक्त ध्वनियों की प्रतीक है। बैखरी के द्वारा ही, व्यक्त और अव्यक्त वर्ण, साधु और असाधु शब्द तथा इसी प्रकार के अन्य शब्दों का द्योतन होता है।[2] इन्द्रियों के अभिघात से, प्राण में स्थूल वृत्ति का उदय होने पर, बैखरी वाक् का उदय होता है। कण्ठ, तालु आदि के स्थान से वस्तुतः बैखरी के नाम से पश्यन्ती ही अभिव्यक्त होती है।

पश्यन्ती वाक् शक्ति नाभि प्रदेश में आकर जब स्थूल वर्ण रूप को धारण करती है, तब उसका नाम पश्यन्ती हो जाता है। इसके साथ मन का भी सम्बन्ध रहता है, इसे अक्षर विन्दु भी कहा है, यह स्वयं-प्रकाश होती है,[3] यह क्रम हीन है अर्थात् इसका प्रधान लक्षण यह है कि यह 'प्रतिसंहृतक्रमा' होती है। यह चल और अचल दोनों है, अर्थात् शब्द की अभिव्यक्ति में गति के कारण यह 'चला' है, अपने विशुद्ध रूप में निःस्पन्द रहने के कारण यह अचला कहलाती है।[4] इसके अनेक भेद होते हैं, परन्तु अपने मूल रूप में यह क्रम रहित, स्वप्रकाश तथा संविद्रूप है, इसी मूल तत्व को 'सत्ता' या प्रतिभा भी कहा गया है, इसे ही 'शब्दब्रह्म' के रूप में भी स्वीकार किया गया है। यही शब्द तत्व विश्व का आधार है, हेतु और कारण है, शब्द ब्रह्म और शुद्ध ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है, पूर्ण एकत्व है। इस प्रकार यह पश्यन्ती शक्ति स्वयंप्रकाश है और मध्यमा से भी सूक्ष्मतर होती है।

मध्यमा वाक् की अन्तः संनिवेश शक्ति ही मध्यमा है। यह अन्तः संकल्प होती है तथा वेखरी की अपेक्षा सूक्ष्म होती है, इसका व्यापार भीतरी होता है। यह सूक्ष्म प्राण शक्ति के द्वारा परिचालित होती है। वक्ता

---

१. डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत—हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृ० २१५।

२. बलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शन, पृ० ५७५।

३. डा० गोविन्द त्रिगुणायत-हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृ० २१६।

४. श्री बलदेव उपाध्याय-भारतीय दर्शन (छठा संस्करण), पृ० ५७६।

की बुद्धि में शब्द क्रम रूप से प्रतिभासित होते हुए प्रतीत होते हैं। चिन्तन का कार्य मध्यमा वाक् करती है, भौतिक कान इसे सुन नहीं सकते इसी का नाम परामर्श ज्ञान है। यह शुद्ध बुद्धि का परिणाम है और क्रम-विशिष्ट है। यही स्थूल शब्द का कारण है। शब्द के-उच्च, मन्द, उपांशु, परमोपांशु तथा संहृतक्रम आदि पांच औपाधिक भेद होते हैं। इनमें उच्च तथा मन्द का सम्बन्ध वैखरी से और उपांशु तथा परमोपांशु का सम्वन्ध मध्यमा से है। संहृतक्रम का सम्बन्ध पश्यन्ती से है।

इस प्रकार 'पश्यन्ती वाक्' को ही परब्रह्म स्वरूपिणी माना है, अक्षर, शब्द ब्रह्म, परावाक् इसी के नामान्तर हैं। परावाक् से उत्पन्न इच्छा, क्रिया और ज्ञान रूपात्मक त्रिविन्दु से अनेक मात्रिकाएं उत्पन्न होती हैं। ये ही वाक् परस्पर मिल कर मूल त्रिकोण अथवा महायोनि के रूप में परिणित होते हैं। पश्यन्ती इसकी वाम रेखा है, वेखरी दक्षिण रेखा है और मध्यमा सरल अग्ररेखा है। मध्यस्थ महा-विन्दु ही अभिन्न-विग्रह शिव और शक्ति का आसन है, त्रिकोण का प्रत्येक स्तर ही प्रकाश तथा विमर्शमय अर्थात् शब्द और शब्दमय है। प्रत्येक चक्र में 'अ' कार से लेकर 'क्ष' कार पर्यन्त वर्णमाला तथा शिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त तत्व समूह अभिव्यक्त होते हैं। पंचतत्व, मन, चित्, अहंकार के द्वारा शरीर और जड़ जगत् तक पहुंचा जा सकता है।

कारण-कार्य सम्बन्ध

इस प्रकार कहा जा सकता है कि शुद्ध तत्वमय-कार्यात्मक-शुद्ध-जगत् का उपादान 'विन्दु' है तथा 'कर्ता' शिव है और 'करण' शक्ति है। अशुद्ध तत्वमय जगत् में भी परम्परा से 'शिव' और 'शक्ति' ही 'कर्त्ता' एवं 'करण' हैं तथा निवृति आदि कलाओं के द्वारा विन्दु आधार है। ये शिव ही अपनी अद्वितीय शक्ति समूह के द्वारा लोकों के ईश्वर हैं, देवताओं के स्रष्टा और पालक हैं, ये ही सर्वव्यापी शिव हैं। ये ही परब्रह्म हैं, सदसत् सभी वस्तुएं शिव से उत्पन्न होती हैं। ये ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव नाम धारण कर सृष्टि, स्थिति और संहार करते हैं। प्रलय काल में ये कार्य-कारण के चक्र के संचालन कर्म से विरत हो जाते हैं, 'कुल' और 'अकुल' के भेद से परे हो जाते हैं, शक्ति भी परम शिव में तत्वरूपा होकर अवस्थान करती है। शक्तिमय शिव अव्यक्तावस्था में विराजमान रहते हैं। अपने भोक्तृत्व रूप का अनुभव करने के लिए ही परमेश्वर इस शक्ति-रूपिणी मूल प्रकृति को बार-बार क्षुब्ध कर उसे सृजन के लिए उन्मुख करते हैं, अतएव वे स्वयं अपने को ज्ञेय और ज्ञाता के

रूप में विभक्त कर लेते हैं अर्थात् वे स्वयं ही शिव हैं और सृष्टि का सृजन करने वाले सृष्टा भी हैं। ज्ञेय सर्वदा ज्ञाता का उन्मुख है अतः वह कभी भी ज्ञाता की स्वतंत्रता का खण्डन नहीं करता।

ज्ञेय रूप में, नाना रूपों के द्वारा अविच्छिन्न घटादि के रूप में अभिव्यक्त सृष्टि परमेश्वर की शक्ति का ही नाम है। शक्ति द्वारा सृजित यह विश्व ब्रह्माण्ड परमेश्वर के अपने विभक्त संवित् में अपना ही प्रतिकलन मात्र है, अपनी चेतना में अपने को ही दृश्य रूप में देखना है। शक्ति के द्वार पर अपने ही अन्दर जब तक अपना प्रतिकलन नहीं होता, तब तक अपने को आप दिखाई नहीं पड़ता, अतः शक्ति के रूप में द्रष्टा शिव अपने को दृश्य बना देता है। इस प्रकार यह विश्व परम शिव का, चिद्रूप-स्वच्छ-अम्बर में, प्रतिविम्ब स्वरूप है जो स्वयं शिव के अपने प्रसाद से ही सम्भव है। शक्ति के द्वारा परमशिव के इस चिद्रूप प्रतिविम्ब को 'काम-कला' कहा गया है। शिव ही काम हैं और शक्ति कला हैं। काम-कला के रूप में, शिव-शक्ति के सामरस्य से ही सृष्टि का विकास होता है।

जगत्

जगत् रूप में शक्त्यात्मक विभु ही प्रस्फुरित होते हैं। सारी सृष्टि ही परमेश्वर का लीला स्पन्दन है। धारामयी शक्ति के कल्लोल के अन्दर से ही जगत् रूपी लहरी जाग्रत होती है। जिस प्रकार दूध में घृत सूक्ष्म रूपसे रहता है तथा घृत कार्य के प्रति दूध अव्यक्त कारण कहलाता है, इसी प्रकार जगत् कार्य के प्रति पराशक्ति अव्यक्त कारण कहलाती है, अपनी उत्पत्ति के पूर्व जगत् इसी पराशक्ति में लीन रहता है। यह पराशक्ति स्वेच्छा से अपने स्फुरण को स्वयं देखती है तभी विश्व की सृष्टि होती है। इस दृष्टि अथवा सृष्टि व्यापार में शिव तटस्थ रहते हैं, उनकी स्वातंत्र्य शक्ति ही सब कुछ करती है। संसार का मूल भूत कारण प्रकृति ही मानी गयी है। प्रकृति सत्व, रजस् और तमस् आदि तीन गुण सम्पन्न हैं। प्रकृति पुरुष के संयोग से इन गुणों में 'क्षोभ' अथवा 'चंचलता' उत्पन्न होती है और वहीं से सृष्टि का विकास क्रम आरम्भ होता है।[1] वस्तुतः ब्रह्म की इच्छा ही इस सम्पूर्ण प्रपंच शक्ति का कारण है।

ब्रह्म के आनन्द और चिद् धर्म के तिरोधान से उसका सदंश जगत् है।

ब्रह्म और जगत्

यह जगत् अनेक रूपात्मक है परन्तु यह अनेक रूपता ब्रह्म के एक सद् अंश का ही परिणाम है। ब्रह्म का अंश होने के कारण यह सत्ता सत्य है और अपनी आदि अवस्था में यह ब्रह्म से

---

१. धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी–संतमत का सरभंग सम्प्रदाय, पृ०१९।

अभिन्न है। ब्रह्म कारण है और जगत् कार्य। यह जगत् कार्य, कारण ब्रह्म में तिरोभूत रहता है. स्वेच्छा से परिणाम को धारण करने पर जगत् रूप कार्य अलग प्रादुर्भूत हो जाता है।[१] इस प्रकार ब्रह्म और जगत् के सम्बन्ध का विवेचन करते समय ब्रह्म को जगत् का कारण और, जगत् को कार्य अथवा ब्रह्म का परिणाम भी माना गया है।

परिणामवाद

'परिणाम' अथवा 'परिवर्तन' दो प्रकार का माना गया है, अविकृत और विकृत। अविकृत परिणाम के अनुसार पदार्थ रूप वदलने पर भी अपने पहले स्वरूप को प्राप्त कर सकता है। परिणाम में, परिणाम से पूर्व, परिणाम के समय और परिणाम के बाद, कारण और कार्य में, किसी प्रकार का अन्यथा भाव उत्पन्न न होने पर, वह परिणाम अविकृत परिणाम कहलाता है। मकड़ी अपनी इच्छा से ही तन्तु निकालती है, उसमें रमण करती है,फिर उसे अपने में ही समाविष्ट कर देती है, इसी प्रकार शुद्ध ब्रह्म ही जगत् रूप से अविकृत परिणाम को प्राप्त होता है। इस जगत् की उत्पत्ति ब्रह्म की इच्छा से होती है, इसका लय भी उसी की इच्छा के अधीन होता है। शिव की इच्छा से समस्त जगत् की सृष्टि होती है और उसी में सब कुछ लीन हो जाता है अर्थात् कारण ब्रह्म और कार्य जगत् दोनों सत्य हैं। शैवमत के वीर शैव सम्प्रदाय ने भी ब्रह्म और जगत् के सम्बन्ध में अविकृत परिणाम वाद को ही मान्यता दी है। इनके अनुसार पर-शिव इस जगत् का एक समय में विकास करते हैं और दूसरे समय में संकोच करते हैं, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कछुवा एक समय में अपने पैरों को वाहर निकाल कर पानी में चलता रहता है, तथा दूसरे समय उन पैरों को अपने में छिपा कर चुपचाप बैठा रहता है। इस प्रकार इस मत में एक ही स्वरूप का आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। अतएव इनके अनुसार यह जगत् सत्य है।

सत्कार्यवाद

सृष्टि के सम्बन्ध में सत्कार्यवाद का प्रयोग होने पर,जगत् की वास्तविक सत्ता तथा ब्रह्म के साथ इसके सम्बन्ध की व्यंजना होती है। वेदान्त के अनुसार भी कारण कार्य का मूल और आश्रय है, कारण के अभाव में कार्य की सत्ता सम्भव नहीं। कार्य और कारण का अपृथक् तादात्म्य है किन्तु एकत्व नहीं।[२] आचार्य शंकर ने कार्य और कारण का अपृथक् तादात्म्य तथा उसी से अनुगत जगत् और ब्रह्म के

---

१. डॉ० दीनदयाल गुप्त—अष्टछाप और बलल्भ सम्प्रदाय, पृ० ४३५।

२. डा० रामानन्द तिवारी—श्री शंकराचार्य का आचार दर्शन, पृ० ३८।

अपृथक भाव पर विशेष बल दिया है। आपके अनुसार कारण से पृथक कार्य की सत्ता सम्भव नहीं है, कार्य कारण से आत्मवान है, कारण कार्य से नहीं।[१] शंकर के अनुसार कार्य के रूप में परिवर्तन केवल मानसिक आरोप है जिसे अध्यास कहते हैं, समस्त आकार मिथ्या है, उन्होंने कारण के इस असत्य और काल्पनिक परिवर्तन को 'विवर्त' कहा है।[१] रामानुजाचार्य के अनुसार ईश्वर की सृष्टि उतनी ही वास्तविक तथा सत्य है जितना स्वयं ईश्वर। आपके शंकर के समान विवर्त को सृष्टि व्यापार में स्थान देकर परिणाम के सिद्धान्त को ही मान्यता दी है। शैवाचार्य श्री कण्ठाचार्य का सिद्धान्त रामानुज सिद्धान्त के नितान्त अनुकूल है। इस प्रकार जगत् रूप कार्य और ब्रह्म कारण के सम्बन्ध का विवेचन करते हुए कहा गया है कि ईश्वर धर्मी है और उसके अप्राकृत धर्म अभिन्न हैं। अतः सच्चिदानन्द ब्रह्म धर्म और धर्मी दोनों स्वरूपों में स्थित रहता है।

अंशांशी भाव

ब्रह्म का धर्म नित्य है, स्वाभाविक है। जड़ जगत् और जीव सृष्टि सच्चिानन्द ब्रह्म के अंश हैं। ब्रह्म का आनन्दांश अन्तरात्मा रूप से सर्व व्यापक है। जगत् के प्राणी और वस्तुओं में उसी महान् अन्तर्यामी के अंश हैं। अभिनवगुप्त ने परमेश्वर और जगत् का परस्पर सम्बन्ध दर्पण बिम्बवत् माना है। दर्पण में ग्राम, नगर, वृक्षादि पदार्थ प्रतिबिम्बित होने पर, मूल तत्त्व से अभिन्न होने पर भी, दर्पण में तथा परस्पर भी भिन्न प्रतीत होते हैं, इसी प्रकार संविद्रूप परमेश्वर में प्रतिबिम्बित यह विश्व ब्रह्म से अभिन्न होने पर भी घटपटादि रूप से भिन्न अवभासित होता है। लोक में प्रतिम्बित पदार्थ की सत्ता बिम्ब पर अवलम्बित है, परन्तु त्रिक्दर्शन में परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति के कारण, बिना बिम्ब के ही, जगत् रूप बिम्ब स्वतः उत्पन्न होता है। ब्रह्म और जगत् की अद्वैत भावना ही वास्तविक है। इस आभास को मानने के कारण त्रिक् दर्शन की दार्शनिक दृष्टि 'आभासवाद' के नाम से पुकारी जाती है, अर्थात् ब्रह्म और जगत् के सम्बन्ध को 'आभास' माना गया है।

इस प्रकार यह सृष्टि शिव से अभिन्न प्रकाश रूप है। शिव का उन्मीलन 'चिति' (शक्ति) की इच्छा पर निर्भर है। अतः जड़जड़ात्मक विश्व वैचित्र्य तथा सृष्टि की जाग्रत आदि अवस्थाएँ परमेश्वर की शक्ति के प्रसार हैं। प्रलय काल में यह जगत् सूक्ष्म रूप से परशिव में निहित रहता है, वट-

---

१. डा रामानन्द तिवारी—श्री शंकराचार्य का आचार दर्शन, पृ० ३८।

२. बलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शन, पृ० ५७६।

बीज में वट-वृक्ष के समान हो यह सृष्टि अपने आश्रय परमशिव में प्रलय काल में और उससे पूर्व भी उसमें विद्यमान रहती है।[१] शैवमत के अनुसार शिव अपनी शक्ति के द्वारा, इच्छा होने पर इस संसार का आविर्भाव तिरोभाव किया करते हैं, आद्या शक्ति, जो संसार का सृजन करती है, नित्य पदार्थ है अतः नित्य पदार्थ का विलय और प्रादुर्भाव होता है। विमर्श शक्ति का पुरुष में लय और प्रादुर्भाव बतलाते हुए इसकी तुलना उस व्यक्ति से की गयी है, जो एक समय में अपनी सर्प की केंचुली के समान स्वच्छ और सूक्ष्म चादर को ओढ़ लेता है। उससे आच्छन्न वह अपने प्रकाश से आचरण को प्रकाशित करता है और उसको समेट लेने पर अनावृत्त शुद्ध स्वरूप को प्रकट करता है। वस्तुतः न चादर के समेटने पर उसका विनाश होता है और न ओढ़ने पर उसकी उत्पत्ति। वह नित्य है, पुरुष से किसी भी दशा में उसका वियोग नहीं होता।[२]

सारांशतः ईश्वर अपनी माया शक्ति के द्वारा जगत् की सृष्टि करता है, इस माया से युक्त होने से परमेश्वर को मापी कहा गया है।[३] वही ज्ञेय और ज्ञाता रूप में व्यक्त होते हैं। प्रभु ईश्वर आदि संकल्प के द्वारा शिव स्वयं निर्माण करते हैं और यह निर्मित जीव उनका अंश है।[४]

जीव और शिव

प्रकृति से अविच्छिन्न चैतन्य जीव है।[५] सच्चिदानन्द अक्षर ब्रह्म के चिद् अंश से जीव की उत्पति मानी गयी है। परशिव की, एक से अनेक होने की इच्छा से उसके अंश रूप जीव की उत्पत्ति होती है अर्थात् सच्चिदानन्द शिव आनन्द शक्ति का तिरोभाव कर, चित् और सत् धर्म से अनेक जीवों का आविर्भाव करता है।[६] वेदान्त में चेतना के मित-तत्व को जीव की संज्ञा दी है, जीव में अमिता

---

१. श्रीकृष्ण काशीनाथ शास्त्री—आत्म तत्त्व, क्रियातत्त्व, शिवतत्त्व, तुरीयतत्त्व—कल्याण—साधना अंक, पृ० २८६।

२. त्रिपुरागम में अद्वैत तत्त्व, कल्याण, वेदान्त अंक।

३. डा० रामानन्द तिवारी—श्री शंकराचार्य का आचार दर्शन, पृ० ५९।

४. 'प्रविमज्यात्मनात्मानं सृष्ट्वा भावान् पृथाविधान्।
सर्वेश्वरः सर्वमयः स्वप्ने मोक्ताप्रवंते।
—ईश्वर प्रत्यभिज्ञा-१।५।१५-१६।

५. रंगनाथ, षड्दर्शन, पृ० ११२।

६. दीनदयाल गुप्त—अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृ० ४२१

अध्यात्म तत्व निहित रहता है, वही जीव का चरमाश्रय है।[१] आचार्य शंकर जीव को अनादि सत्तावान् माना है, अर्थात् वह अखिल व्यापक अध्यात्म तत्व से भिन्न नहीं है। जीव और शिव अभिन्न हैं, एक हैं। नाम-रूप की उपाधि से शिव ही जीव, अभिधा धारण कर लेता है। उपाधिवश संसार में फंसा हुआ जीव अपने को शिव से भिन्न समझता है। जीव और शिव में वास्तविक भेद न होकर औपाधिक भेद है।[२] उपाधि और उपाधि के वशीभूत जीवों का नियम न ईश्वर का धर्म है। जीव, स्वरूपतः नित्य-विभु-चेतन एवं अन्यान्य शिव धर्म से युक्त होने पर भी, संसारावस्था में इन सबका अनुभव नहीं कर पाता। उसकी चैतन्य शक्ति शिव की शक्ति के समान ही है, भेद केवल इतना है कि शिव के स्वरूप में यह सदा अनावृत रहती है और जीव में सदैव वर्तमान रहने पर भी वह पाशसमूह से अवरूद्ध रहती है।

जीव का स्वरूप

रामानुजाचार्य के अनुसार चित् या जीव ज्ञान स्वरूप है, इसका स्वरूप ज्ञानमय है। वह इन्द्रियों की सहायता के अभाव में भी विषय का ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ है, इसी कारण वह प्रज्ञानघन स्वयंज्योति, तथा ज्ञानमय कहा गया है। जिस प्रकार सूर्य प्रकाशमय भी है और प्रकाश का आश्रय भी, उसी प्रकार जीव ज्ञान स्वरूप भी है और ज्ञानाश्रय भी। जीव कर्त्ता है और प्रत्येक दशा में वह कर्त्ता ही रहता है।[३] जीव ही हंस है, वही व्यापक परशिव है और भुक्ति तथा मुक्ति दोनों का प्रदाता है। आत्मा को आत्मा ही बांधता और आत्मा ही मुक्त करता है। आत्मा ही आत्मा का गुरु है और वही प्रभु है।[४] जीव परिमाण में अणु तथा संख्या में अनेक हैं।[५]

अनेक शैवमतों में प्रत्यभिज्ञानदर्शन की विशेषता यह है कि वह जीवों को एक मात्र 'चिति' का प्रस्फुरण बतलाता है। आत्मा सदा पंच कृत्यकारी है, यह विश्वोत्तीर्ण, सच्चिदानन्द एक सत्य, अनन्त, सृष्टि स्थिति–लय का कारण, भाव अभाव विहीन तथा सूर्य कर्तृत्व से युक्त है। ज्ञान और क्रिया उसके लिए एक समान है और वीर शैव मत जीवों को शिव का अंश एवं शक्ति से विशिष्ट मानता है। साथ ही वीर शैवमत शिव और जीव में पारमार्थिक

---

१. रामानन्द तिवारी, शंकराचार्य का आचार दर्शन, पृ० ३९-४०।
२. डा० विमल कुमार जैन, सूफीमत और हिन्दी साहित्य, पृ० १७६।
३. बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० ४९९।
४. हजारी प्रसाद द्विवेदी, नाथ सम्प्रदाय, पृ० ६९।
५. बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० ५०१।

भेदाभेद सम्बन्ध स्थापित करता है। शैवमत में वेदान्त का जीव ही 'पशु' नाम से अभिहित किया गया है। प्रकाशरूपता के साथ पशु की अनेक रूपता भी प्रतिष्ठित है। ज्ञान और क्रिया शक्ति से युक्त होने के कारण उसे कर्त्ता भी कहा गया है। पशु ही पास से मुक्त होने पर शिव स्वरूप हो जाता है।[१] पाशुपत मत में पशु (जीव) को पति (शिव) और जगत् से भिन्न बतलाया गया है। पशु और पति,—जीव और शिव दोनों के गुण एक ही हैं। ईश्वर के अचित् पक्ष (संसार) में जीवात्मा चित् पक्ष है।[२]

जीव और माया

ईश्वर का चैतन्य अंश जीव मायाजनित भ्रम के कारण संसार चक्र में घूमता है। चैतन्य, अणुत्व और शुद्धता उसके स्वरूप-गुण हैं, अज्ञता, दुख और अशुद्धता, प्रकृति और उसके परिणाम के कारण जीव अविद्याग्रस्त रहता है।[३] ईश्वराद्वयवाद (प्रत्यभिज्ञादर्शन) में माया को आत्मा का स्वातंत्र्य-मूलक, अपनी इच्छा से परिगृहीत रूप माना है।[४] माया के कारण ही जीव भ्रमवश, प्रपंच में पड़ा हुआ अपने को ईश्वर से भिन्न समझता है। भ्रम रूप बन्धन के कारण उसका सर्वतत्व, सर्वक्तृत्व आदि पाश से आबद्ध रहते हैं।

जीव के भेद

पाशों के तारतम्य के कारण विभिन्न मतों ने पशु को विभिन्न रूपों में देखा है। शैव सिद्धान्त मत ने विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल भेद से जीव के तीन प्रकार माने हैं। वीर शैव मत ने अंग रूपी जीव को त्यागांग, भोगांग, और योगांग नाम से तीन प्रकार का माना है।[५] इसी प्रकार पाशुपत सिद्धान्त में जीव को, सांजन और निरजन भेद से दो प्रकार का माना है[६] यह जीव भेद प्रायः सभी सम्प्रदायों में मल के विभिन्न स्तर पर आधारित है। आचार्य वल्लभ ने जीव को शुद्ध, मुक्त और संसारी भेद से तीन प्रकार का माना है। उनके अनुसार आनन्द का तिरोधान और अविद्या से सम्बद्ध होने से पूर्व जीव शुद्ध और अविद्या से सम्बन्ध होने पर संसारी कहलाता है। देव और असुर भेद से वे दो प्रकार के होते हैं। इसी

---

१. डा० त्रिगुणायत, हि० की नि० का० धा० औ० उ० दा० पृ० १८९।
२. डा० विमल कुमार जैन, सूफीमत और हिन्दी साहित्य, पृ० १७७।
३. डा० यदुनाथ सिन्हा, भारतीय दर्शन, पृ० ३६६।
४. बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० ५९६।
५. काशीनाथ शास्त्री, शक्ति विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त निरूपण, कल्याण, वेदान्त अङ्क, पृ० २३३।
६. राजबली पांडेय, पाशुपत सिद्धान्त और वेदान्त, वही, पृ० ४५०।

प्रकार निम्बार्क ने जीवकी दो दशाएं–बद्ध और मुक्त, स्वीकार की हैं,[१] 'माध्व' ने मुक्तियोग, नित्य संसारी और तमोयोग्य आदि तीन प्रकार के जीव माने हैं ।[२] इस प्रकार गुणों के तारतम्य के कारण जीव भिन्न भिन्न श्रेणियों में अन्तभुक्त किया गया है ।

सारांशत: शैवमत की द्वैताद्वैत शाखा में पशु को पति और जगत् से भिन्न माना गया है । अद्वैत शाखा में पशु और पति अंशांशी भाव से युक्त कहा गया है तथा विशिष्टाद्वैत प्रधान शाखाओं में जीव को ब्रह्म की विशिष्ट शक्ति से अनुस्यूत माना गया है । जीव और जगत को ब्रह्म की ही सत्य शक्ति से युक्त होने के कारण सत्य माना है । माया नित्य, विभु और एक है, नित्य चैतन्य जीव को आच्छन्न किए रहती है । सद्विद्या के द्वारा ही जीव अपने शुद्ध स्वरूप को पहिचानता है, बाह्य दृष्टि से मनुष्य पशु से अधिक नहीं माना गया है ।[३] अपने संस्कारवश भाव से बद्ध होने के कारण वह स्वयं को महेश्वर से भिन्न समझता है । जीवात्मा में लगा हुआ मल ही दोष है ।[४]

पाश पाश का अर्थ है बन्धन, जिसके द्वारा स्वयं शिव रूप होने पर भी जीवों को पशुत्व की प्राप्ति होती है । शैवमत में ये पाश— मल, कर्म, माया और रोध-शक्ति नाम से चार प्रकार के बतलाये गए हैं । किन्तु जीवात्मा को आच्छादित करने वाले मल तीन ही (अविद्या, कर्म और माया) माने गए हैं ।

अविद्या को ही आणव मल कहा है । इसके कारण चैतन्य आत्मा अपने को शान्त, शरीर बद्ध, परिमित ज्ञान शक्ति वाला समझता है ।[५]

आणव आणव मल के कारण पशु का ऐश्वर्य लुप्त हो जाता है । इसी को अज्ञान भी कहा है, आगम शास्त्र में इने अख्याति कहते हैं, इस पाश को पशुत्व, पशुनीहार, मृत्यु, मूर्च्छा, मल, अंजन, आवृत्ति, ग्लानि, रूज, पाप, क्षय आदि भी कहा गया है ।[६]

कर्म दूसरा पाश 'कर्म' अविद्या का परिणाम है । चेतना आत्मा और अचेतन शरीर के संघात का कारण है । मनुष्यों की क्रिया शक्ति से उत्पन्न होने के कारण इसको कर्म कहा गया है । यह अदृष्ट और भोग्य

---

१. बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० ५०१ ।
२. वही, पृ० ४९४ ।
३. डा० द्वारिका प्रसाद, कामायनी काव्य में संस्कृति और दर्शन, पृ० ४८७ ।
४. "आत्माश्रितो दुष्ट भावो मलः"
५. राजबली पांडेय, पाशुपत सिद्धान्त और साहित्य, पृ० ४५० ।
६. वही, पृ० ४५० ।

है। इसी से शरीर का जन्म और धारण होता है। यह मानसिक, वाचिक और कायिक तीन प्रकार का होता है, यह प्रलय काल में परिपक्व होता और कल्प के आदि में प्रगट होता है और प्रलय काल में पुनः परमेश्वर की माया में पुनः विलीन हो जाता है।[१]

माया मल तीसरा मल 'माया' है, इसी से कर्म मल की उत्पत्ति होती है।[२] माया दुख का कारण, विश्व का बीज, शक्तिमती, आकर्मान्त जीव की बाधक, सर्वव्यापी और अक्षय तथा विश्व का उत्पादन कारण है। पाशुपत मत में जड़-माया जड़-जगत का उपादान है किन्तु वह असत्य एवं मिथ्या नहीं है। वह अक्षय और सनातन है।[3]

सारांशतः पाश सम्वन्धी ये सिद्धान्त, शब्द और अर्थ में, प्रायः अन्य सम्प्रदायों से समानता रखते हैं। पाशुपत मत के अनुसार कर्म के स्वामी महेश्वर हैं, भोग के पश्चात् वह उन्हीं में मिल जाता है। वेदान्त के ब्रह्म का कर्म से कोई सम्वन्ध नहीं, वह स्वतः कर्म से निर्लिप्त और उसके संचालन से परे है। महेश्वर जीवों पर अनुग्रह करके, उनकी मुक्ति के लिए, मलों का प्रवर्तन और विकास करते हैं।

कंचुक इन मलों को ही प्रत्यभिज्ञादर्शन में कंचुक कहा है जो कला, विद्या, राग, काल और नियति आदि नामों से अभिहित होते हैं। कला तत्व की उत्पत्ति माया से होती है। 'योनिवर्गः कला शरीरम्' के अनुसार संसार की समस्त चराचर वस्तुओं में प्रविष्ट, क्रिया-शक्ति के संकुचित कर्तृत्व को कला कहा है। यह शक्ति पुरुष के ऐश्वर्य को संकुचित रूप में प्रकट करती है।[४] वही चेतनाश्रित निश्चेतन तत्व है। आगम ग्रन्थों में इसे अमृता-कला वैसर्गिकी, सदाख्या, चित्कला और अमा-कला कहा है।[५] वही वैन्दवी भी कहलाती है।[६] इसके कारण जीव को अपने किंचित कर्म और ज्ञान का अनुभव होता है। वही दीपक के समान मायाजन्य अन्धकार को दूर करती है।[७]

---

१. राजवली पांडेय, पाशुपत सिद्धान्त और वेदान्त, कल्याण वे० अ०, ४५० ।
२. गोपीनाथ कविराज, तांत्रिक दृष्टि, कल्याण सा० अ०, पृ० ४६० ।
३. राजवली पांडेय, पाशुपत सिद्धान्त और वेदान्त, क० वे० अं०, पृ० ४५०-५१ ।
४. शिवशंकर अवस्थी, कला-कल्याण, जून, १९५४ ।
५. कला तत्त्व सन्दोह ।
६. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी-भाग २, पृ० २०८ ।
७. मृगेन्द्र तन्त्र १।१०।४-५ ।

'कला' से 'विद्या तत्त्व' की उत्पत्ति होती है, विद्यातत्व से जीवात्मा में ऐश्वर्य स्वभाव प्रकाशित होता हैं[1] जिससे बुद्धि में भावों के प्रतिविम्ब उपस्थित होते हैं। उसी से बुद्धि को अपना ज्ञान होता है।[2] विषयों का आकर्षण ही 'रागतत्व' है, वही भोग्य पदार्थ एवं चित् शक्ति के लिए अभिलाषा उत्पन्न करता है।[3] जीवात्मा को परिमित बनाने वाला तत्व 'कला तत्व' है, इसी के कारण 'घट क्रिया' और 'पट क्रिया' का विभाजन होता है, इसी तत्व के द्वारा निमेष, मुहूर्त, घड़ी आदि प्रत्ययों का ज्ञान होता है।[4] जीव को अपने अपने कर्मों में संलग्न करने वाले को नियति तत्व कहा गया है. वही नियामक तथा कार्य का निष्पादक तत्व माना गया है।[5] उसी से जीव की सर्वव्यापकता संकुचित हो जाती है।[6] कहने की आवश्यकता नहीं की कि कंचुकावृत्त होने से ही आत्मा परिमित हो जाता है कंचुक या मलापसरण ही जीव का लक्ष्य है।

मलापसरण

मल की निवृत्ति होने पर जीव का पशुतत्व दूर हो जाता है, मल से चित् और अचित् का अविवेक उत्पन्न होता है, मल—वायु ज्ञान द्वारा सम्भव नहीं है। मल तो द्रव्यात्मक है। ईश्वर के दीक्षा संज्ञक व्यापार के द्वारा इससे निवृत्ति होती है अर्थात् दीक्षा ही मल को दूर करती है। मल की शक्तियां अपने अपने रोध और अपसरण में ईश्वर की शक्ति के आधीन हैं, उपचार रूप में भगवान् की शक्ति ही अनेक रूप में व्यवहृत होती है। मल शक्तियां अपने आने वाले अधिकार के समय चैतन्य का रोध किये रहती हैं, भगवान् की शक्ति, उनका परिणाम करते हुए, निग्रह व्यापार का अनुसरण करती है[7] अर्थात् मल अधिकार समाप्ति परिणाम की अपेक्षा से होता है, परमेश्वर की अनुग्रह शक्ति के प्रभाव से ही परिणाम होता है।

---

१. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी – भाग २, पृ० २०२–२०३।
२. तन्त्रालोक भाग ६, पृ० १५६।
३. डा० द्वारिका प्रसाद, कामायनी काव्य दर्शन और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृ० ४२३।
४. पं० काशीनाथ शास्त्री, शक्तिविशिष्टाद्वैतसिद्धान्त निरूपण, पृ० २३३।
५. डा० द्वारिका प्रसाद, का० का० द० औ० उ० दा० पृ० भू०, पृ० ४२३।
६. हजारी प्रसाद द्विवेदी, नाथ सम्प्रदाय, पृ० ६७।
७. गोपीनाथ कविराज, तान्त्रिक दृष्टि, पृ० ४८६–८७।

शक्तिपात यह अनुग्रह ही शैवमत में शक्तिपात कहलाता है, इसके लिए दीक्षा तत्व की आवश्यकता है, भगवद्रूप गुरु दीक्षा द्वारा शिष्य का उद्धार करता है। शक्तिपात सर्वथा माया निरपेक्ष है। माया से निवृत जीव शक्तिपात के प्रभाव से भोग अथवा मोक्षरूपा सिद्धि प्राप्त करता है, कर्मादि सारे उपाय माया के ही अन्तर्गत हैं। ईश्वर माया से परे हैं, ईश्वर की स्वतंत्र इच्छा ही मोक्ष का कारण होती है जिसमें अनुग्रह का विशेष स्थान है।[1]

भक्ति परम शिव के अनुग्रह को प्राप्त करने के लिऐ वीर शैव मत में भक्ति आवश्यक साधन है। परमशिव के अनुग्रह से ही जीव उसे प्राप्त कर सकता है। गुरु की कृपारूपिणी दीक्षा भक्ति की बड़ी आवश्यकता होती है। दीक्षा प्राप्त कर लेने पर जीव शिवत्व को प्राप्त कर लेता है।[2]

मोक्ष इस प्रकार भक्ति एवं दीक्षा द्वारा प्राप्त शक्तिपात के प्रभाव से देह का नाश नहीं होता, केवल अज्ञान की निवृत्ति होती है, तदनन्तर अक्षय भोग और मोक्ष का स्वातंत्र्य प्राप्त होता है। आचार्य शंकर के अनुसार जीव' का 'ब्रह्म' में लय हो जाना मोक्ष है। जीव अपने दिव्य स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। यह न तो शारीरिक, मानसिक और धार्मिक कर्मों पर निर्भर है और ही उत्पन्न होता है।[3] शंकर के अनुसार मोक्ष आत्मा का प्राप्य स्वरूप हैं। इसमें आत्मा का ब्रह्म से अभेद नहीं होता, वह ईश्वर के ऐश्वर्य का भोग करता है, इससे प्राप्त आत्मानन्द के उपभोग में जीव के ब्रह्म के साथ साम्य होता है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन और मोक्ष काश्मीर शैव-दर्शन में आत्मानन्द ही को मोक्ष कहा गया है, वही चिदानन्द और वही सामरस्य एवं स्वातंत्र्य कहलाता है। उसकी प्राप्ति 'अहं महेश्वर' के ज्ञानोदय के साथ होती है।[4] आनन्द हृदय में स्थित है। प्राणवायु के प्रदेश में प्रवेश पाने पर ही परानन्द की प्राति होती है। आत्मा क्रमशः चिदानन्द प्राप्त करता है। वह चिदानन्दावस्था ही मोक्ष है। वही "शिवोऽहम्" की स्थिति है जिसे प्राप्त करने पर उसे अशिव या अमंगलकारी दुखों की ओर लौट

---

१. गोपीनाथ कविराज, शक्तिपात रहस्य, पृ० ६० ।
२. बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० ५८२ ।
३. यदुनाथ सिन्हा, भारतीय दर्शन, पृ० ३५५ ।
४. डा० त्रिगुणायत, हि० नि० का० धा० और उ० दा० पृ० भू०, पृ० १६१ ।

कर नहीं आना पड़ता ।[1] वह अखण्ड आनन्द रस में लीन हो जाता है। यही जीव की अनुत्तरावस्था है, वही शिवत्व है। आनन्द की प्राप्ति होने पर, रस की चरमावस्था में हृदय समान अनुभूति से आप्लावित रहता है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में समरसता का सिद्धान्त महत्वपूर्ण माना गया है। मन आनन्दपद में लीन होकर समरसता को प्राप्त करता है। वही सामरस्य कहलाता है।[2]

लिंगायत दर्शन और मोक्ष

लिंगायत दर्शन के अनुसार समरसता ही मोक्ष है। जीवात्मा अपने ही रूप में स्थित होकर समरसता का अनुभव करता है।[3] साधना के उपरान्त जिस आनन्द की प्राप्ति होती है उसे समरस और उस अवस्था को सामरस्य कहा है। दूध का दूध से मिलना, नीर का नीर से मिलना ही सामरस्य है। जिस प्रकार घटाकाश वृहदाकाश में लीन होता है उसी प्रकार आत्मा भी परमात्मा में लय हो जाता है। वेदान्त में भी समरसता के सिद्धान्त को अपनाया गया है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में ही केवल समरसता के प्राप्त होने पर जीवात्मा के अखण्ड आनन्द की बात कही गयी है। वह स्वतंत्रावस्था ही परमात्म भाव की सूचक है, विषमता की संकुचित अवस्था में सुख और दुख दोनों रहते हैं, समरसता की अवस्था में केवल आनन्द ही आनन्द रहता है।

पाशुपत मत और मोक्ष

आनन्द की प्राप्ति दुख की आत्यन्तिक निवृत्ति है। पाशुपत मत में यह दुखान्तावस्था दो प्रकार की मानी गयी है—अनात्मक और सात्मक। दुख की निवृत्ति के साथ सिद्धियां भी मिलती हैं। सांख्य दर्शन में भी मुक्ति की यही परिभाषा दी गयी है, वेदान्त के अनुसार अज्ञान की निवृत्ति ही मुक्ति है, अज्ञान ही सब दुखों का मूल है। दुखों का अत्यन्त उच्छेद अनात्मक मुक्ति है और ऐश्वर्य प्राप्ति सात्मक मुक्ति है।[4] शैव भक्त दुखों से निवृत्ति और शिव के परम ऐश्वर्य रूप आनन्द की प्राप्ति को ही मोक्ष मानते हैं। गोरखनाथ ने भी निर्विकल्पता को ही मुक्ति माना है, यह द्वैत प्रपंच की शान्ति से होती है, यह दशा ही अखण्ड आत्म बोध रूप दशा है, यही आत्मजागरण है।[5]

---

१. मृगेन्द्र तंत्र, योगपाद, पृ० ४२।

२. (क) स्वच्छन्द तंत्र—भाग २, पृ०२७६–२७७।
   (ख) आनन्द शक्ति विश्रान्ते योगी समरसो भवेत्।

३. लिंगधारण चन्द्रिका—भूमिका, पृ० १७८।

४. राजबली पांडेय, पाशुपत सिद्धान्त और वेदान्त, पृ० ४५१।

५. दादू की मुक्ति का रहस्य, सन्तवाणी (अंक ४), पृ० १५७।

सारांशतः स्वविमर्श अर्थात् स्वरूपानुभूति ही मोक्ष है। आगम में विमर्श-तत्त्व, जिसको आद्याशक्ति भी कहा है, ध्वंसशील नहीं है, उसे नित्य माना है, नित्य होने पर भी उसका विलय होता है।[१] बादरायण के अनुसार मुक्त जीव चेतन और सत्य कामादि गुणों से अलंकृत होता है।[२]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि शैवमत की आधार भूमि छत्तीस तत्व हैं। इसकी प्रत्येक शाखा में पांच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों, पांच तन्मात्रा और पांच स्थूल महाभूत आदि पन्द्रह तत्वों की मान्यता है। शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, सद्विद्या, माया, कला, विद्या, राग, काल, नियति, पुरुष प्रकृति तथा बुद्धि से पृथ्वी तक सभी तत्वों का विश्लेषण हुआ है। साख्य के समान ही यहां प्रकृति से बुद्धितत्व, बुद्धि से अहंकार, अहंकार से मन–पांच ज्ञानेद्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, पांच तन्मात्राएं और उनसे पंचभूत आदि की उत्पत्ति मानी गयी है।[३] जीवात्मा के साथ शरीर का सम्बन्ध ही मुख्य माना गया है। आगम ग्रन्थों के अनुसार यह विश्व और इसमें बसने वाले समस्त प्राणी शरीर हैं, जिनकी आत्मा शिव है, जीवात्मा असंख्य और शाश्वत हैं। ये सब परम शिव के अंश हैं। शरीर से संलग्न होकर जीवात्मा अविद्या, 'काम' और माया के विविध बन्धन में फंस जाता है। परमशिव के अनुग्रह से उसकी इस बन्धन से मुक्ति होती है। इस प्रकार आत्मा कर्मबन्धन से विमुक्त हो, आवागमन के चक्कर से निवृत, शिव समान होकर, उन्हीं के सान्निध्य से परमानन्द को प्राप्त करता है। सभी आगमों में जीव, बन्धन और ईश्वर का विवेचन मिलता है। उक्त सामान्य दार्शनिक तत्वों पर ही शैवमत के प्रायः सभी पूर्वोक्त सम्प्रदाय आधारित हैं तथापि अपनी विशिष्ट मान्यताओं के कारण अलग महत्ता लिये हैं।

निष्कर्ष

शैव सम्द्रायों की ऐतिहासिक विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि सैद्धान्तिक मान्यताओं के भेद से अनेक शैव सम्प्रदायों की तात्विक एकता वाधित नहीं होती। अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि सम्प्रदायों की भिन्नता भी केवल मौलिक एकता को प्रमाणित करती है। तामिल प्रान्त के शैवगण जो 'शैवसिद्धान्ती' नाम से विख्यात हैं, द्वैतवादी हैं। वीर शैव शक्ति विशिष्टाद्वैत के उपासक हैं। गुजरात और राजपूताने के पाशुपत द्वैतवादी है। इन सब से दार्शनिक दृष्टि में भिन्नता रखने वाला काश्मीर

---

१. ललिता प्रसाद डबराल–त्रिपुरागम में अद्वैत तत्त्व, पृ० ४६७।

२. श्रीकृष्ण दत्त भारद्वाज – ब्रह्म सूत्र के अनुसार मुक्त आत्मा का स्वरूप, —कल्याण, वेदान्त, अंक, पृ० १४५।

३. डा० द्वारिका प्रसाद, कामायनी काव्य में संस्कृति और दर्शन, पृ० ४२५।

का त्रिक् या प्रत्यभिज्ञादर्शन है जो पूर्णरूपेण अद्वैतवादी है। इन सब की पृष्ठ भूमि में मौलिक एकता व्याप्त है।

प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार एक ही अद्वय परमेश्वर परमतत्व है जो शिव तथा शक्ति का, कामेश्वर–कामेश्वरी का सामरस्य है। चैतन्यस्वरूप आत्मा जगत् के सभी पदार्थों में अनुस्यूत है। परमशिव चैतन्य आत्मा का ही अन्य नाम है। परमेश्वर विश्वात्मक रूप से प्रत्येक वस्तु में व्याप्त है किन्तु विश्वोत्तीर्ण रूप में सब पदार्थों का अतिक्रमण भी करता है। परमेश्वर के ये दोनों रूप अन्योन्याश्रित हैं। अतएव इनके पार्थक्य का अनुमान करना उचित नहीं है। परमेश्वर में सृष्टि और सृष्टि में परमेश्वर है। उनमें कारण कार्य सम्बन्ध है। कारण रूप में भी परमेश्वर और कार्य–जगत् रूप में भी परमेश्वर ही है। यही परमेश्वरता है।

परमेश्वर के अभेद सम्बन्ध को अनेक प्रकार से प्रतिपादित किया गया है। अभेदाभिव्यक्ति का विश्लेषण करते हुए कहा गया है कि जैसे नाली द्वारा तालाव और खेत के जल का एकीभाव होता है, उसी प्रकार विषयावच्छिन्न चैतन्य और अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य का वृत्ति द्वारा एकीभाव होता है। इस अभेदाभिव्यक्ति में उपाधि के रहने पर विम्ब और प्रतिविम्ब में भेद के अस्तित्व को माना गया है। विम्वोपेत ब्रह्म एवं विम्वोपलक्षित जीव चैतन्य हैं, वृत्ति के होने पर 'विषय' तथा 'विषयी' (चैतन्य) का अभेद ही अभेदाभिव्यक्ति है। विषय का अधिष्ठानभूत–विम्बस्वरूप–ब्रह्मचैतन्य साक्षात् आध्यात्मिक सम्बन्ध होने पर विषय का प्रकाशक होता है। अतः बिम्बत्वविशिष्ट–चैतन्य का, बिम्ब रूप से प्रतिबिम्बत्वविशिष्ट–चैतन्य रूप जीव के साथ, भेद होने पर भी विम्बत्व और प्रतिबिम्बरूप एकीभाव है। इस प्रकार इस दर्शन के अनुसार जीव और ब्रह्म का बिम्व प्रतिब्रिम्बभाव से नित्य सम्बन्ध माना गया है।

वीरशैव मत में भी परमशिव की सत्ता नित्य, सर्वस्वतंत्र, सृष्टि, स्थिति लय से परे, अवर्णनीय, अनिर्वचनीव चैतन्य रूप में स्वीकार की गयी है। वे अखिल जगत् के कर्ता, भर्ता, हर्ता पंच ब्रह्मरूप हैं। उनकी अलौकिक व्यापकता का विश्लेषण करते समय शक्ति के महत्त्वपूर्ण स्थान के कारण, वीरशैव मत शक्ति :विशिष्टाद्वैतवादी कहलाता है। इस मत की मूल धारणा के अनुसार ब्रह्म अपनी इच्छा से ईश्वर और व्यक्तिगत आत्मा में विभक्त होता है। यहां ब्रह्म के छः विभिन्न स्वरूप माने गए हैं—पूर्ण ब्रह्म, पराशक्ति से निर्माण करने वाला स्वरूप, वस्तु जगत् से भिन्न स्वरूप, भौतिक स्वरूप, ज्ञान स्वरूप और छठा आत्मप्रबोधक तत्व प्रदान करने वाला स्वरूप। यह विश्व शिव की इच्छा-

शक्ति के उद्वेलित होने पर, समुद्र में लहर और बुदबुदों के समान, अभिव्यक्त होता है। जीव शिव का ही अंश है। यहां जीव और ब्रह्म में द्वैताद्वैतवादी सम्बन्ध स्वीकार किया गया है।

शैवसिद्धान्त मत में जीव और परशिव में अद्वैत की कल्पना का आधार भिन्न है। इनके अनुसार जीव अनन्त हैं और शिव से भिन्न हैं, प्रत्येक का अपना अलग अलग अस्तित्व है। सूर्य के उदय होने पर आकाश के तारे दिखलाई नहीं पड़ते। उनका प्रकाश सूर्य के प्रकाश में लीन हो जाता है, किन्तु नक्षत्र अपने अस्तित्व को बनाए रखता है। इस प्रकार, इस दर्शन के अनुसार जीव और परमात्मा अपना अलग अलग अस्तित्व बनाए रखते हैं।

शैवमत में परमेश्वर समस्त सृष्टि के सृजन का कारण है। सृष्टि के सृजन और उससे सम्बन्धित अन्य शक्तियों का संचालन शिव ही करते हैं। माया प्रकृति का मुख्य स्वरूप है और महेश्वर मायिन् हैं। महेश्वर पूर्ण स्वतंत्र हैं। 'अ, उ, म' आदि ब्रह्मा, विष्णु और कालरुद्र के प्रतीक वर्ण महेश्वर में विलीन होते हैं। इन तीनों का मिश्रित रूप ही महेश्वर है। शिव के अतिरिक्त ब्रह्मत्व का अधिकारी और कोई नहीं है। श्वेताश्वतर उपनिषद में भी यही सिद्ध किया गया है। अतः ब्रह्म शब्द शिव का पर्यायवाची है। दार्शनिक दृष्टि से शिव अपरिवर्तनशील चेतन है, शक्ति उनका परिवर्तनशील रूप है। वही बुद्धि व वस्तु रूप में दिखलाई पड़ती है। इस प्रकार परिवर्तनशीलता में अपरिवर्तनशीलता मानी है। ब्रह्म रूप से शिव परिवर्तनरहित और शक्ति के सम्बन्ध के कारण परिवर्तनशील हैं।

शैवमत की इन विशिष्टताओं का प्रभाव अन्य दर्शनों तथा मध्यकालीन हिन्दी कवियों पर स्पष्टतः देखा जा सकता है। इनका सत्कार्यवाद, बिम्ब–प्रतिबिम्बवाद, अशांशीभाव, आभासवाद और समरसता का सिद्धान्त साहित्य की अनुपम निधि हैं। मोक्ष, आनन्दवाद, महाचिति और उसका लीलानिकेतन आदि से संबंधित मान्यताएं शैवों में भी स्वीकृत हो गई हैं जिनको हम वैष्णव कवियों की कृतियों में प्रतिरूपित देख सकते हैं।

(ख) योग दर्शन

'योग' शब्द युद् धातु में घञ् के योग से बना है जिसका अर्थ है 'एकता' 'अभेद' की प्राप्ति। विद्वानों ने 'योग' को अनेक अर्थों में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। किसी ने आत्मा–परमात्मा की एकता को योग कहा है, किसी ने लक्ष्य में मन के विलय की अवस्था

योग

को योग बतलाया है ।[१] इस प्रकार योग एक दशा में आध्यात्मिक और दूसरी में मानसिक स्थिति है । वस्तुतः ये दोनों दशाएं भी एक ही के दो पहलू हैं । समाधि दशा इन दोनों का समावेश कर लेती है ।

योग का लक्ष्य

योग शब्द के अनेक अर्थ और रूप हैं, पर सर्वसम्मत अर्थ चैतन्य के विविध स्तरों का खुलना ही है । इसका लक्ष्य, आत्मा की विज्ञानमय स्थिति पर पड़े हुए आवरण को हटाना, चित्त को अधिकाधिक चिन्मय बनाना और विश्व जीवन के जगमग प्राण स्वरूप को अपने में, अनुभव करना है । अतः इसका लक्ष्य मनोनिग्रह है, इसके द्वारा योगी आन्तर और बाह्य प्रकृति पर जय प्राप्त कर, सत्य (आत्मा) के साक्षात्कार की चेष्टा करता है । आत्म दर्शन द्वारा ही योगी आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दुखों से निवृत्त हो मोक्ष प्राप्त करता है ।[२] इस प्रकार योग का लक्ष्य विजातीय, स्वजातीय एवं स्वागत भेद से रहित, जीव और ब्रह्म का एकत्व है ।

योगी देह, मन, प्राण को शुद्ध और शान्त कर, मूलाधार से कुण्डलिनी को जाग्रत कर, चक्रों की शक्ति से विभूषित होकर, तन्मयत्व प्राप्त कर, ज्योतिर्मय देह से, सहस्रार स्थित सदाशिव के साथ आनन्द समाधि में विभोर रहता है ।[3] कहने की आवश्यकता नहीं कि योग अनिवार्यतः चित्तवृति के निरोध से सम्बन्धित है ।

योग का इतिहास

योग विद्या का अनादि काल से प्रचार है । इसके प्रथम प्रवर्तक कौन थे निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता परन्तु फिर भी 'आदिनाथ शिव' इसके प्रथम प्रवर्तक और आचार्य माने गये हैं । इसका प्रतिपादन संहिता, आरण्यक और उपनिषदों में मिलता है । छान्दोग्य,[४] वृहदारण्यक,[५] कठ,[६] मैत्री, श्वेताश्वतर[७] आदि उपनिषदों में तो

---

१. पातंजलि योगसूत्र—'योगश्चिवृतिनिरोधः' पृ० १२६ ।

२. अशेषतापतप्तानां समाश्रयमठो हठः।।
अशेषयोगयुक्तानामाधार कमठो हठः ।। —हठयोग प्रदीपिका १।१० ।

३. "सकलवृत्तिनिरोधे आत्मनः स्वरूपावस्थानात्" ,, ,, (टीका) ४।१०७ ।

४. छान्दोग्य उपनिषद् ८।६ ।

५. वृहदारण्य उपनिषद् ४।३।२० ।

६. कठ उपनिषद् १।१।१२, २।३।१०–११ ।

७. श्वेताश्वतर उपनिषद् २।७–१५ ।

योग की विशिष्ट प्रणाली का संकेत भी उपलब्ध होता है। इन उपनिषदों में योग के समस्त आसन, प्रणायाम, ध्यान, धारण व समाधि का पूर्ण विवेचन है। पातंजली ने अपने योग दर्शन में योग के सिद्धान्त एवं क्रिया का विशिष्ट वर्णन कर योग की महत्ता को प्रतिपादित किया। यदापि इसके विकास का कोई क्रमिक इतिहास नहीं पाया जाता फिर भी यह कहा जा सकता है कि योग के सिद्धान्त और योगिक क्रिया का प्रचलन निरंतर चलता आया है। मारकण्डेय मुनि द्वारा उपदिष्ट प्राचीन हठयोग में अष्टांगयोग को मान्यता मिली है। इसके अतिरिक्त हठयोग की दूसरी परम्परा, जिसे नवीन परम्परा कहा गया है, को नाथों ने पुनर्जीवित किया। कहने का तात्पर्य यह है कि 'आदिनाथ शिव' द्वारा प्रतिष्ठित योग साधना का निरन्तर प्रचार व प्रसार होता रहा। प्रायः सभी धर्मों ने इसे अपनाया, शैवमत का तो यह प्रधान अंग ही बना व आत्मस्थ शिव से ऐक्य स्थापित करने में यह साधन रहा है।

योग के प्रकार

पिण्डस्थ परमात्मा में पिण्डस्थ आत्मा को लय करने के सब प्रयासों को योग कहा गया है।[1] श्रीमद्भागवत गीता में भी लगभग अठारह प्रकार के योग की चर्चा की गई है।[2] कहने की आवश्यकता नहीं कि योग की अनेक शाखा-प्रशाखाएं मूल चार शाखाओं—मंत्रयोग, लय योग, हठयोग, तथा राजयोग से ही विकसित हुई हैं।[3] इनकी मान्यता योग-सम्प्रदाय में आज तक भी वनी हुई है। हां यह बात अवश्य है कि इतिहास के उत्तर मध्यकाल में जितनी लोकप्रियता हठयोग ने पाई उतनी अन्य किसी शाखा को नहीं मिली। यों तो प्रत्येक शाखा का अपना महत्त्व रहा। मंत्र योग भी अपने महत्त्व को बनाये हुए है और भारतीय धर्म-साधना में स्थान विशेष ग्रहण किये हुए है।

मंत्रयोग

मंत्र योग का मुख्य तात्पर्य है मंत्र के आश्रय से जीवात्मा और परमात्मा का मिलन। शब्दात्मक मंत्र के द्वारा जीव क्रमशः ऊपर गमन करता हुआ, शब्द से अतीत, परमानन्द धाम तक पहुंचता है। योग सूत्र में तस्य वाचक प्रणवः[4] के द्वारा मंत्र योग की ओर संकेत किया गया है। तंत्रमत में मंत्र का अनुपम महत्त्व है। वैष्णव दर्शन में भी मंत्र का महत्व स्वीकार किया गया। जप-साधना मंत्र योग की प्रमुख विशेषता है, इसके द्वारा चित्तवृति का निरोध होता है। इस दशा में

---

१. हठयोग प्रदीपिका ४।६६।

२. गीता १८।५२।

३. योगोहि बहुधा ब्रह्मन् भिद्यते व्यवहारतः।
मन्त्रयोगो लयश्चैव हठो असौ राजयोगकः।—योग उपनिषद्, पृ० ३६७।

४. पातन्जल योग दर्शन १।२७।

पहुँचने पर अव्यक्त भाव अपने आप उदित होता है, यही शब्द की तुरीय अवस्था है।

शब्द समस्त जगत् के केन्द्र में नित्य विद्यमान है, यही प्रणव स्वरूप है। प्रत्येक प्राणी 'हंस मंत्र' का नित्य अनुभव करता है। 'हंस' शब्द का विश्लेषण करते हुए कहा गया है कि श्वास के बाहर जाते समय 'हकार' की ध्वनि होती हैं और अन्दर जाते समय सकार की ध्वनि होती है। ये दोनों ध्वनियां मिल कर हंसमंत्र हो जाती हैं, इस मंत्र का जाप प्रत्येक प्राणधारी मनुष्य हर समय करता रहता है।[1] गुरु की कृपा से प्राण की विपरीताभावापन्न अवस्था में यही 'सोऽहं' मंत्र में परिणत हो जाता है। यही प्राण और अपान की ग्रन्थि है, इसी को 'अजमा' भी कहा गया है। इस मंत्र के समान ही शिव के पंचाक्षर 'ॐ नमःशिवाय' मंत्र के जप का भी अनन्य महत्व माना गया है। तंत्रों के उपदिष्ट देवता में ध्यान करते हुए साधक अपनी वृति को तदाकार कर देता है, उसकी वृति मंत्र में पूर्णतया लीन हो जाती है, इसी को मंत्रप्रधान लय योग भी कहा है।

लय योग

ध्येय में मन का लय करना ही लय योग है।[2] इसमें पवन स्थैर्य को प्रामुख्य दिया जाता है। पवन के निरोध से मन का निरोध और उससे प्राण का निरोध होता है। मन और पवन में से एक के बन्धन से दोनों का बन्धन होता है।[3]

जहां मन को विलीन किया जाता है वहीं पवन भी लीन हो जाता है और जहां पवन लीन होता है वही मन भी विलीन हो जाता है।[4] मन का

---

१. हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः
सहसेति मंत्रो यं सर्वजीवश्च जप्यते।
—योग शिखोपनिषद्, श्लोक, १३०।

२. "लयो विषय विस्मृतिः"।

३. पवनां बध्यते येन मनस्तेनेव बध्येत।
मनश्च बध्यते येन पवनस्तेन वध्यते॥
—हठयोग प्रदीपिका ४।२१।

४. मनो यत्र विलीयेत पवनस्तत्र लियते।
पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते॥
—वही ४।२३।

यह लय नाद श्रवण या ज्योति के दर्शन से सम्भव है ।[1] योगी शाम्भवी मुद्रा को साधते हुए, ध्यान को अन्तर्लक्ष्य पर स्थिर रखता है । इसका आधार सुषुम्ना नाड़ी है । इसी में ध्यान को केन्द्रीभूत कर साधक अनेक ध्वनियां सुनता है, ध्वनि से एकीभूत मन अनहद ध्वनि में लय होता है, यही नाद लय है । इसे ही कुण्डलिनी लययोग भी कहा गया है । इसमें शरीरस्थ सप्तम चक्र में स्थित "सहस्रदल कमल" में कुलकुण्डलिनी शक्ति को ले जाकर, सदा शिव (ब्रह्म) के साथ मिला दिया जाता है । अतः शिव में शक्ति का लय करना ही लय योग है ।

लययोग में साधक चलते समय, बैठते समय, खाते समय ईश्वर का ध्यान करता है, अतः इसमें ध्यान का विशेष महत्व है । जिसका सम्बन्ध मन और चित्त से है । अतएव मन का लय ही लय योग है । मन का लय होने पर उन्मनी अवस्था प्राप्त होती है । इसकी सिद्धि अष्टांग योग साधना पर निर्भर है ।

हठयोग

हठयोग का मूल प्रवर्तक कौन था, यह निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता । लोक प्रसिद्धि के अनुसार हठयोग के प्रथम आचार्य शिव बतलाये जाते हैं और मानवी आचार्यों में मार्कण्डेय मुनि को सबसे प्रथम आचार्य माना गया है । मध्य युग में मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ आदि संतों ने मार्कण्डेय ऋषि द्वारा प्रवर्तित हठयोग की ही पुनः प्रतिष्ठा की ।

भेद

हठयोग विद्या की नींव नाथों ने डाली, इसका निर्णय करना कठिन है क्योंकि एक अन्य परम्परा के अनुसार हठयोगियों के दो सम्प्रदाय हैं—एक प्राचीन, दूसरा आधुनिक, जिनकी नींव क्रमशः मार्कण्डेय और नाथों ने डाली । एक में अष्टांग की मान्यता है दूसरे में षडंग की ।

स्वरोदय में हठयोग के दो भेद बतलाए गए हैं । प्रथम में आसन, प्राणायाम तथा धोति आदि षट्कर्म का विधान है, इनसे नाड़ियां शुद्ध हो जाती हैं, इनमें प्रवाहित वायु मन को निश्छल करता है, फिर परमानन्द की प्राप्ति होती है । दूसरे भेद में नासिका के अग्रभाग में दृष्टि निबद्ध करके, सूर्य के प्रकाश का स्मरण तथा श्वेत, रक्त, पीत एवं कृष्ण रंगों के ध्यान का विधान है । इस विधि से साधक हठात् ज्योतिर्मय होकर शिवरूप हो जाता है ।[2] हठयोग ने

---

1. अंतःस्थं भ्रामरीनादं श्रुत्वा तत्र मनोनयेत् ।
   समाधिर्जायते तत्र आनंदः सोहमित्यतः ।। —घेरण्ड संहिता, पृ० ६४ ।
2. हठाज्ज्योतिर्मयोभूत्वा ह्यन्तरेण शिवो भवेत्
   अतो यं हठयोगः स्यात् सिद्धितः सिद्धसेवितः । प्राणतोषिणी, पृ० २३५ ।

यमनियम को छोड़ दिया है, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि यम नियम का हठ योग में कोई स्थान नहीं है, वरन् प्राणायाम आदि में यम नियम का समावेश स्वतः ही होता है।[1] इसीलिए हठ योग के ग्रन्थों में अष्टांग योग का भी उल्लेख आता है।[2]

हठयोगी 'हठ' शब्द का अर्थ करते हुए कहते हैं कि 'ह' वर्ण सूर्य का, और 'ठ' वर्ण 'चन्द्र' का वाचक है। इसी आधार पर 'हठयोग' उस योग को कहते हैं जिसमें 'सूर्य' और 'चन्द्र' को मिलाना ही साधना का लक्ष्य रहता है। अतः हठयोग का प्रमुख विषय 'चन्द्र सूर्य' की साधना है। हठयोग में स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर का परिणाम है। इसी कारण सूक्ष्म शरीर पर स्थूल शरीर का प्रभाव किसी न किसी रूप में पड़ा करता है। इसीलिए इसमें अनेक स्थूल साधनों से सूक्ष्म शरीर पर प्रभाव डाल कर चितवृति का निरोध किया जाता है। जिसका प्रथम सोपान देह शुद्धि है। 'चन्द्र' और 'सूर्य' 'प्राण' और 'अपान' के भी वाचक माने गए हैं।[3] इन दोनों का योग अर्थात् प्राणायाम से वायु का निरोध करना ही हठयोग है। दूसरी व्याख्या के अनुसार 'सूर्य' 'इड़ा' नाड़ी को कहते हैं और 'चन्द्र' पिंगला को। अतः इन दोनों का अवरोध कर सुषुम्ना मार्ग से प्राण वायु को संचारित करना 'हठयोग' कहा गया है।

देह की शुद्धि एवं दृढ़ता

देह शुद्धि हठयोग का अव्यवहित उद्देश्य है। योगियों की पारिभाषिक शब्दावली में वह षटशुद्धि के नाम से विख्यात है। जल में कच्चे घड़े के समान यह शरीर गलायमान है, अग्नि में पका लेने पर घड़ा कभी नहीं गलता। इसी भांति शरीर को योग रूपी अग्नि से भलीभांति पकाने पर योग मार्ग में सफलता मिलती है। अतः योगाभ्यास करने वाले को देह शुद्धि, देह की दृढ़ता आदि के लिए हठशास्त्रोक्त धोति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौलि एवं कपाल भाति आदि

---

१. सिद्ध सिद्धान्त संग्रह २।४६।

२. आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा
ध्यानं समाधिरेतानि योगांगानि वदन्ति षट्।
—गोरक्ष पद्धति, पृ० ८।

३. एतेन हठशब्दवाच्ययोः सूर्यचंद्राख्ययोः प्राणापानयो-
रैक्यलक्षणः प्राणायामो हठयोग इति हठयोगस्य लक्षणं सिद्धम्।
—हठयोग प्रदीपिका, १।२ (टीका)।

षट्कर्म करने चाहियें ।[1] इन षट्कर्मों से देह की शुद्धि होती है। आसन, मुद्रा का अभ्यास करने से देह की दृढ़ता और स्थिरता होती है। आसन, प्राणायाम कुम्भक मुद्रा, नादानुसन्धान आदि को हठयोग का प्रधान प्रतिपाद्य विषय माना गया है।

इन षट्कर्मों से नाड़ी के शुद्ध होने पर बिन्दु स्थिर होता है। सुषुम्ना का मार्ग शुद्ध हो जाता है, प्राण और मन क्रमशः अचंचल हो जाते हैं। यह तो प्रारम्भ में ही कह दिया गया है कि हठयोग का सार प्राण विजय है। ये अपनी साधना का आधार ब्रह्मचर्य या वीर्यनिरोध मान कर चलते हैं, उनकी साधना का प्रस्थान बिन्दु वायु निग्रह है। बिन्दु, वायु, तथा मन का एक दूसरे से गहन सम्बन्ध है अतः मनोनिग्रह प्राप्त करने के लिए आसन मुद्रा और नादानुसन्धान की आवश्यकता बतलाई जाती है। इन्द्रिय निग्रह द्वारा निवृति मार्ग का अनुसरण करने के लिए चित को एकाग्र करना, विशिष्ट यम नियमों का पालन करना, स्थिर आसन की साधना करना आदि अन्य साधनाओं के साथ अनिवार्य माने गये हैं।

कुण्डलिनि-उद्बोधन

साधना में कुण्डलिनी–उद्बोधन का विशिष्ट स्थान है। आसन के निरन्तर अभ्यास से शरीर हल्का, स्वस्थ और दृढ़ बनता है। इन गुणों के एक बार उपलब्ध होने पर उनकी क्रिया मन पर होती है। इस प्रकार वह प्राण वायु का निरोध कर कुण्डलिनी को उद्बुद्ध करता है। कुण्डलिनी षट्चक्रों का भेदन करती हुई अन्तिम चक्र सहस्रार में शिव से मिलती है। यह जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में निश्चेष्ट रहती है। आसन, मुद्रा आदि अनेक क्रियाओं के द्वारा यह जागृत होती है।[2] इसके उद्बुद्ध होने पर, तथा प्राणवायु की स्थिरता से साधक शून्य पथ से निरन्तर अनाहत ध्वनि सुनता है।

नाद-बिन्दु

नाद अखण्ड रूप से निखिल ब्रह्माण्ड में निरन्तर ध्वनित हो रहा है, यही कुण्डलिनी के उद्बुद्ध होने पर उससे होने वाला 'स्फोट' है। इससे प्रकाश होता है और प्रकाश ही व्यक्त रूप महा

---

१. धोतिर्बस्तिस्तथा नेतिर्लौलिकी त्राटकं तथा
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत —घेरण्ड संहिता, पृ० ४।

२. वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुंडलीम्
कुर्यादनन्तर महां कुंडलीमाशु बोधयेत्,'
—गोरक्ष पद्धति, पृ० २८।

विन्दु है, यही इच्छा-ज्ञान-क्रिया भेद से तीन प्रकार का माना गया है। इसी को योगी ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी कहते हैं।[1] यह नाद अनाहत भाव से सारे में व्याप्त है, उसी का प्रकाश जब व्यक्ति में होता है तब नाद और विन्दु कहलाता है। ब्रह्मरन्ध्र में ही परमतत्व की खोज में यह अन्तः श्रुतिगोचर होता है, यही ब्रह्मानुभूति है, परमतत्व की प्राप्ति है तथा शिव का[2] साक्षात्कार है।

सारांशतः इन्द्रिय निग्रह के द्वारा विन्दुरक्षा तथा प्राणसाधना में आसन प्राणायाम व प्रत्याहार और नाड़ी साधना द्वारा षट्चक्र आदि के उपरान्त साधक 'मनसाधना' में लीन हो जाता है।

राजयोग

मन साधना ही वास्तव में राजयोग है। यही राजयोग का प्राणभूत तत्व है अतएव चित्तवृतियों को वश में करना अथवा निरोध करना राजयोग का मुख्य लक्ष्य है। मन के निरुद्ध होने पर ही राजयोग की स्थिति प्राप्त होती है। इस निष्पति अवस्था में चित्त एकीभूत हो जाता है अर्थात् विषय और विषयी का अभेद होता है। चित्त की वही एकाग्रता राजयोग है।[3]

राजयोग अन्य तीनों योगों की चरम सीमा है अर्थात् पहले तीनों योग राजयोग की आवश्यक पृष्ठभूमि मात्र हैं। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार से संवलित अंतःकरण ही जीव के बन्धन और मुक्ति का कारण है अतः जीव बुद्धि की सहायता से तत्वज्ञान प्राप्त करके, ब्रह्म की अद्वैत सिद्धि के द्वारा मुक्त[4] हो जाता है। योग की सभी शाखाओं में राजयोग का सम्बन्ध केवल मन और मनः शक्ति से है। इसे क्रियात्मक मनोविज्ञान भी कहा गया है। इसका उद्देश्य सभी मानसिक बाधाओं से निवृत्त होकर मन को पूर्णतः स्वस्थ और संयमी बनाना है, इससे ही इच्छा शक्ति बलवती होती है, यह धारणा शक्ति को जाग्रत कर चरम उद्देश्य की प्राप्ति करता है। इसका उद्देश्य प्रकृति तथा आत्मा के रहस्य

---

१. हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ० ४६।

२. डा० विमल कुमार जैन, सूफीमत और हिन्दी साहित्य, पृ० १०५।

३. एकीभूतं तथा चित्तं राजयोगाभिधानकम्।
सृष्टिसंहारकर्तासौ योगीश्वर समो भवेत्।
—हठयोग प्रदीपिका, पृ० ४।७७।

४. राजयोगस्य माहात्म्यं को वा जानाति तत्वतः
ज्ञानं मुक्तिः स्थितिः सिद्धिर्गुरुवाक्येन लक्ष्यते।
—हठयोग प्रदीपिका ४।८।

का उद्घाटन करना है। इसका सम्बन्ध वासना क्षय से है, यही मन जय है। इसे समाधि योग भी कहा गया है। यही पवित्रीकृत मन का सहस्रार में लीन करना है। यही बिन्दु रूप शिव और रजरूप शक्ति के योग का विधान है।[1]

हठयोग प्रदीपिका में इसे उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लयत्व, शून्याशून्य, परमपद, निरंजन, जीवनमुक्ति, सहजा तुरीया आदि नामों से अभिहित किया गया है।[2] हठयोग साधना के समाप्त होने पर ही राजयोग साधना का प्रारम्भ होता है। अतः हठयोग को राजयोग की भूमिका में ही ग्रहण किया गया है। इसी से प्राचीन आचार्यों ने अष्टांग योगमार्ग से राजयोग या शिवयोग पर आरूढ़ होने का आदेश दिया है।

शैव योग

राजयोग और शैवयोग में पारमार्थिक दृष्टि से कोई भेद नहीं है।[3] हठयोग शैवयोग का साधन है। शिवयोग प्रदीपिका में कहा है—

शिव योगः साधकानां साध्यस्तत्साधनं हठः
तस्मादादौ प्रयोक्तव्यं हठयोगमिमं शृणु।'

शैवागमों ने महाकुण्डलिनी में वृतिज्ञान को लय कर, सर्वतोमुखव्याप्त शिवतत्वाभिव्यक्ति को ही शैव योग कहा है। शिवयोगी अष्टांग योग का साधन करते हुए अपने हृदय में परमात्मा शिव का अनुसन्धान करता है। वीरशैव मत के भक्त, महेश, प्रसादी, प्राणलिंगी, शरण, ऐक्य आदि षट्स्थल शिव योग के मुख्यांग हैं, यमनियमादि अष्टांगों का भी इन षट्स्थलों मे ही समावेश होता है। जिस प्रकार भ्रमरी के ध्यान से कीट भ्रमरी बन जाता है, उसी प्रकार शिव के ध्यान-योग से योगी शिव हो जाता है। कठोपनिषद् के अनुसार योग बल से पांचों ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि शिवपद में लय होती हैं। तभी परमगति प्राप्त होती है। योगाभ्यास के वल से ही जीव अपनी उपाधि का लय कर ब्रह्म पद को प्राप्त करता है।

---

१. योग शिखोपनिषद्, १।१३६–३७।

२. राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी
अमरत्वं लयस्तत्वं शून्याशून्यं परंपदम्
अमनस्कं तथाद्वैतं निरालंबं निरंजनम्
जीवन्मुक्तिश्च सहजातुर्या चेत्येकवाचकाः।
—हठयोग प्रदीपिका ४।४।

३. न भेदः शिवयोगस्य राजयोगस्य तत्वतः।—शिवयोग प्रदीपिका, पृ० ४।

शैवयोग में अन्य योगों का विनिवेश

ब्रह्मपद को प्राप्त करने के लिए नादानुसन्धान, पंचाक्षर मंत्र, आत्म-निग्रह, और अष्टांग योग की अनिवार्य आवश्यकता है। राज-योग के अभ्यास के लिए हठयोग अनिवार्य है। इसके द्वारा मनः शुद्धि होने पर मंत्रयोग द्वारा लयावस्था को प्राप्त करने के लिए नाम सहित नादानुसन्धान श्रेष्ठ माना गया है। मन और प्राण को लय करने में नाद के तुल्य कोई सुगम साधन नहीं है। जीव सृष्टि से उत्पन्न नाद ही ओंकार है। उसी को शब्द ब्रह्म कहा गया है। 'ओंकार' अर्थात् प्रणव ईश्वर वाचक है। प्रणव स्वरूप मंत्र सब विद्याओं का बीज है। इसी प्रणव से 'पंचाक्षर मंत्र' उत्पन्न हुआ। इस मंत्र साधना का शैवयोग में अनन्य महत्व है।

इसके बाद ही लयावस्था प्राप्त होती है। लयावस्था में ही राजयोग अथवा शैवयोग का पूर्णानन्द प्राप्त किया जा सकता है अतः सारांशतः यह कहा जा सकता है कि हठयोग, मंत्रयोग, लययोग आदि के अभाव में राजयोग की सिद्धि असम्भव मानी गयी है। इस प्रकार शैव योग में हठयोग, मंत्रयोग और लययोग के द्वारा राजयोग की प्राप्ति ही चरम लक्ष्य है।

शैवयोग की अनेक भूमिकाएं

शैव-योग की भूमिका में साधक एकमात्र शारीरिक साधना आसन, मुद्रा, प्राणायाम आदि के द्वारा हठात् चित्तवृति का नियंत्रण करता है। इस को योग का कायिक पक्ष भी कहा जा सकता है, यही योग की प्रथम भूमि है, इसी के द्वारा इन्द्रिय निग्रह और प्राणसाधना का क्षेत्र पुष्ट होने पर योग मार्ग में अग्रसर हुआ जा सकता है। दूसरी भूमिका शरीर की सतह से उठकर भावनाओं के क्षेत्र में पहुंचती है, और आसन प्राणायाम के माध्यम के बिना भी साधक आनन्द और मानसिक शान्ति की अनुभूति करता है। इस अनुभूति-योग से भी ऊंची तीसरी भूमिका है, जिसे ज्ञान-योग कहा गया है। वहाँ आसीन होकर अपनी विवेक बुद्धि के साथ अनुभूति का समन्वय करता है और आत्मतत्व तथा बाह्य जगत् के रहस्य में अवगाहन करता है। इसी को आध्यात्मिक क्षेत्र भी कहा गया है। 'ज्ञान योग' 'कर्म योग' का विरोधी नहीं होता। कर्मयोग से आत्मशुद्ध हो साधक विश्व की समस्या को अपनी समस्या समझने लगता है, 'वसुधैवकुटुम्बकम्' की भावना से ही प्रपंच में शुद्धतत्व की, (शिवात्मक) भावना होती है। 'मैं विश्वात्मा शिव ही हूं' इस प्रकार चिन्तन करने लगता है। ग्राह्य, ग्राहक, जीव-जीवात्मा में योगी समान आत्मभाव से रहता है अन्ततः वह बहिरुन्मेषरूप ईश्वर तथा अन्तर्निमेषरूप सदाशिव का समानाधिकरण्य अर्थात् 'यह सब मैं ही हूं' इस प्रकार की सद्विद्या प्राप्त करता है। 'आत्मा अजर,

अमर ब्रह्म की ही प्रतिमूर्ति है, 'आत्मा सम्बन्धी यह ज्ञान उसको 'देहोदेवालयः प्रोक्तः यो जीवः स सदा शिवः' स्थिति का अभास प्राप्त कराता है। उक्त अनुभूति योग एवं ज्ञान योग की पृष्ठभूमि हठयोग के अभ्यासों से ही सजाई जाती है।

कायिक भूमिका

साधना के आरम्भ में देह शुद्धि की आवश्यकता होती है। इसके लिए 'शम' 'दम' आदि सब प्रकार के साधनों की आवश्यकता होती है। बाहर के शौचाचार के साथ अन्तः शुद्धि का अंगांगी सम्बन्ध है। अन्तःकरण सतब्ध होने पर सर्वांग स्थिर हो जाता है, और सिद्धासन पर शरीर को बलात् अचल करने पर अन्तःकरण भी स्थिर होने लगता है। इसके लिए योग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम प्रत्याहार अंगो की आवश्यकता होती है।[1]

यम

यम का अर्थ है उपरति–अर्थात् काम इत्यादि से निवृत्ति। ये काया को योग साधना के अनुकूल बनाते हैं। योग सूत्र में यम पांच बतलाये गए हैं।[2] हठयोग प्रदीपिका में इनकी संख्या दस दी हुई है।[3] योग सूत्र के अनुसार अहिंसा, सत्य, अस्तेयब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि पांच यम हैं। हठयोग प्रदीपिका में क्रमशः इनके नाम अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धृति, दया, आर्जव, मिताहार और शौच हैं। दर्शनोपनिषद् में भी इन दस यमों का उल्लेख है।[4]

नियम

यम के समान ही योग साधना में 'नियम' का महत्व है। जन्म के हेतुभूत काम्य कर्म से जीव को निवृत्त कराकर निष्काम धर्मों में उसकी प्रवृत्ति कराने वाले धर्मों को नियम कहते हैं। हठयोगप्रदीपिका में तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, सिद्धान्त–वाक्य-श्रवण, ईश्वर का पूजन, लज्जा, वुद्धि, तप और होम आदि दस नियम

---

१. 'हठस्य प्रथमांगत्वादासनं पूर्णमुच्यते
कुर्यातदासनं स्थैर्यमारोग्यं चांगलाधवम्'।
—हठयोग प्रदीपिका १।१७।

२. योग दर्शन,२।२९।

३. अहिंसा सत्यामस्तेयं ब्रह्मचर्यं क्षमा धृतिः
दयार्जवं मिताहारः शौचं चैव यमा दशाः। —हठयोग प्रदीपिका १।१६।१।

४. अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्म दया अर्जवम्
क्षमा धृति मिताहार. शौच चेति यमा दश।
—दर्शनोपनिषद् १।६।

माने गए है।[1] दर्शनोपनिषद् में भी इन्ही दस नियमों को मान्यता दी गयी है।[2] योग सूत्रों में शौच, सन्तोष तपस्, स्वाध्याय ईश्वर प्रणिधान आदि पांच नियमों को मान्यता मिली है।[3] ईश्वर प्रणिधान प्रमुख नियम है। इसी के द्वारा साधक अभिप्सित मनोरथ सिद्ध करने की अपूर्व शक्ति प्राप्त करता है। यम नियम के द्वारा साधक एकाग्र होकर, इन्द्रियों को आधीन कर आत्मा के दर्शन की योग्यता प्राप्त कर लेता है।

आसन

साधक के सुख पूर्वक स्थिरता से बैठने की विधि का नाम ही आसन है। हठयोग का प्रथम अंग होने से आसन को प्रथम माना है, यह देह और मन की चंचलता रूप रजोगुण धर्म का नाशक है, योगी इससे चित्त विक्षेपक रोग का नाश करता है।[4] शिव संहिता में प्रमुखतः चौरासी आसन माने गए हैं।[5] गोरक्ष पद्धति में भी आसनों की इतनी ही संख्या मानी है,[6] किन्तु प्रमुख आसन सिद्धासन, पद्मासन, उग्रासन और स्वास्तिकासन को ही श्रेष्ठ माना गया है। इन चार आसनों में वायु धारण करके बैठने में कष्ट नहीं होता, इनसे प्रधान नाड़ी शीघ्र वश में हो जाती है। इन आसनों के द्वारा ही, प्राण और अपान वायु के विधान से, जीवन-मुक्त होने का भी विधान है।[7] घेरण्डसंहिता में भी इनको ही मान्यता प्राप्त

---

१. तपः संतोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्,
सिद्धान्त वाक्य श्रवणं ह्रीमती च तपो हुतम्।
—हठयोग प्रदीपिका १।१६।२।

२. दर्शनोपनिषद् २।१।

३. शौच सन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः।
—योग सूत्र २।३२।

४. "आसनेन रजो हंति"
—हठयोग प्रदीपिका १।१७ (टीका)

५. चतुरशीत्यासनानि सन्ति नानाविधानि च
सिद्धासनं ततः पद्मासनं चौग्रं च स्वास्तिकम्।
—शिव संहिता, पृ० ८३।

६. गोरक्ष पद्धति, पृ० ९।

७. पद्मासने स्थितो योगी प्राणापानविधानतः
पूरयेत् स विमुक्तः स्यात्यसत्यं सत्यं वदान्यहम्॥
—शिवसंहिता, पृ० १०१।

हुई है।[1] योग का प्रतिपादन करने वाले उक्त ग्रन्थों में इन आसनों के स्वरूप का विशद् चित्रण हुआ है। कमलासन के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि अपांग वायु को उठाकर प्राण को शनैः शनैः यथाशक्ति 'पूरक' करके धारण करे, बाद में वायु को बाहर निकाल दे।[2] प्राण और अपान की एकता के द्वारा मनुष्य शक्ति के प्रभाव से सर्वोतम ज्ञान प्राप्त करता है, संयम से आत्मा का साक्षात्कार होता है। इसी प्रकार अन्य आसनों का भी शिव संहिता में उल्लेख मिलता है। धर्म, नियम और आसन द्वारा ही प्राणायाम द्वारा चित्तवृत्ति निरोध सम्भव है।

प्राणायाम शास्त्रोक्त विधि से अपने स्वाभाविक श्वास प्रश्वास को रोक लेना प्राणायाम कहलाता है। प्राण स्पन्दन और वासना, ये दो चित्त–वृक्ष के बीज हैं। प्राण, अपान, समान आदि वायुओं से मन को रोकने का अभ्यास करना[3] अर्थात् प्राणों का आयाम प्राणायाम कहलाता है। प्राणायाम सब दोषों का नाशक है, यह चित्त की एकाग्रता करने में समर्थ है, मल शुद्धि ही इसका हेतु है।[4] जिस प्रकार अग्नि संयोग से धातुओं के मल नष्ट हो जाते हैं वैसे ही इन्द्रियों के दोष भी प्राण को रोकने से नष्ट हो जाते हैं।

प्राण प्राण श्वास नहीं है, न वह आत्म तत्त्व है।[5] किन्तु प्राण वह जड़तत्व है, जिससे श्वास प्रश्वास आदि समस्त क्रियाएँ जीवित शरीर में होती हैं। प्राण जीवन शक्ति है, जो समष्टि रूप से सारे ब्रह्माण्ड को चला रही है और व्यष्टि रूप से व्यक्ति के पिंड

---

१. सिद्धं पद्मं तथा भद्रं-मुक्तं वज्रं च स्वास्तिकम्।
—घेरण्डसंहिता।

२. (क) शिव संहिता ३।१०५।
(ख) पद्मासने स्थितो योगी नाड़ीद्वारेण पूरितम्
भारुतं धारयेवस्तु स मुक्तो नात्र संशयः।
—हठयोग प्रदीपिका, १।४९।

३. अपानः कर्षति प्राणं प्राणो पान च कर्षति
ऊर्ध्वाधः संस्थितावेतो संयोजयति योगवित्।
—गोरक्षपद्धति, पृ० २२

४. प्राणायामं ततः कुर्यान्नित्यं सात्विकया धिया
यथा सुषुम्नानाड़ीस्था मलाः शुद्धिं प्रयांति च।—हठयोग प्रदीपिका २।६।

५. पातंजल योगप्रदीप, पृ० २१२।

शरीर को। इसी से व्यक्ति को प्राणी भी कहा जाता है। वृत्ति के कार्य-भेद से वायु दस मानी गयी हैं, जो दसों नाड़ियों के मध्य में संचरित होकर शरीर में शक्ति का संचार करती हैं। इनके नाम-प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नास, कर्म, कूकर, देवदत्त और धनंजय हैं। इनमें प्रथम पांच को हठयोग की दृष्टि से विशेष महत्व दिया जाता है। इनमें प्राण और अपान तो हठयोगिक प्राणायाम के प्रधान सिद्धान्त हैं।

प्राणायाम के अंग

प्राणायाम के तीन अंग बतलाये गए हैं—पूरक, कुम्भक और रेचक। आकाशस्थ अपान वायु को नासिका द्वारा आकर्षित करके उदर में धारण करना पूरक है।[1] भरे हुए वायु को यथा-शक्ति रोकने को कुम्भक कहते है। इसमें श्वास को बाहर अथवा अन्दर रोक दिया जाता है। इसमें श्वास प्रश्वास दोनों की ही गति अवरुद्ध हो जाती है।[2] श्वास को नासिका छिद्रों द्वारा बाहर निकालने की क्रिया को रेचक कहते हैं।[3] पूरक में प्राण वायु को गुदा स्थान तक लेजाकर अपान वायु से मिलाया जाता है। कुम्भक में 'प्राण' और 'अपान' दोनों की गति को 'समान' के स्थान नाभि में रोक दिया जाता है और 'रेचक' में 'अपान' को प्राण द्वारा ऊपर की ओर खींचा जाता है। इस प्राणायाम विधि से योगी अपना नाड़ी शोधन करता है जो योग के लिए अनिवार्य है।[4]

षट्कर्म

नाड़ी शोधन, देह की मलरहित अवस्था तथा शारीरिक परिपुष्टता आदि के लिए षट्कर्म आवश्यक हैं, इन्हें घट शोधन का आरम्भिक उपाय माना गया है।[5] हठयोगप्रदीपिका में धोति, वस्ति, नेति, नोली, कपाल माति और त्राटक आदि छः कर्म

---

१. बाह्मवायोः प्रयत्नविशेषादुपादानं पूरकः।
—हठयोगप्रदीपिका २।७ (की टीका)।

२. जालंधरादिबंधम पूर्वकं प्राणनिरोधः कुंभकः। —वही २।७ (की टीका)।

३. कुंमितस्य वायोः प्रयत्नविशेषाद्गमनं रेचकः
—वही २।७ (टीका)।

४, हठयोगप्रदीपिका, पृ० ४६।

५. एवंविधां नाड़ीशुद्धि कृत्वा नाड़ी विशोधयेत्।
दृढो भूत्वासनं कृत्वा प्राणायामं समाचरेत ॥
—घेरण्ड संहिता, पृ० ७१।

बतलाये हैं।[1] यहां ही कहा गया है कि ये कर्म गुप्त करने योग्य हैं, देह की शुद्धि करते हैं और विचित्रगुण सन्धान करते हैं।[2] योग का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थों में इन षट्कर्मों का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है।[3] इन षट्कर्मों के उपरांत प्राणायाम करने से अनायास सिद्धि प्राप्त होती है। वस्तुतः इनके अनन्तर ही प्राणायाम करना उचित है। वायु साधना के लिए जिस प्रकार 'षट्कर्म' का उपयोग आवश्यक माना गया है उसी प्रकार वायु के नियंत्रण के लिए मुद्रा का अभ्यास आवश्क बतलाया गया है।

योग–ग्रन्थों में अनेक मुद्राएं बतलाई गई हैं, किन्तु प्रसिद्ध दस हैं।

मुद्रा

उनके नाम क्रमशः महामुद्रा, महाबंध, महावेध, खेचरी, उडयान, मलबंध, जालंधरबंध, विपरीतकरणी, वज्रोली, शक्ति पालन आदि दिए गए हैं।[4] घेरण्ड संहिता में उक्त मुद्राओं के साथ नमोमुद्रा, वज्राणी, ताडागी, मांडवी, शांभवी और धारणमुद्रा का भी उल्लेख मिलता है।[5] गोरक्षपद्धति में महामुद्रा, नमोमुद्रा, उड्डीयान बंध, जालंधर और मूलबन्द के द्वारा शक्ति चालन करने का आदेश दिया गया है।[6] इन मुद्राओं की साधना से साधक को सिद्धियां प्राप्त होती हैं।

---

१. धोतिर्वस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नोतिकं तथा।
कपालनातिश्चैतानि षट् कर्माणि प्रचक्षते ॥'
—हठयोग प्रदीपिका २।२२।

२. कर्मषट्कमिदं गोप्यं घटशोधन कारकम्। —वही, ५८।

३. हठयोग प्रदीपिका २।२२–३६।
घेरण्ड संहिता, पृ० ४–१८।
गोरक्ष पद्धति, पृ० ६०–६४।

४. महामुद्रा महाबंधो महावेन्धश्च खेचरी।
उडयानं मूलबंधश्च वंधो जालंधरामिधः।
करणी विपरीताख्या वाज्रोली शक्तिचालनम्।
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम् ॥ —हठयोग प्रदीपिका ३।७।

५. ताडागी मांडवी मुद्रा शांभवी पंचधारिणी।
अश्विनी पाशिनी काकी मातगी च भुजंगिनी।
पंचविंशतिमुद्राणि सिद्धानीह योगिनाम्।
—घेरण्ड संहिता, पृ० ३१।

६. महामुद्रां नमोमुद्रा उड्डीयानं जलंधरम्।
मूलबन्धं च यो वति स योगी मुक्तिमाजनः ॥
—गोरक्ष पद्धति, पृ० २६।

महामुद्रा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि नवों द्वारों को रोक कर, चित्तवृति को स्थिर कर वायु का निरोध करना चाहिये ।[1] इसके पश्चात् ही महावंध आता है । इसमें योगी 'अपान' को ऊर्ध्वमुखी कर 'उदान' वायु से संयोजित कर, प्राणवायु को अधोमुखी करता है । इसके अभ्यास से प्राणवायु सुषुम्ना में स्थित हो जाता है । इसमें साधक अपान और प्राण को एक कर, महावंध की मुद्रा में स्थित हो उदर को वायु से पूर्ण करता है, इसकी साधना करने से जन्म मरण नाशनीवायु सिद्ध हो जाती है । वह शरीरस्थ चक्र में स्थित देवताओं को कम्पायमान कर देती है जिससे कुण्डलिनी ब्रह्म स्थान में लीन होने लगती है ।[2]

खेचरी मुद्रा हठयोग में बहुत प्रसिद्ध है । इस मुद्रा में साधक वज्रासन या पद्मासन से बैठकर दोनों भोंहों के मध्य दृष्टि को स्थिर करता है तथा जिह्वा को उलट कर सुधा-कूप तालुविवर से संयोजित करता है । वहीं वह अमृत का पान करता है । इस प्रक्रिया को गोमांस भक्षण कहा गया है .[3] इसको जान लेने पर साधक न रोग से पीड़ित होता है, न कर्म से लिप्त होता है और न काल से बांधा जाता है ।[4]वह भृकुटियों के मध्यरूप आकाश में विचरता है, उस का शरीर नित्य चंद्रकलारूप अमृत से पूर्ण रहता है, प्रति दिन अमरवारुणी [5] का पान करता है ।

---

१. ततः शनैः शनैः रेव रेचयेन्नैव वेगतः ।
महामुद्रा च तेमैव वदंति विषुधोत्तमा ।।' —हठयोगप्रदीपिका ३।१३ ।

२. महाबंधः परो बंधो जरामरणनाशनः ।
प्रसादादस्य बंधस्य साधयेत्सर्ववांछितम् । —घेरण्डसंहिता, पृ० ३५ ।

३. (क) कपालकुलरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिमुद्रा भवति खेचरी ।—गोरक्षपद्धति, पृ० ३३ ।
(ख) गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिवेदमरारुणीम् ।
कुलीन तमहंमन्ये इतरे कुलघातका: ।।
गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशों हि तालुनि ।
गोमांसं भक्षणं तनु महापातकनाशनम् ।।—गोरक्षपद्धति,पृ० ३८ ।

४. देखिये, हठयोगप्रदीपिका, ।

५. पीड़्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ।
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेति खेचरीम् ।। –हठयोगप्रदीपिका ३।४० ।
तथा सोमकलापूर्ण देही देहं न मुंचति —वही पृ० ३।३६ ।
गौमांसं भक्षयेनित्यं पिवेदमरवारुणीम् ।। —वही, पृ० ३।३७ ।

खेचरी मुद्रा के समान ही जालंधर मुद्रा भी प्रसिद्ध है, इसमें भी साधक चंद्रमण्डल से श्रवित अमृत का पान करता है।[1] विपरीतकरणी मुद्रा का भी इसी प्रकार हठयोग में महत्त्वपूर्ण स्थान है। यहाँ सूर्य को ऊर्ध्व मुखी और चन्द्र को अधोमुखी करने की प्रक्रिया को विपरीतकरणी मुद्रा कहा गया है।[2] घेरण्ड-संहिता में कहा है कि इस मुद्रा के अभ्यास से साधक अजय रहता है।[3] शाम्भवी मुद्रा का भी योग साधन में महत्त्व पूर्ण स्थान है। इसके स्वरूप का विस्तृत वर्णन घेरण्डसंहिता में दिया हुआ है। तंत्रों में इसे गुप्त माना गया है। इसके अनुसार मन को एक रस कर, दोनों भोंहों के बीच दृष्टि को स्थिर कर, पर–मात्मा का ध्यान किया जाता है[4] वज्रोली, सहजोली और अमरोली आदि मुद्राओं का सम्वन्ध विन्दु धारणा से है। इन मुद्राओं का सन्वन्ध नाड़ीशोधन से है। वायु का संचार नाड़ियों द्वारा होता है। योग के कायिक पक्ष में इन नाड़ियों का ज्ञान उपादेय है।

नाड़ी विचार

योग में नाड़ी–साधन का बड़ा महत्त्व है। शरीर में अनेक नाड़ियों की गुत्थियों से नाड़ी चक्र बनता है। गोरक्ष शतक[5] और हठयोग प्रदीपिका[6] के अनुसार वहत्तर हजार तथा शिव

---

१. 'कंठसंकोचनं कृत्वा चिबुकं हृदये न्यसेत्।
जालंधरकृते बंधे षोडशाधारबंधनम्।
जालंधरं महामुद्रामृत्योश्च क्षयकारिणी।'
- घेरण्ड संहिता, पृ० ३४।

२. ऊर्ध्वं नाभेरवस्तालोर्ध्वं भानुरधः शशी।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते॥
—हठयोगप्रदीपिका, पृ० ३।७६।

३. नाभिमूले वसेत्सूर्यस्तालुमूले च चन्द्रमा।
अमृतं ग्रस्ते सूर्यस्ततो मृत्युवशो नरः।
मुद्रेयं सधयेन्नित्यं जरां च मृत्युं नाशयेत॥
—घेरण्ड संहिता, पृ० ३८।

४. नेत्रांजलं समालोक्य आत्मारामं निरीक्षयेत।
सा भवेच्छांभवी मुद्रा सर्वतंत्रेषु गोपिता। —वही, पृ० ५६।

५. तेषु न ड़ीसहस्रेषु द्विसप्ततिरुदा कृताः। —गोरक्षशतक।

६. द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीद्वाराणि पंजरे।
सुषुम्ना शांभवी शक्तिः शेषास्त्वेव निरर्थकाः।
—हठयोगप्रदीपिका पृ० ४।१८।

संहिता[1] के अनुसार इनकी संख्या साढे तीन लाख है। पातंजल योग प्रदीपिका में सुषुम्ना, इड़ा, पिंगला, गांधारी, हस्तजह्वि, पूषा, यशस्विनी, शूरा, कुहु, सरस्वती, वारुणी, अलम्बुषा, विश्वोदरी, शंखिनी, चित्रा आदि पन्द्रह नाड़ियाँ प्रमुख मानी गयी हैं। योग ग्रन्थों में इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, गांधारी, हस्तजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुषा, कुहु और शंखिनी आदि दस नाड़ियों को महत्त्व दिया गया है।[2] इन नाड़ियों में इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना आदि तीन नाड़ियों को ही प्रधानता मिली है। कुण्डलिनी शक्ति के उत्थापन में ये तीनों ही नाड़ियां बड़ी सहायक होती हैं। योग ग्रन्थों में इन्हें क्रमशः सूर्य, चन्द्र और अग्नि तथा गंगा, यमुना, सरस्वती भी कहा गया है।[3]

सुषुम्ना को ब्रह्मनाड़ी भी कहा गया है।[4] यही शून्य पदवी ब्रह्मरन्ध्र, महापथ, श्मशान, शाम्भवी, मध्यमार्ग, शक्तिमार्ग आदि नामों से भी प्रसिद्ध है।[5] शिव शक्ति का सम्मिलन कराने वाली नाड़ी भी इन्हीं को माना गया है। उक्त तीनों नाड़ियों में सुषुम्ना प्रमुख है। इसे सर्वश्रेष्ठ तीर्थ, तप, ध्यान, और परमगति रूप कहा गया है। इसमें वज्रा, चित्रा, ब्रह्मनाड़ी आदि की कल्पना की गयी है। प्रथम वह्निनरूपा, दूसरी सूर्यस्ता और तीसरी चन्द्रस्वरूपा मानी गयी है। चित्रा नाड़ी का मुखद्वार ब्रह्मद्वार कहलाता है।[6] कुण्डलिनी सुषुम्ना से होकर इसी ब्रह्मद्वार से सहस्रार स्थिति शिव की ओर जाती है।[7] इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों का मूल मूलाधार कहा गया है। कुण्डलिनी शक्ति इसी मूलाधार में निवास करती है। योगी इस कुण्डलिनी का उत्थापन करता हुआ षट्चक्रों का भेदन करता है।

---

१. शिव संहिता, २।१३।

२. प्रधानाः प्राणवाहिन्थो भुयस्तासु दश स्मृताः ॥

—गोरक्ष पद्धति, पृ० १८।

३. (क) इडापिंगलासुषुम्णाः प्राणमार्गे समाश्रिताः।
सततं प्राणवाहिन्यः सोमकूर्याग्निदेवताः ॥ —वही, पृ० २०।

(ख) पातंजल योगप्रदीप, पृ० २२७।

४. 'ब्रह्मनाड़ी सुषुम्ना'—हठयोगप्रदीपिका ३।६९ (टीका)।

५. हठयोग प्रदीपिका, ३।२–४।

६. षट्चक्र निरुपण, १।१–२।

७. 'कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं वभेदयेत्।

—हठयोग प्रदीपिका ३।१०५।

कुण्डलिनी उत्थापन सूर्य और चन्द्र शक्तियों का निरोध सहज ही मध्यमार्ग खुलने में सहायक होता है जिससे मानस क्रियायोग से सूक्ष्म होकर विन्दु और वायु उसमें प्रवेश कर ऊर्ध्वगामी होते हैं। इसी को कुण्डलिनी जागरण कहा है। कुण्डलिनी जागरण, मध्यम मार्ग का खुलना, वायु और मन की शुद्धि, प्रज्ञा का उदय, अहंकार और अविद्याग्रंथि का विनाश आदि एक ही क्रिया के भिन्न अंग हैं। कुण्डलिनी उत्थापन भी एक नाम है। कुण्डलिनी को कुटिलांगी, भुजंगी, शक्ति, ईश्वरी, कुण्डली, अरुन्धती आदि पर्यायवाचक शब्दों से भी अभिहित किया गया है[1] साधक इसका उत्थापन करता हुआ षट्चक्रों का भेदन करता है।

चन्द्रवर्णन विविध प्रकार की वायुओं के केन्द्र स्थानों को चक्र कहते हैं। ये शक्ति का स्थान माने गए हैं। कुण्डलिनी इन चक्रों का भेदन करती हुई सहस्रार में पहुंचती है। इसकी उत्थापन क्रिया का वर्णन हठयोग के अनेक ग्रन्थों के अतिरिक्त त्रिपुर-सार-समुच्चय, ज्ञानार्णव तन्त्र, गन्धर्वतन्त्र, वामकेश्वर तंत्र आदि में भी मिलता है। कुण्डलिनी स्वयं नाद स्वरूपा, ज्योति स्वरूपा तथा शक्ति स्वरूपा मानी गयी है। साधक अपनी भावना के अनुरूप इसकी अनुभूति कर चक्रभेदन में समर्थ होता है। हठयोग के प्रामाणिक ग्रन्थों योगसूत्र, शिव संहिता, घेरण्ड संहिता आदि में षट्-चक्रों का ही वर्णन मिलता है। हिन्दू तंत्र ग्रन्थों में ग्यारह चक्रों की कल्पना की गयी है, पातंजल योग प्रदीप में इन शक्ति केन्द्रों में सात को प्रमुख माना है।[2] जिनके नाम-मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रार हैं। ये चक्र पांचों तन्मात्राओं, ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों, पांचों प्राण, अन्तःकरण समस्त वर्ण और स्वर तथा सात लोकों के मण्डल हैं। ये नाना प्रकार के प्रकाश तथा विद्युत् से युक्त हैं। साधारण अवस्था में ये चक्र बिना खिले, अधोमुख कमल के समान अविकसित रहते हैं। ऊर्ध्वमुख होकर विकसित होने पर इनकी अलौकिक शक्तियों का विकास होता है। इनमें प्रथम पांच क्षिति जल, अग्नि, वायु, गगन के केन्द्रस्थान माने जाते हैं।

मूलाधार पहला चक्र मूलाधार है। मूल शक्ति अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति का आधार होने से चक्र को मूलाधार कहा जाता है। कुण्डलिनी शक्ति यहीं पर साढ़े तीन वलय होकर ब्रह्मद्वार की ओर मुख किये

---

१. कुटिलांगी कुण्डलिनी भुजंगी शक्तिरीश्वरी।
कुंडल्यरुंधती चैते शब्दाः पर्यायवाचका ॥—हठयोग प्रदीपिका, ३।१०४।

२. पातंजलयोग प्रदीप, पृ० २२०।

विश्राम करती है ।[1] इसके उपर चार दलों का एक कमल है जिसे मूलाधार चक्र कहते हैं । इसके दलों की वृत्तियां परमानन्द सहजानन्द, योगानन्द और वीरानन्द मानी गयी हैं । इन दलों पर स्वर्णिम अक्षरों का प्रकाश होता है, ये वर्ण मंत्र रूप होते हैं । इस चक्र के अधिष्ठाता ब्रह्मा माने गए हैं, इसी चक्र में त्रिपुर की कल्पना की गयी है, यही शक्ति पीठ है । इसमें ही स्वयंभू नामक शिवलिंग की प्रतिष्ठा मानी गयी है । यही परब्रह्म द्वार है ।[2] इसी से ऊर्ध्वमुखी कुण्डलिनी अमृत का पान करती है । यहीं से नाद का जन्म होता है । इसमें कदर्प नामक वायु विचरण करती रहती है । इसकी स्थिति सुषुम्ना के मुख से संलग्न बतलायी गयी है ।[3]

स्वाधिष्ठान चक्र

इसके ऊपर नाभि के पास स्वाधिष्ठान चक्र है, यह कमल के आकार का है, इसके छः दल हैं । इसमें परम लिंग की प्रतिष्ठा के के कारण ही इसे स्वाधिष्ठान चक्र कहा है । इसका तत्त्व जल है, इसी कारण इसे वरुणालय भी कहा गया है ।

इसके ऊपर मणिपूरक चक्र है । इसी को रविस्थान अथवा सूर्यस्थान कहा गया है, इसी को अग्नि और सूर्य का स्थान मानते हैं, यही समान वायु का केन्द्र है सहस्रार में स्थित चन्द्र से प्रस्त्रवित अमृत को इसी चक्र में स्थित सूर्य भस्म कर देता है ।

अनाहत चक्र

चौथा चक्र अनाहत है, इसका स्थान हृदय प्रदेश माना गया है, इसके बारहदल होते हैं, इसका मंत्र षट्कोणात्मक होता है । इसका ध्यान करने वाला योगी परकाया प्रवेश करने की शक्ति प्राप्त कर लेता है । इसके समीप कल्पतरू और मणिपीठ नामक दो और स्थान बतलाये गए हैं । इस चक्र में अनाहत ध्वनि उत्पन्न होती है, यही सदाशिव है, प्रणव इसी स्थान पर व्यक्त होता है, दीप ज्योति के समान जीवात्मा इसी में निवास करता है ।[4]

विशुद्ध चक्र

इस चक्र के ऊपर कंठस्थान में विशुद्ध चक्र की स्थिति मानी गयी है । यह स्वर्ण के समान देदीप्यमान है, इसमें सोलह दल होते हैं, इसका वर्ण धूम्र के समान होता है, जीव यहां भ्रूमध्य स्थित

---

१. अवस्थिता चैव फणावती सा प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम् ।
प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया ।।
—हठयोग प्रदीपिका ३।११२ ।

२. षट्चक्र निरूपण, श्लोक ५–१० ।

३. वही, श्लोक १ ।

४. शिव संहिता, ५।१०८-११५ ।

परमेश्वर को देखकर वासना के जाल से मुक्त होता है, इसे मोक्ष द्वार माना गया है।[1]

आज्ञा चक्र भ्रूमध्य में आज्ञाचक्र की स्थिति है। इसके सिर्फ दो ही दल हैं। यह बुद्धि अहंकार, मन तथा इन्द्रियों के सूक्ष्म रूप का केन्द्र स्थान माना जाता है, यही परमशिव का निवास स्थान है, इसी में इड़ा और पिंगला का सम्मिलन होता है। इड़ा और पिंगला को पारि–भाषिक भाषा में 'वरुण' और 'असी' कहा गया हैं, इन दोनों के मिलन का कारण होने से यह वाराणसी कहा गया है, इस प्रकार यह विश्वनाथ का स्थान है। इसके ऊपर पीठत्रय की स्थिति है; जिनके नाम नाद विन्दु और शक्ति है। शक्ति पीठ ओंकार स्वरूपी है।[2]

सहस्रदल कमल सहस्रदल कमल मस्तक प्रदेश में स्थित माना गया है। इसमें बीस विवर हैं, हर विवर में पचास पचास मात्रिकाएं हैं, ये मिलकर सहस्र हो जाती हैं, इसी से इसको सहस्रार कहा गया है। योगी इसे अधोमुखी वताते हैं।[3] यहीं पर नाद बिन्दु सम-न्वित कैलाश माना गया है, इसी में शिव विराजमान हैं, यही सुषुम्ना का मूल है जिसे ब्रह्म विवर कहा गया है। इसी में चन्द्रतत्त्व की स्थिति वतलाई जाती है, जिससे अमृत झड़ता है, इसी को शून्य चक्र कहा गया है। अन्य चक्रों को पार कर इस शून्य चक्र में पहुँचना योगी का चरम लक्ष्य है। इस प्रकार चित्त को स्थिर कर महत् शून्य का शुद्ध वृत्ति से चिन्तन साधक का लक्ष्य है।[4]

सारांशतः कहा जा सकता है कि सुषुम्ना पथ के उन्मुक्त होने पर कुण्डलिनी शक्ति उद्बुद्ध होती है, प्राण स्थिर होकर शून्य पथ से निरन्तर अनहद नाद सुनने लगता है। अनाहत ध्वनि भगवान् सदाशिव हैं। विशुद्धि चक्र में परमेश्वर के सान्निध्य से जीव वासना मुक्त होता है आज्ञा चक्र में सहस्रार स्थित गुरु की आज्ञा प्राप्त करता है, यहीं अव्यक्त प्रणय स्वरूप आत्मा से ऐक्य स्थापित करता है। इस प्रकार प्राणवायु के स्थिर होने पर काम क्रोधादि वन्धन छूट जाते हैं, कुण्डलिनी शक्ति ब्रह्मरंध्र को त्याग देती है, जिस से जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध हो जाता है।

---

१. शिव संहिता, ५।११६-१२१।
२. वही, ५।१२२।१२३।
३. वही, ५।१६०, १८०।
४. आद्यन्तमध्यशून्यं तत्कोटि सूर्य समप्रभम्।
चन्द्रकोटिप्रतीकाशमभ्यस्य सिद्धिमाप्नुयात्॥ —शिवसंहिता, पृ० १८६।

प्रत्याहार

योगसाधना में प्राणायाम के बाद प्रत्याहार का स्थान है। नाड़ियों और षट्चक्र के ज्ञान प्राप्त कर लेने पर साधक को आत्मतत्व का ज्ञान प्राप्त होता है। इन्द्रिय निग्रह से आसन, प्राणसाधना से प्राणायाम और मन साधना से प्रत्याहार सिद्ध होते हैं। प्राणायाम प्राण की गति को वश में करना है, इन्द्रियों को विषयों से विमुख करना ही प्रत्याहार है। इन्द्रिय से उसके विषय का अनुभव कर, इन्द्रियों को विषय से अलग करना ही प्रत्याहार है।[1] योगी प्रत्याहार के अभ्यास से पंचेंद्रियवृत्तियों को उनके विषयों से हटा कर आत्मतत्व में स्थिर करता है। हठयोग के अनुसार षोड्शदलकमलकर्णिका स्थित चन्द्रबिंब से अमृत झरता है, उसे नाभिकमल स्थित सूर्य ग्रास कर लेता है, इस क्रम को विपरीतकरणीमुद्रा द्वारा पलट कर स्वयं पान करना ही प्रत्याहार है।[2] घेरण्ड संहिता में कहा गया है कि विषय से मन को हटा कर अपने वश में करना ही प्रत्याहार है।[3] इस प्रकार श्रोतादि इन्द्रियों को स्वस्वरागद्वेषात्मक स्वाभाविक विषयों से, विवेक रूपी दल से निवृत करके, चित्त के अधीन करना ही प्रत्याहार है। इसके अभ्यास से इन्द्रियों की अत्यन्तवश्यता, मन की निर्मलता, तप की वृद्धि, दीनता का क्षय, शरीर की आरोग्यता, और चित्त की समाधि में प्रवेश करने की क्षमता होती है, इसके अभ्यास से मनोवल और मानसिक शान्ति होती है। यह इन्द्रियों का चित्तानुकरण ही है।

प्रत्याहार के साधन

प्रत्याहार की सिद्धि के लिए सहायक तत्वों का अस्तित्व स्वीकार किया है। इसके अनुसार पद्मासन से बैठकर कुम्भक के द्वारा श्वासोच्छ्वास की गति अवरुद्ध करना, सिद्धासन से बैठकर त्रिकुटी या नासिकाग्र पर निमेषोन्मेष रहित दृष्टि स्थिर करना, विपरीतकरणी मुद्रा के अभ्यास से मनोवृति को श्वासोच्छ्वास के लयोद्भव के स्थान में स्थिर करना आदि साधन चित्त की एकाग्रता के लिए साध्य हैं। श्वासोच्छ्वास के लयोद्भव का स्थान सहस्त्रार माना गया है, इसमें ही मनोवृत्ति को लय करना पड़ता है।

---

१. चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम्।
यत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते। —गोरक्ष पद्धति पृ० ७२।

२. चन्द्रामृतमयीं धारां प्रत्याहरति भास्करः।
यत्प्रत्याहरणं तस्याः प्रत्याहारः स उच्यते। —गोरक्षपद्धति, पृ० ७४।

३. अतस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्। —घेरण्ड संहिता, पृ० ५९।

मानसिक भूमिका

योग की प्रथम भूमिका पर उपर्युक्त साधक चित्तवृत्ति का निरोध, शारीरिक दृढ़ता, षट्चक्र ज्ञान प्राप्त कर क्रमशः प्राणायाम के उपरान्त प्रत्याहार की स्थिति में चित्त की निर्मलता, उसके साधन और तदन्तर प्राप्त होने वाले फलों की आकांक्षा से दूसरी भूमिका पर आता है। योग के स्थूल विधान से अथवा उसके शरीर सम्बन्धी साधनाओं से निवृत होकर धारणा,[1] ध्यान और समाधि की ओर उन्मुख होता है। इनका सम्बन्ध चित्त की विशुद्धता, एकाग्रता और उसकी ध्यानावस्था से है।

चित्त

चित्त को अन्तःकरण कहा गया है।[2] चित्त सत्वप्रधान प्रकृति परिणाम है अर्थात् प्रकृति के परिणामों में सब से अधिक सत्य का उदय चित्त में होता है। चित्त त्रिगुणात्मक है अतएव परिणामी है, रजोगुण के कारण वह सदाक्रियाशील है। यह दृश्य है अतः इसे स्वप्रकाश नहीं कह सकते। दृश्य अन्य पदार्थों से ही प्रकाशमान होता है।

चित्त के रूप

चित्त में (सत्व, रज, तम) गुणों का उद्रेक समय समय पर होता रहता है। उसके अनुसार चित्त के तीन रूप प्रख्याशील, प्रवृत्तिशील और स्थिति शील हैं। प्रख्याशील अवस्था में 'सत्व' प्रधान चित्त 'रजस्' और 'तमस्' से संयुक्त रहता है, वह अणिमा आदि ऐश्वर्य का प्रेमी होता है। तमोगुण का प्राधान्य होने पर यह अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य का प्रेमी होता है। मोह के आवरणों से सर्वथा क्षीण केवल रजस् के अंश से युक्त होने पर सर्वत्र प्रकाशमान होता है, धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य से युक्त होता है। इस प्रकार प्रथम अवस्था में वह ऐश्वर्य की प्राप्ति कर लेता है, उसमें रजस् का लेशमात्र भी नहीं रहता वह अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, विवेक बुद्धि प्राप्त कर लेता है।

चित की भूमियां

योग शास्त्र में चित्त की पांच भूमियां बतलायी गयी हैं जो क्रमशः मूढ़ क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध हैं। अपनी मूढ भूमि पर चित्त सद्सद्विचार हीन होकर आलस्य विस्मृति आदि के वश अनेक अवांछनीय कर्म करता है। यह उसकी तमोगुण प्रधान

---

१. आसनेन समायुक्तः प्राणायामेन संयुतः।
प्रत्याहारेण संपन्नो धारणां च समभ्यसेत्। —गोरक्षपद्धति, पृ० ८१।

२. चित्ते तःकरणे समत्वं ध्येयाकारवृत्तिप्रवाहत्वं।
—हठयोगप्रदीपिका, ४।१४ (टीका)।

३. 'आत्मा चित्तम'—शिवसूत्रवार्तिकम्, पृ० ४१।

स्थिति है । क्षिप्त अवस्था में रजोगुण की अधिकता से वह अस्थिर और चंचल बना रहता है और संसार के सुखदुखादि विषयों की ओर स्वतः प्रवृत्त रहता है। तीसरी अवस्था सत्वगुणमयी हैं । इसमें सुख, दुःख, विचार आलस्य, रजोगुण, तमोगुण आदि से पृथक होकर वह शून्य हो जाता है । उसमें कोई चिन्ता नहीं रहती । तदनन्तर एकाग्र भूमि में ध्याता ध्यानयोग के द्वारा ध्येय वस्तु में चित्त ठहराने का प्रयत्न करता है । निरुद्ध अवस्था में चित्त बाहरी वृतियों के निरोध होने पर, एक ही विषय में एकाकार वृति धारण करता है अतः सब वृतियों और संस्कारों के लय हो जाने पर चित्त की संज्ञा निरुद्ध होती है ।

चित्त की वृत्ति और प्रकार

चित्त के प्रवाह और प्रसार का नाम वृत्ति है । चित्त सरोवर है और उस सरोवर में उठने वाली लहरें ही चित्त की वृत्तियाँ हैं । ये प्रधानतया पांच हैं,[1] जिनको प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति नाम से अभिहित किया गया है । चित्त के समस्त व्यापारों या अवस्थाओं का अन्तर्भाव इनमें ही किया जा सकता है । चित्त वृत्तियों के निरुद्ध होने पर भी उनका नितान्त नाश नहीं होता है ।[2] संस्कार के रूप में उसका स्वरूप नित्य बना रहता है ।

संस्कार

वृत्तियों से संस्कारों की उत्पति होती है । वृत्तियों से संस्कारों का जन्म और संस्कारों से वृत्तियों का उदय होता है फलतः वृत्ति स्थूल रूप और संस्कार सूक्ष्मरूप होते हैं । योग की पूर्णता के लिए वृत्तियों और संस्कारों, दोनों का निरोध परमावश्यक है ।[3] निरोध से बहिर्मुखी वृत्तियां अन्तर्मुखी हो जाती हैं ।

निरोध के दो उपाय बताये गये हैं — प्राणस्पन्द अनुशासन और ब्राह्य विषयों से चित्त–विकर्षण । एक कायिक उपाय है दूसरा

---

१. संस्कारा वृतिभिः क्रियन्ते । संस्कारेण च वृत्तय । एवं वृति–संस्कार--चक्रमनिशमावर्तते ।।

—तत्व वैशारदी ।

२. प्रमाण विपिर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ।।

—पातन्जलयोगदर्शन १.६ ।

३. व्युत्थान निरोधसंस्कारयोरभि भवप्रादुर्भावी निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः :।। —वही ३।६ ।

४. एकाग्रं बहिर्वृ ति-निरोधः । निरुद्धे च सर्वासां वृतनां संस्काराणां च तत्ववैशारदी १।२ ।

वृत्ति निरोध-उपाय श्रवणमननापेक्षित। इनसे चित्त समाधिस्थ होता हैं। इस स्थिति की प्राप्ति में अनेक बाधाएं आती हैं। जिनसे चित्त में विक्षेप उत्पन्न होता है।

चित्त विक्षेप-कारण दार्शनिकों ने चित्त विक्षेप के ये नो कारण वतलाये हैं-[1]व्याधि, स्त्यान संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रांति दर्शन, अलव्य भूमिकत्व और अनवस्थित्व। व्याधि के कारण चित्तवृति तल्लीन अथवा उसके निर्वाणोपाय में निमग्न रहती है, जिससे योग प्रवत्ति सिद्ध नहीं होती। स्त्यान विक्षेप के कारण ब्रह्माकार वृति का अभाव होता है, देशकालादि की प्रवृत्तियों में असमर्थता का अनुभव करता है। चित्त की अयोग्यता योग में प्रवृत्त नहीं होने देती, उसमें संशय वना रहता है।

गुरु, शास्त्र, योग और योग साधनों में चित्त की दृढ़ता न होने से संशयात्मक स्थिति वनी रहती है; इससे वह समाधि साधना के प्रति उदासीन वना रहता है। यही चित्त की प्रमाद अवस्था है। प्रमाद और आलस्य दोनों योगमार्ग में बड़े विघ्न हैं। इसी प्रकार भ्रांति दर्शन, विपरीत-ज्ञान तथा विपरीत प्रवृत्ति के कारण भी चित्त में विक्षेप वना रहता है। इन कारणों से चित्त वृत्तियों का निरोध नहीं हो पाता, जिससे अनेक क्लेश प्रस्तुत होते हैं।

चित्त के क्लेश अनेक कारणों से चित्त क्लेश भाजन वना रहता है। ये पांच प्रकार के माने गये हैं-[2] अविद्या, अस्मिता, राग द्वेष और अभिनिवेश। इनमें से वाद के चार का कारण भी अविद्या ही है, जो विपर्यय ज्ञान अथवा मिथ्या ज्ञान है। इसके द्वारा अनित्य में नित्य, अशुचि में शुचि, दुख में सुख और अनात्मा में आत्मतत्व की प्रतीति होती है।

सुख दुख का अनुभव बुद्धि करती है, जिसके द्वारा प्रपंच का ज्ञान होता है। पुरुष बुद्धि से भिन्न है, चेतन होने से वह द्रष्टा मात्र है। अतः अस्मिता क्लेश के कारण बुद्धि में आत्मा का भ्रम हो जाता है। चित्त, सुखोपादक वस्तुओं में लोभ, दुख के साधनों में द्वेष तथा मृत्यु के भय के कारण सदा क्लेश से

---

१. व्याधिस्त्यानसंशय प्रमादालस्या विरति भ्रान्तिदर्शनालब्ध-
भूमिका त्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेन्तारायाः ॥
—पातन्जलयोग दर्शन १।३०।

२. अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ॥
—पातंजल योग दर्शन २।३।

युक्त रहता है। वह क्लेशों के शान्त होने पर तत्त्वज्ञान होता है।[1] यही योग की मानसिक भूमि है। शुद्धि और मल एवं विक्षेप के अभाव से चित्त एक देश में स्थिर हो जाता है। योग की यह भूमिका कायिक भूमिका पर आधारित है। अतः आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार साधन के द्वारा इन्द्रियों को नियंत्रित कर चित द्वारा धारणा का अभ्यास सम्भव होता है।

धारणा

चित्त को एक देश विशेष में स्थिर करने का नाम धारणा है। इस अवस्था में चित्त स्थूल—सूक्ष्म या वाह्य—आभ्यंतर किसी एक ध्येय में स्थिर होता है। इसके अभ्यास से चित्त वृत्तियां स्थिर हो जाती हैं।

धारणा के सम्बन्ध से मुद्राओं का महत्त्व माना गया है। इनके अनेक नाम और भेद हैं, जिनमें से अगोचरी, भूचरी, चाचरी और शाम्भवी प्रमुख हैं। मन को नासिका के अग्र भाग पर स्थिर करने का नाम ही अगोचरी मुद्रा है, इससे चार अंगुल की दूरी पर स्थिर करना भूचरी मुद्रा की अवस्था है। चाचरीमुद्रा में मन आज्ञाचक्र में स्थिर होता है। वस्तुतः ये सब प्रक्रियाएं मन को एकाग्र करने ही के लिए हैं। धारणा का यही साध्य है। इससे ऊपर की स्थिति ध्यान की है।

ध्यान

धारणा की भूमि पर चित्तवृति का अखण्ड प्रवाह तथा मन का निर्विषय होना ध्यान कहलाता है। इसमें निरंतर आत्म—तत्त्व का स्मरण होता है।[2] यही चित्त की एकाकार वृत्ति है। ध्येय दृढ़ता से चित्त—वृत्तियों के तदाकार होने पर धारणा ही ध्यान में परिवर्तित हो जाती है।

ध्यान के भेद

ध्यान के तीन प्रकार बतलाये गए हैं—स्थूलध्यान, ज्योतिर ध्यान, सूक्ष्म ध्यान। मूर्तिमान अभीष्ट देव का ध्यान स्थूल होता है, तेजरूप परमात्मा का ध्यान ज्योतिररूप और कुण्डलिनी शक्ति का दर्शन सूक्ष्म ध्यान कहलाता है। आज्ञा चक्र के ऊपर शून्य में प्रतिष्ठत तेजः स्वरूप का ध्यान करने से योगी मुक्त हो जाता है।[3] समाधि इसके ऊपर की अवस्था है।

---

१. "यावन्न चित्तोपशमो न तावत्तत्ववेदनम्"।-हठयोग प्रदीपिका, उपदेश ४।२२।

२. "स्मृत्येव सर्व चिन्तायां धातुरेकः प्रपद्यते
यच्चिते निर्मला चिन्ता तद्धि ध्यानं प्रचक्षते। —गोरक्ष पद्धति पृ० ८४

३. निर्मलं गगनाकारं मरीचिजलसन्निभम्
आत्मानं सर्वगं ध्यात्वा योगी मुक्तिमवाप्नुयात्। —गोरक्ष पद्धति, पृ० ८७।

समाधि

जीवात्मा का प्रत्यक् चैतन्य में, सर्वव्यागी अन्तरात्मा में अथवा ब्रह्म के के अतीन्द्रिय रूप में स्थिर होना समाधि है। इसको जीवात्मा परमात्मा की ऐक्यावस्था कहते हैं, जो परमानन्दरूपा एवं शुद्ध चैतन्यात्मिका है। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए योगी भिन्न भिन्न भूमिकाओं पर आरुढ़ होकर अनेक प्रकार के अनुभव ज्ञान और शक्तियां प्राप्त करता है।

समाधि के भेद

सामान्यतः समाधि के दो भेद माने जाते हैं–सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात। इनमें से प्रथम (सम्प्रज्ञात) के दो भेद– सविकल्प और निर्विकल्प हैं। सविकल्प योग पूर्वावस्था हैं, उसमें विवेकज्ञान नहीं होता, शब्द अर्थ और ज्ञान का विकल्प बना रहता है। इसे ध्येय पदार्थ[1] के भेद से सवितर्क, सविचार और सविकल्प कहा गया है।[2] विकल्प के नष्ट होने पर यही निर्वितर्क कही जाती है। इसमें ध्येय पदार्थ के साथ तदाकार चित्त उसे प्रकाशित करता है।[3] इस स्थिति में केवल ध्येय पदार्थ का ही अनुभव होता है। समाधि की इस अवस्था को निर्विकल्प और निर्विचार अवस्था भी कहा गया है। ये निर्विकल्प होने पर भी निर्बीज नहीं हैं, इनमें बीज रूप से चितवृत्ति का[4] अस्तित्व सा रहता है, इसी को आनन्दानुगता, तथा इनके लुप्त होने पर अस्मितानुगत कहा जाता है।[5] यह निर्विचार समाधि की निर्मल अवस्था है इससे ऊपर की असम्प्रज्ञात अवस्था है। इसमें चित्त संसार के पदार्थों की ओर नहीं जाता, वह उनसे अपने आप[6] उपरत हो जाता है तथा ध्येय के अनुभव में एकाग्र हो जाता है। इसी को सर्ववृतिनिरोधरूप निर्वीज[7] तथा धर्ममेघ समाधि भी कहते हैं।

---

१. सम्प्रज्ञात योग के ध्येय पदार्थ तीन माने गए हैं – ग्राह्य (इन्द्रियों के स्थूल और सूक्ष्म विषय,) ग्रहण (इन्द्रियां और अन्तः करण), ग्रहीता। (बुद्धि के साथ एक रूप हुआ पुरुष)

२ तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णाः सवितर्का समापतिः।

—पातंजल योगदर्शन १।४२।

३. स्मृतिपरिशुद्धो स्वरूपशून्येवार्थमात्र निर्भासा निर्वितर्का।' —वही १।४३।

४. ता एव सबीजः समाधिः' —वही १।४६।

५. वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात्सम्प्रज्ञातः।

—पातंजलयोग दर्शन १।१७।

६. विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः।' —वही १।१८।

७. तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः'। —वही १।५१।

संक्षेप में यह कह सकते हैं कि धारणा और ध्यान समाधि की पूर्व पीठिकाएं है। धारणा, ध्यानादि सालम्वन ध्येय रूप समान विषय वाले हैं। ये तीनों मिलकर संयम कहलाते हैं।[१] वस्तुतः ध्यान का स्वरूप शून्य होने पर, केवल ध्येय ही भासित होता है, वही समाधि कहलाता है। वास्तव में धारण और ध्यान समाधि के ही अंग हैं। इनके दृढ़ होने पर सम्प्रज्ञात योग सिद्ध होता है, इसी कारण इनको सम्प्रज्ञात समाधि का अन्तरंग कहा है। समाधि के लिए इनको बहिरंग माना गया है। उन्मनी मनोन्मनी, अमरत्व, लयतत्व, शून्याशून्यपरंपद अमनस्क, अद्वैत, निरालंव, निरंजन, जीवन्मुक्ति, सहजतुर्या आदि हैं।[२]

शैवयोग की आध्यात्मिक भूमिका

जीवन्मुक्त दशा को प्राप्त करने पर योगी अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है।[२] यही अर्थमात्र का ज्ञान कराने वाली अवस्था है।[३] यहां जीव सांसारिक सत्ता, द्वैत भाव आदि का परित्याग कर, परमात्म सत्ता में अद्वैत भाव से लीन हो जाता है। अन्यत्र कहा जा चुका है कि वह कुण्डलिनी के उद्बुद्ध होने पर ब्रह्मन्ध्र में अनहदनाद का श्रवण करता है। यही 'शून्यगगन' है, सहस्रदल कमल का विकास भी यहीं होता है। यहां आत्मा दिव्य पवित्रता तथा ब्रह्मद्वैत की प्राप्ति करता है। यह अनुभूति का लोक है, इसको सुन्नमहल, सुन्नसहर, गगनगुफा, गगनमंडल, गगनअटारी, सुन्नशिखर, अमरपुरी, गगनमहल, ध्रुव-मन्दिर आदि नामों से अभिहित किया गया है। योग की आध्यात्मिक भूमिका पर विचरण करता हुआ योगी, इस लोक की दृश्यावली का अनुभव और अलौकिक आनन्द के आस्वादन में लीन रहता है। वह अलौकिक आनन्द प्राप्त करता है तथा त्रिवेणी और वाराणसी में स्नान करता हुआ भंवरगुफा में अमृत का पान करता है। इसके उपरान्त तावज्ञान का उदय होता है, जो

---

१. 'त्रयमेकत्र संयम —पातंजल योगदर्शन ३।४।

२. राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी,
अमरत्वं लयस्तत्वं शून्याशून्यं परं पदम्।
अमनस्कं तवाद्वैतं निरालंबं निरंजनम्,
जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः।

—हठयोग प्रदीपिका ४।३,४।

३. सकलवृत्तिनिरोधे आत्मनः स्वरूपावस्थानात् —वही ४।१०७।

४. तावदेवं स्मृतं ध्यान समाधिः स्यादतः परम्।

—गोरक्ष पद्धति पृ० ९०।

आध्यात्मिक धरातल का मूल आधार है। इस स्थिति में योगी अलिप्त भाव से सांसारिक क्रियाएं करता रहता है। अन्तःकरण में स्थित चैतन्य आत्मा का आभास, आत्मभिन्न पदार्थ को प्रकाशित करता है। अतः प्रपंच में शुद्ध तत्त्व की भावना से बन्धनात्मक शक्ति नष्ट हो जाती है और साधक संसार में अपने को दृश्य, दर्शन और द्रष्टा रूप में देखता हुआ 'मैं विश्वात्मा शिव ही हूँ,' मै ही सब हूँ' की भावना से लोकानन्द में समाधि सुख को प्राप्त करता है।

ईश्वर इस ऐश्वर्य और ज्ञान की पराकाष्ठा है। ईश्वर प्रणिधान से ही आध्यात्मिक भूमिका की सिद्धि होती है। प्रणिधान से प्राप्त तत्वालोकित समाधि में साधक—आत्मा शिवस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाती है। यहाँ शिव रूप गुरु का अनन्य महत्त्व माना गया है।

शैवयोग और गुरु

गुरु का महत्त्व अन्य सम्प्रदायों में भी मान्य रहा है किन्तु शैवयोग की अपनी विशेषता है। यहाँ शिव को ही वास्तविक गुरु माना गया है। साधक को साधना की प्रथम भूमिका में ही—लौकिक गुरू की आवश्यकता रहती है, चित्तवृत्तियों का निरोध होने पर आत्मस्थ गुरु शिव ही उसके उपदेशक, मार्गनिर्देशक एव अज्ञानरूपी तम का विनाश करते हैं। इनसे अद्वैत सम्बन्ध स्थापित करना ही शैवयोग की विशिष्टता है। इसका प्रतिपादन शैव ग्रन्थों में अनेक प्रकार से हुआ है। तंत्रों में गुरु का पद सर्वोच्च स्वीकार किया गया है। ललिता सहस्र-नाम के 'गुरुमण्डलरूपिणी' और 'गुरुप्रिया' में शिव को गुरु बतलाया गया है। निर्वाण तंत्र के अनुसार शिव गुरु हैं, परमगुरु, परमेष्ठी गुरु एवं परात्पर गुरु शिव के अंश हैं।

परमगुरु शिव शिरस्थ सहस्रदलकमल कर्णिका में निवास करते हैं।[1]

महत्त्व

सुषुम्ना द्वारा विभिन्न चक्रों का भेदन कर, चन्द्रमण्डल से स्रवित सुधारस पान से आनन्दोन्मत्त हो, इनके ध्यान से जीव अमरता प्राप्त करता है। इन दैविक गुरु शिव के समान शिवतत्व का ज्ञान कराने वाले लौकिक गुरु का महत्त्व भी कम नहीं माना गया है। किन्तु यह बात विशेष नहीं है, यह बात अन्य सम्प्रदायों में भी स्वीकार की गयी है। भक्ति और साधना के क्षेत्र में गुरु का अत्यन्त अधिक महत्त्व है, दीक्षा गुरु के विना हो नहीं सकती। शैवयोग के आधार हठयोग की क्रिया

---

१. शिरः पद्मे महादेवस्तथैव परमो गुरुः
तत्समो नास्ति देवेशि पूज्यो हि भुवनत्रये
तदंशं चिन्तयेदेवि बाह्मे गुरु चतुष्टयम् ॥ —मेरु तन्त्र।

प्रक्रिया, मंत्रयोग के मंत्र और लययोग अथवा ध्यान योग या कुण्डलिनी योग के ध्यान आदि का ज्ञान गुरु से प्राप्त दीक्षा द्वारा ही सम्भव है।

शैवयोग संप्रदाय मौलिक रुप से पतंजलि के योग शास्त्र के अन्तर्गत है।

निष्कर्ष

पातंजल योग दर्शन में कहा गया है कि बहिरंग साधन यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार की सहायता से अन्तरंग साधना धारणा, ध्यान और समाधि द्वारा चित्तवृत्ति-रूपी चित्रों का वास्तविक स्वरुप ज्ञात होता हैं। पतंजलि के योग दर्शन के चार पाद–समाधि, साधन विभूति और केवल्य माने हैं। समाधि पाद तीन सूत्रों–योगश्चितवृतिनिरोध:, तद्राद्रष्ट्रु स्वरूपेडवस्थानम्, वृत्तिसारूप्यमितरत्र आदि की विस्तृत व्याख्या है।[1] साधन पाद में विक्षिप्त चित्तवाले मध्यम अधिकारियों के लिए योग का साधन बतलाया गया है। योग के अंगों के अनुष्ठान से अशुद्धि के क्षय होने पर ज्ञान की दीप्ति विवेकस्थातिपर्यन्त बढ़ जाती है। इस भाग में योग के अंगों का अनुसरण उपादेय बतलाया गया है।[2] ध्यान, धारणा, समाधि तीनों मिलकर संयम कहलाते हैं। ये सबीज समाधि के अन्तरंग साधन हैं। इनके विनियोग से नाना प्रकार की सिद्धियां प्राप्त होती हैं। इसी के द्वारा वैराग्य होने पर, दोषों का बीज क्षय होने पर केवल्य प्राप्त होता है।[3] इनके अनुसार चिति शक्ति का अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाना कैवल्य है।[4] शक्ति और शिव की समरस अयवस्था को, पिण्डब्रह्माण्डैक्य अथवा परमकाम्य कैवल्य अवस्था वाली सहज समाधि माना है।

इसमें आसन, प्राणायाम और मुद्राओं के माध्यम से, कुण्डलिनी द्वारा षट्चक्र भेदन कर सहस्रदल कमल तक पहुंचने की क्रिया का प्राधान्य है। इस क्रिया की तुलना चींटी के वृक्ष पर चढ़ने की प्रक्रिया से की गयी है, इसी को पिपीलक योग भी कहा गया है, इसका अर्थ कुण्डलिनी की पिण्ड से ब्रह्माण्ड तक की यात्रा है। इस अवस्था के पश्चात् साधारण स्थिति से ऊपर उठकर शून्य गगन में विचरण करने पर परमानन्दास्वादन की अवस्था में, योगी को शरीर

---

१. पातंजल योग प्रदीप–पृ० १२८,१२९।

२. पातंजल योग प्रदीप–पृ० १३२।

३. तमैराग्यादपि दोष बीजक्षये केवल्यम्॥

— पातंजलयोग प्रदीप–पृ० १३२।

४. पुरुषार्थशून्यानां प्रतिप्रसव: केवल्यं।
स्वरुपप्रतिष्ठा वा चिति शक्तेरिति–।

वही, पृ० १३४।

के 'पिण्ड' भाग से कोई मतलब नहीं रहता। उसकी 'सुरति' नेत्र के अष्टदल कमल में विचरण करते हुए 'बंकनाल' से होकर ऊपर चढ़ती है, और भंवर गुफा में प्रविष्ट होती है। तदनन्तर क्रमशः वह 'अमर' नगरी या अमर लोक पहुँचती है। जीवात्मा परमात्मा के सानिन्ध्य और सालोक्य निवास के आनन्द का निरन्तर पान करता है, इसी को विहंगम अथवा ध्यान योग कहा है।

इस प्रकार शैव योग साधना हठयोग से प्रारम्भ होकर क्रमशः मंत्र योग, लय योग द्वारा राजयोग अथवा शैवयोग की आध्यात्मिक भूमिका को प्राप्त करती है। मंत्रयोग की मंत्र साधना, अजपाजप आदि का इसमें अनन्य महत्त्व है तथा इसमें लययोग की नाद विन्दु लय साधना अथवा कुण्डलिनीलय या शिवशक्ति की सम्मिलनावस्था का प्रतिपादन भी दृष्टिगोचर होता है। इन साधनाओं के उपरान्त ही राजयोग और राजाधिराजयोग का सम्पादन सम्भव माना गया है। राजाधिराज योग की अवस्था में योगी सर्वत्र आत्मदर्शन करता है तथा वन्धन और मोक्ष से रहित हो सद्भक्त अवस्था को प्राप्त कर अन्तर्मुखी दृष्टि से निरतिशय सुख को प्राप्त करता है।

अतः यह कहना अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि योग के विभिन्न, पाद, रूप, प्रकारों पर आधारित परम्परा निर्वाध रूप से निरन्तर प्रवाहित होती रही तथा शैव उपासकों ने शिव की, आभ्यन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार की पूजा में इसको प्राधान्य दिया है। शैव साहित्य में इसके प्रभाव की गम्भीरता के समान शैवेतर साहित्य में भी इसका प्रभाव देखा जा सकता है। यह प्रभाव प्रायः विधेयात्मक और निषेधात्मक भेद से दो प्रकार का है। मध्यकालीन साहित्य इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि तत्कालीन धार्मिक साधनाओं और उनके साहित्य पर शिव और शैव दर्शन अर्थात् चिन्तन, और योग का व्यापक प्रभाव था।

(ग) शैव भक्ति

भक्ति की समीचीन विवेचना के लिए उनके तीन पक्षों—उपासक, उपास्य और उपासना को देखना आवश्यक है। उसका प्रमुख पक्ष उपासक है जो स्वीय भावना और आचार से उपास्य को मुग्ध ही नहीं वरन् उसके साथ गहन सान्निध्य प्राप्त कर ऐक्यानुभव भी करता है।

उपासक

उपासक परमात्मा में अनुराग, क्रीड़ा, संयोग सुख एवं आनन्द का अनु-

भव करता हुआ स्वराट् है (परमात्मस्वरूप) हो जाता है।[1] वह प्रपन्न है। प्रपत्ति को अंगीकार करता है, वह सब धर्मों का त्याग कर भगवान की शरण में जाता है,[2] वही भागवत् है। इस दशा को प्राप्त कर वह निश्चिन्त हो जाता है। अविवेकी पुरुष की स्थूल शरीर में आसक्ति के समान ही भक्त (उपासक) भगवान में आसक्त रहता है। अतएव उसको तन्मय भी कहा जाता है।[3] वह भगवान के ध्यान में सदैव पुलकित रहता है। उसके नेत्रों से आनन्दाश्रु प्रवाहित होते रहते हैं। उसके अस्तित्व से ही कुल और पृथ्वी पवित्र होती है।[4] उपासक भक्ति की पराकाष्ठा को प्राप्त कर भगवान में आसक्त हो जाता है। उससे तीर्थ सुतीर्थ, कर्म सुकर्म और शास्त्र सत् शास्त्र होते हैं।[5] ऐसे उपासक को देखकर पितृगण प्रमुदित होते हैं, देवता नाचने लगते हैं और पृथ्वी सनाथ हो जाती है।[6] उपासकों के लक्षणों का भी शास्त्रों में उल्लेख प्राप्त होता है।

उपासक के लक्षण

सच्चा उपासक काम, क्रोध, अहंकार और विश्व के प्रपंचों से तटस्थ रहकर, विश्वमात्र को एक दृष्टि से देखता है। उसकी ममता परमात्मा के अतिरिक्त और किसी में नहीं रहती। निस्पृहता के कारण वह न मान प्रतिष्ठा का भूखा रहता है और न लोक को रिझाने की चेष्टा करता है। उसका लक्षण हेतु-रहित परोपकार-व्रत है। भक्त के, भगवद् जन से प्रीति, भगवान के विरह की अनुभूति, भगवान की महिमा का वर्णन, सब में भगवद्भाव होना आदि लक्षणों

---

१. आत्मैवेदं सर्वमिति स वा एष एवं पश्यन्नेवं
मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन
आत्मानन्दः स स्वराड् भवति।
—छान्दोग्योपनिषद्, ७।२५।२।

२. लोकहानौ चिन्ता न कार्या निवेदितात्मलोकवेदत्वात्
—नारद-भक्ति सूत्र, ६१।

३. "तन्मयाः" —नारद—भक्ति सूत्र ७०।

४. कण्ठावरोधरोमाञ्चाश्रुभिः परस्परं लपमानाः
पावयन्ति कुलानि पृथिवीं च। —वही, ६८।

५. तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति
कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि।
—नारद-भक्ति-सत्र ६९।

६. मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयं भूर्भवति। —वही, ७१।

का विवरण प्रायः सभी शास्त्र ग्रन्थों में प्राप्त होता है।[१] शिवपुराण में उपासकों के ये आठ लक्षण बतलाये गए हैं—शिव भक्तों के प्रति स्नेह, शिव पूजा का अनुमोदन, शिव पूजन में प्रवृत्ति, शारीरिक चेष्टाएं शिव कथा श्रवण, कथा सुनते समय स्वर, नेत्रों और अंगों में विकार की उत्पत्ति, बारम्बार स्मरण और सदा शिवाश्रित जीवन निर्वाह। इनसे युक्त मलेच्छ भी विप्रशिरोमणि श्रीमान मुनि है, वही सन्यासी और पण्डित है।[२] यह मोह, क्रोध, लोभ, राग द्वेषादि से सतर्क रहता है, क्योंकि ये भक्ति के भयंकर विघ्न हैं। इसीसे कुसंग की कुत्सा के साथ इनके त्याग का भी विधान हैं।[३]

उपासक अपने गुणों से ही उपास्य के सान्निध्य का उपलाभ करता है।

उपासक के गुण

यों तो उपासक के अनेक गुण हैं किन्तु प्रमुख गुण श्रद्धा, विश्वास, अहिंसा, सत्य, शौच और दया हैं। ये आपस में एक दूसरे से आबद्ध हैं। अतएव एक के गहन अनुपालन से दूसरे का पालन स्वतः ही होने लगता है। फिर भी प्रत्येक का अपना अपना स्वतन्त्र क्षेत्र है। इसीलिए उपासना के क्षेत्र में प्रत्येक का अपना मूल्य भी है।

'ऋग्वेद' के श्रद्धा सूक्त में श्रद्धा को विशेष महत्त्व दिया गया है।[४]

श्रद्धा

श्रद्धा से सत्यरूप परमात्मा की प्राप्ति होती है।[५] इससे देवत्व प्राप्ति तथा लोकों की प्रतिष्ठा सिद्ध होती है।[६] "श्रद्धावान लभते ज्ञानम्" कहकर भी इसके महत्त्व का प्रतिपादन हुआ है[७] ज्ञान और योग के समान इसका भक्ति क्षेत्र में बहुत ऊंचा स्थान है। यही भक्ति ही आधारशिला है। इसका सम्बन्ध हृदय के परमोज्ज्वल सात्विक भाव प्रेम से है। यही जप, तप, यम, नियम और ईश्वरपरायणता का

---

१. सम्मानबहुमान प्रीति विरहेतरविचिकित्सा
महिमख्या तितदर्थ प्राण स्थान तदीयता सर्वतद्-
भावाप्राप्ति कूल्यादीनि च स्मरणेभ्यो बाहुल्यात्॥
—शाण्डिल्य भक्ति सूत्र, ४४।

२. शिव पुराण—वायवीय संहिता, अध्याय, १०।

३. "दुःसंगः सर्वमेव त्याज्यः" नारद भक्ति सूत्र, ४३।

४. ऋग्वेद, १०।१५१।

५. यजुर्वेद, १९।३०।

६. तैत्तिरीयोपनिषद् ३।१२।३।

७. गीता ४।३९

मूल आधार है। इसीसे विश्वास और धैर्य प्राप्त होता है, अनेक गुणों की अभिव्यक्ति होती है और मन में स्थिरता आती है।

विश्वास

विश्वास का सम्बन्ध आस्तिकता से है। भक्त का अनिवार्य गुण ईश्वर और शास्त्रों के प्रति विश्वास है। "भगवान हैं, सर्वव्यापी हैं, सर्वेश्वर हैं, दीन बन्धु हैं और सदा सर्वदा विराजमान हैं"—आदि विश्वास उसके त्रिविध ताप को दूर करता है। 'संशयात्मा विनश्यति' अर्थात् संशयात्मा का पतन होता है। अतएव विश्वास भक्त के चरित्र का आभूषण है। भगवान के अस्तित्त्व और उनके प्रभाव तथा गुणों पर विश्वास होने से मन स्वतः भगवान में लग जाता है।

अहिंसा

विश्वास के समान ही अहिंसा भक्त का आवश्यक गुण है। शरीर मन और वाणी से किसी भी जीव को किसी प्रकार वर्तमान या भविष्य में दुख का पहुँचाना, अपितु सदा सबको सुखी बनाने की चेष्टा में लगे रहना ही अहिंसा है "यह उपास्य की कृति है," मान कर प्राणधारी के प्रति प्रेमपूर्ण व्यवहार करना ही उपासक का कर्त्तव्य है। अहिंसा वृत्ति उसे विश्व के प्रति समदृष्टिकोण प्रदान करती है। अहिंसा के लिए आवश्यक है कि वाणी से ऐसे ही शब्दों का उच्चारण हो, जो सत्य, मधुर एवं हितकारी भी हों। अतः सत्य भी उपासक का आवश्यक गुण है।

सत्य

द्वेष, वैर, निन्दा आदि भावों से बचाकर वाणी को अपने और दूसरे के हित की दृष्टि से सदा मधुरता और सत्य सिक्त रखना ही साधक का गुण है। चन्द्रमा की चांदनी प्रकाश के साथ शीतलता प्रदायिनी भी है, इसी प्रकार भक्त की वाणी भी सत्य और मधुर अर्थात् प्रकाशक और शान्तिदायक होती है। साधक की आन्तरिक शुद्धि भी उसका प्रमुख गुण है।

शौच

उपासक के लिए बाहरी और भीतरी दोनों प्रकार के शौच की आवश्यकता है। आन्तरिक अथवा भीतरी शौच में दम्भ, द्वेष, अभिमान, आसक्ति, ईर्ष्या, शौक, पापचिन्तन, व्यर्थ-चिन्तन आदि दोषों से मन को निवृत्त रखना आवश्यक है। प्रेम, विनय, वैराग्य, अद्वेष, प्रसन्नता, सच्चिन्तन और भगवद्–चिन्तन ही मन की शुद्धि के एक मात्र उपाय हैं। इनके द्वारा शुद्ध होने पर ही मन भगवद्भक्ति की ओर अग्रसर होता है। शुद्ध मन का आभूषण दया है।

दया भगवद्भक्त का आवश्यक गुण है। जिन क्रियाओं से जीवों का अहित होता हो, उन्हें दुख पहुँचता हो उनका त्याग आवश्यक

दया

है। सबके दुख को दूर करने की चेष्टा दयाभिभूत प्राणी का ही कर्म है। यह भाव सभी जीवों के प्रति और सभी कालों में होना चाहिए।[1]

भक्ति अपने उत्कृष्टरूप में प्रेमलक्षणा है जिसमें साधन और साध्य एक होते हैं। भक्ति का बीजांकुरण रुद्रपूजा में होता है जिसके विकास में उपासना का इतिहास भी संनिहित है। कुछ विद्वानों का कहना है कि भक्ति अपने मूल रूप में अनार्य स्रोत से उत्पन्न हुई। वह आर्यों को अनार्यों से मिली जो रुद्र के पूजक होते थे। संहिताकालीन साहित्य के बाद का साहित्य तो इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि रुद्र या शिव की उपासना समस्त आर्यों में प्रचलित हो गई। पूजा का रूप उपासना ने ले लिया। रुद्र लोकप्रिय शिव के स्थान पर आगये। आगे चलकर धार्मिक एवं दार्शनिक विचारों की प्रगति होने पर भी आदि देव शिव की उपासना यथावत् लोकप्रिय बनी रही। अनेक सम्प्रदायों के गर्भ में भी शिवभक्ति का मौलिक रूप चलता ही रहा। हां, उपासकों के बाह्य साधनों में कुछ अन्तर आ गया। इसी से अनेक सम्प्रदाय पृथक् पृथक् रूप में बढ़ते रहे।

शैवोपासक

शैव सम्प्रदायों में वीर शैव, पाशुपत, शुद्ध शैव, काश्मीरी शैव मुख्य हैं। शैवों के रसेश्वर, कालामुख, कापालिक सम्प्रदाय भी प्रसिद्ध हैं। उन सब सम्प्रदायों का उल्लेख इस अभिलेख के प्रथम अध्याय में किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त दार्शनिक आचार्य शंकर के अनुयायी दशनामी शैव कहलाते हैं। वीर शैव तथा पाशुपत सम्प्रदायों में अनेक उपसम्प्रदाय पाए जाते हैं।

वीर शैवों के उपभेद

वीर शैव सम्प्रदाय के अनुयायी लिंग धारण करने से लिंगायत भी कहलाते हैं। इसकी चार मुख्य श्रेणियां जंगम, शीलवन्त, बनजारे तथा पंचमशाली हैं।[2] इसमें सभी वर्ग के व्यक्ति—गृहस्थ, योगी, सन्यासी अथवा वैरागी पाए जाते हैं। संयम व तपस्या की न्यूनाधिकता के कारण सन्यासी भी चार प्रकार के माने गए हैं—कुटिचर, बौद्धका, हंस और परमहंस। इस मत में गुरुओं द्वारा प्रतिष्ठित विभिन्न सम्प्रदायों व उनके उप संगठनों की भी कमी नहीं है।[3]

---

१. अहिंसा सत्यशौचदयास्तिक्यादिचारित्र्याणि परिपालनीयानि
—नारद भक्ति सूत्र, ७८।

२. भण्डारकर—वैष्णविज्म एण्ड शैविज्म एण्ड अदर माइनर रिलीजन्स, पृ० १९६।

३. एच० एच० विलसन—रिलीजन आफ दी हिन्दूस, पृ० १९३—२८५।

पाशुपत शैवों के उपभेद

वीर शैव के समान ही पाशुपत शैवों में भिन्न-भिन्न गुरुओं द्वारा प्रवर्तित अनेक सम्प्रदाय हैं। पाशुपत, कालामुख और कापालिक सम्प्रदाय गोरखनाथ के द्वारा विकसित सम्प्रदाय में मिल गए। अतः गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय के अनुयायी भी शैव हैं। उक्त सम्प्रदायों के चिन्ह उनमें किसी न किसी रूप में आज भी विद्यमान हैं। गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय बारह मुख्य शाखाओं में विभक्त है जो–सत्नाथी, धर्मनाथी, रामपंथी नटेश्वरी, कन्हड़ी, कपिलानी, वैरागी, भाननाथी, आईपंथी, पागलपंथी, वजपंथी और गंगानाथी नाम से प्रसिद्ध हैं।[1] इन सभी गोरखपंथियों को बारहपंथी नाम से भी अभिहित किया गया है। इनके अतिरिक्त हाड़ी भरंग, कायिकनाथी, पायलनाथी, उदयनाथी, फीलनाथी, चर्पटनाथी, गेनी या गाहिणीनाथी, पापंथी, निरंजननाथी, अमरनाथी, कुंभीदासी, तारकनाथी, आपापंथी, भृगंनाथी आदि सम्प्रदायों के उपासक भी शैव हैं। पुरी के दण्डधारण करने वाले योगी लकुलीश शैव हैं।[2]

सत्नाथी शाखा के गोरखपंथी कनफटा योगियों का शैव पंथों में प्रमुख स्थान है। ये शिव के कट्टर उपासक हैं और अपने को पाशुपत कहते हैं। धर्मनाथ और लक्ष्मणनाथ के अनुयायी शैव हैं। लक्ष्मणनाथी पंथ की दो उप–शाखाएं—नटेश्वरी और दरिया हैं। रावल या नागनाथी भी शैव उपासक माने गए हैं। कपिलानी और कालबेलिया भी कनफटे शैवों से सम्बद्ध हैं।[3] शिव की उपासना करने के कारण ओघड़ अथवा सरभंग सम्प्रदाय के साधु भी शैव हैं।[4] शैव साधुओं का एक विशिष्ट सम्प्रदाय ऊर्ध्वबाहु है। इनके समान ही आकाश-मुखी, सुखरास, रुखास और उखरास, नरवी तथा नागा भी शैवोपासक हैं।[5]

शुद्ध शैव तथा काश्मीरी शैव

वीर शैव और पाशुपत सम्प्रदाय के उपसम्प्रदायों की भांति शुद्ध शैव और काश्मीरी शैवों में वाह्याडम्बर न होने से उपभेद नहीं पाए जाते हैं। इनमें ज्ञान, भक्ति और योग समन्वित साधना का ही महत्त्व है।

---

१. हजारी प्रसाद द्विवेदी–नाथ सम्प्रदाय, पृ० १०।
२. वही, पृ० १३।
३. नरेन्द्रसिंह–नाथसिद्ध एक विवेचन, पृ० ३९।
४. डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी–संतमत का सरभंग सम्प्रदाय, पृ० २५।
५. एच० एच० विल्सन–रिलीजन ऑफ दी हिन्दूस्, पृ० १९३, २८५।

दशनामी

गोरखनाथ के समान शंकर भी चार प्रमुख शैव सम्प्रदायों के प्रवर्त्तक हैं, जो क्रमशः इस प्रकार हैं—दण्डी, संन्यासी, परमहंस तथा ब्रह्मचारी। इनके प्रमुख शिष्य पद्मपाद, हस्तपालक, सुरेश्वर तथा त्रोटक माने गए हैं, जिनके दस शिष्य—तीर्थ, आश्रम, बाण- अरण्य, सरस्वती, भारती, पुरी, गिरि, पर्वत और सागर हैं। ये सामूहिक रूप से दशनामी कहलाते हैं और उनके अनुयायी दशनामी सन्यासी कहलाते हैं।[१]

उपर्युक्त शैव सम्प्रदायों को देखते हुए यह कहना अनुचित न होगा कि शिव के उपासक और उपासकों द्वारा प्रतिष्ठित मत के अनुयायियों की संख्या कभी कम नहीं रही है। ये समस्त भारत में पाए जाते हैं।

शैवोपासकों का प्रसार

गोरखपंथी योगी, दर्शनी व कनफटे दक्षिणी भारत के उत्तरी भाग में, मध्यप्रदेश, गुजराज, महाराष्ट्र, पंजाब गंगा के मैदान में तथा नेपाल में प्राप्त होते हैं। इनकी सत्नामी शाखा, जिसका मुख्य स्थान पुरी है, के अनुयायी थानेश्वर, करनाल और कुरुक्षेत्र में पाए जाते हैं।[२] धर्मनाथी सम्प्रदाय के अनुयायी गोदावरी के तट पर और गुजरात में मिलते हैं।[३] दरियापंथी शैव उत्तरी भारत तथा पंजाब, सिंध, कोहाट, क्वेटा आदि में पाए जाते हैं। इनका प्रमुख स्थान उदरोलल है।[४] नटेश्वरी पंथी खुरासान, काबुल, जलालाबाद तथा पेशावर में पाए जाते हैं।[५] वैरागी साधु मध्यभारत, मालवा तथा अजमेर में मिलते हैं। बरार के अवधूत, कनफटे प्रसिद्ध हैं। निजाम हैदराबाद में गोरखनाथियों की दो शाखाएं 'देवरे' और 'रावल' पाई जाती हैं। पूर्वी बंगाल को 'मस्या' एवं 'एकादशी' जातियाँ शैवोपासक हैं। 'मस्य' योगी मथुरा, वृन्दावन, बनारस, गया, सीताकुण्ड आदि में भी पाए जाते हैं।[६]

काया, मन और अध्यात्म के आधार से, उपासक को तीन भूमिकाओं पर प्रतिष्ठित कर सकते हैं। इन पर उपासकों के स्तर भी

---

१. एच० एच० विल्सन–रिलीजन आफ दी हिन्दूस्, पृ० १९३. २८५।
२. ब्रिग्स–गोरखनाथ एण्ड दी कनफटा योगीज्, पृ० ६३।
३. वही, पृ० ६४।
४. वही, पृ० ६५।
५. वही, पृ० ३६।
६. वही, पृ० ५५।

उपासना की अनेक भूमिकाओं पर उपासक

भिन्न होते हैं, इनमें विचरण करता हुआ उपासक एक दूसरे से उच्चतर होता है। उपासक के लिए शक्ति के विविध प्रकारों में भूमिकाओं का महत्त्व पूर्ण स्थान है। ये उपासक को उपास्य के समीप पहुँचाने वाली सीढ़ीयाँ हैं। एक के अनन्तर दूसरे सोपान पर अधिष्ठित होता हुआ भक्त भक्ति के चरमोत्कर्ष को प्राप्त करता है। ये भूमिकाएं—कायिक, मानसिक और आध्यात्मिक भेद से तीन कही जा सकती हैं। कायिक और मानसिक स्तर पर पुष्ट-विवेक और अनुभूति ही भक्ति-रस में परिणत होकर अतुलित आनन्द प्रदान करती है। कायिक भूमिका का अनुभूति के उद्भव, पोषण और अभिव्यंजन में अनुपम सहयोग रहता है।

शैवोपासक की कायिक भूमिका

कायिक भूमिका से उपासक की वेषभूषा, आभूषण, अन्य चिन्ह, आचार विवेचनीय हैं। "ब्रह्वेद ब्रह्मैव भवति" उक्ति के अनुसार साधना की एकरसता में उपासक इष्टदेव के अनुरूप हो जाता है। इष्टदेव का स्वरूप, उसकी वेश-भूषा उपासक के आधार बन जाते हैं।

वेशभूषा

प्रत्येक शैव सम्प्रदाय की वेशभूषा, आभूषण और सज्जा में अपनी विशेषता है। फिर भी इनमें समानता इतनी अधिक है कि साधारणतः भिन्नता ज्ञात कर लेना आसान नहीं। साधा-रणतः शैवयोगी कमर के चारों ओर एक काली भेड़ की ऊन से बना हुआ रस्सा लपेटते हैं, इसीमें वे अपना कटिवस्त्र बांधते हैं। इसे "अरवद लंगोट नाम" कहते हैं। इसके अतिरिक्त अधिकांश "शैव" सारे शरीर पर कुछ भी धारण नहीं करते। यह रस्सा मोटाई में एक इंच या उससे कुछ अधिक ही होता है, जिसके एक सिरे पर "काज" व दूसरे पर "बटन" होता है। इसे आगे की तरफ बांधा जाता है, इस रस्से को "हाल मतंग" भी कहा जाता है।[1] कुछ योगी गेरुआ चोला भी पहिनते हैं– इनकी मान्यता है कि शिव ने ही इस रंग का वस्त्र पहनने का आदेश दिया था। कुछ योगी बहुधा सफेद पौशाक भी पहिनते हैं, साधारणतः इनमें से कुछ सिर पर सफेद पगड़ी भी बांधते हैं। सुखरास साधु टोपी तथा घाघरे के समान एक वस्त्र पहिनते हैं, आकाशमुखी साधु रंगीन वस्त्र पहनते हैं, सत्नाथी सम्प्रदाय के साधु नाना

---

१. ब्रिग्स—गोरखनाथ एण्ड दी कनफटा योगीज्, पृ० १२।

प्रकार के कपड़ों के टुकड़ों से बनी टोपी, कोट और गुदड़ी पहिनते हैं। 'नागा' शैव साधु वस्त्र के नाम पर कुछ भी नहीं पहनते।

आभूषण शैवयोगियों के मेखला, शृंगी, अघारी, कर्णमुद्रा, जनेऊ, भस्म, रुद्राक्ष, खप्पर दण्ड, और तिलक सज्जा के विशेष आभूषण और उपकरण हैं।

मेखला—मेखला मुंज की रस्सी के बने कटिबन्ध को कहते हैं।

शृंगी—शृंगी हरिन के सींग का बना, मुंह से बजाने का बाजा होता है।

अघारी—काठ के डंडे में लगा हुआ काठ का पीढ़ा है, जिसे योगी बैठने के काम में लाते हैं।

कर्णमुद्रा—कर्णमुद्रा को पवित्र, शुद्ध व धर्मधारिणी भी कहते हैं। इसे कनफटे योगी कान में पहिनते हैं। इन मुद्राओं को धारण करने से वे अविनाशी हो जाते हैं। कनफटों में विधवा या योगिनी अथवा योगियों की दीक्षित पत्नियां कर्ण मुद्रा पहिनती हैं। मुद्राओं में भिन्नता दृष्टिगत सात इंच व्यास तथा वज़न में सवा दो औंस अथवा इससे भी अधिक होती हैं।

कच्छ के धनवान् जोगी सोने की मुद्राएं पहिनते हैं, जिनको भार के कारण सिर पर कस कर बांधा जाता है।[1] ये कर्णमुद्रा "दो प्रकार की होती हैं–चपटी और गोल। प्रथम को दर्शन तथा दूसरी को कुण्डल कहते हैं। इनमें दर्शन को अधिक आदर सूचक माना गया है।[2] गुदारा साधु भी मुद्राएं पहिनते हैं, इनकी मुद्रा "लकड़ी का गोल छल्ला" होती है जिसे खेचरी मुद्रा कहते हैं। इनकी एक शाखा के अनुयायी एक कान में मुद्रा पहिनते हैं, दूसरे में चपटी ताम्रपटिका पहिनते हैं, जिस पर औघड़ या गोरखनाथ के पद चिन्ह होते हैं। गुदारा साधुओं की दूसरी शाखा के अनुयायी दोनों कानों में ताम्बे की मुद्राएं पहिनते हैं।[3]

जनेऊ शैवोपासकों में साधारणतः सभी जनेऊ पहिनने हैं, यह पवित्र धागों का समूह है, तथा शैवों द्वारा ही बनाया जाता है। जनेऊ काली भेड़ की ऊन तथा रुई के सूत, दोनों का ही बनता है। इसमें नौ सूत्र होते हैं। इसमें एक अंगूठी बंधी होती है जो चपटी अथवा गोल होती है। इसे पवित्री कहते हैं। इनके अनुसार यह

---

१. ब्रिग्स—गोरखनाथ एण्ड दी कनफटायोगी, शैविज्म, पृ० ६३।

२. वही, पृ० १८।

३. वही, पृ० १०।

पार्वती का प्रतिनिधित्व करती है। इसमें सूत की डोरी से सेली, सिंगनाद और रुद्राक्ष की मणियां बंधी रहती है। सिंगनाद मुख से बजाया जाने वाला वाद्य है, जो काले मृग के सींग से, मूंगे का या गेंडे के सींग का बना होता है, इसकी लम्बाई करीब दो इंच होती है। सिंगनाद जनेऊ से बंधा रहने के कारण, वह "सिंगनादजनेऊ" कहलाता है। शैवों में भस्म का अनन्य महत्त्व है।[1]

भस्म

सभी योगी शरीर पर भस्म लगाते हैं। यह सभी शैवों के लिए साधारण बात है। वस्त्र के स्थान पर सारे शरीर में भस्म का अनुलेपन करते हैं। ललाट और शरीर के अन्य भागों पर भस्म से त्रिपुण्ड भी बनाये जाते हैं। जटाओं में भी भस्म रमाई जाती है। भस्म श्मशान भूमि की याद दिलाती है तथा योगी के संसार त्याग का भी इसे प्रत्यक्ष प्रमाण माना गया है। इसके समान ही रुद्राक्ष की माला पहिनने का भी सामान्यतः सभी शैवों में महत्त्व माना गया है।[2]

रुद्राक्ष

योगी लोगों के रुद्राक्ष की माला प्रसिद्ध है। इस माला में बतीस, चौसठ, चौरासी या एकसो आठ मनके होते हैं। छोटी मालाएं अर्थात् सुमरनी जिसमें अठारह या अठाइस मनके होते हैं, भुजा व कलाई में बाँधी जाती है। तन्त्रशास्त्रियों के अनुसार रुद्राक्ष की माला विशेष फलदायिनी होती है। जप में पंचमुखी रुद्राक्ष का विशेष महत्त्व है। एक मुखी रुद्राक्ष शुभ माना जाता है कि उसके घर में रहने से लक्ष्मी अविचल होकर बसती है, ऐसा विश्वास है। ग्यारह मुखवाला रुद्राक्ष भी पवित्र समझा जाता है। गृहस्थ योगी दो मुख वाले रुद्राक्ष से जप करने को अधिक महत्वशाली समझते हैं।[3]

योगी लोगों के लिए भिक्षा मांगते समय खप्पर, झोली, चिमटा, घोटा और सोटा रखने का विधान है।

खप्पर—खप्पर मिट्टी के घड़े का अथवा दरियाई नारियल का बना भिक्षा पात्र है जो भोजन करने के काम में भी आता है।

दण्ड—दण्डी साधुओं की पहिचान उनके हाथ में दण्ड से की जाती है।[4] इस दण्ड में भी भेद हैं। सत्नाथी साधुओं के पास तृण का दण्ड होता है,

---

१. ब्रिग्स—गोरखनाथ एण्ड दी कनफटा योगीस, —पृ० १२।
२. वही, पृ० १७–१८।
३. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—नाथ सम्प्रदाय, पृ० १७।
४. डा० फर्कुहर—आउट लाईन आफ रिलीजियंस लिटरेचर आफ इन्डियाज्, पृ० २६२।

जो कपड़ों में लिपटा रहता है, इसे सुदर्शन कहा जाता है। यह तृण दण्ड लकुलीश सम्प्रदाय के हाथ में रहने वाले दण्ड का ही अवशेष है।[1] इनका अन्य सामान्य चिन्ह त्रिपुण्ड है।

तिलक

योगी द्वारा जो सामान्य छाप ललाट पर लगाई जाती है, उसे त्रिपुण्ड कहते हैं। ये तीन पड़ी रेखाएं होती हैं। ऐसी रेखाएं शरीर के अन्य भागों—भुजाओं, कण्ठ, वक्ष आदि पर भी खींची जाती हैं। इन्हें शैवों का अनिवार्य चिन्ह माना गया है।[2] कुछ शैवों में दोनों भुजाओं पर लिंग अंकित किया जाता है, कुछ शैव ललाट पर त्रिशूल के आकार का तिलक लगाते हैं और कुछ दोनों भुजाओं पर डमरू अंकित करते हैं। यह ललाट, वक्ष, नाभि और भुजाओं पर भी अंकित किया जाता है।[3] शैव साधक और उपासक प्रायः समान रूप से तिलक लगाते हैं। इनके अतिरिक्त अनेक सम्प्रदायों में अपनी अपनी विशेषताएं भी दृष्टिगोचार होती हैं।

अन्य चिन्ह

जोगी साधु अपने साथ नन्दी रखते हैं, जिसे रंगीन वस्त्रों, रंगीन डोरियों और कोड़ियों से सजाया जाता है। इसके साथ वे इधर उधर घूमते हुए भिक्षा वृत्ति से जीवन—निर्वाह करते हैं। सारंगीहर अपने साथ सारंगी रखते हैं, जिस पर शिव–पार्वती विवाह आदि गाते हैं। ऊर्ध्ववाहु शिव की जटा के चिन्ह स्वरूप अपनी जटा को ललाट पर आगे झुकी हुई बांधते हैं। जोगी संगीत विद्या के प्रवीण माने गए हैं। ये अपने साथ नन्दी या वन्दर रखते हैं, जिनको आज्ञा पालन, आश्चर्यजनक हाव भाव दिखलाना सिखाते हैं, टोपी पर शिव लिंग धारण करते हैं।[4] सुखरास अपने पास करीव तीन विसे लम्बीलकड़ी रखते हैं। कानों में रुद्राक्ष की मणियों के 'कुण्डल' पहनते हैं, बांयें कन्धे कर जनेऊ के स्थान पर गेरुए रंग के कपड़े की पट्टी रखते हैं। रूखास कानों में धातु के कुण्डल पहनते हैं। रास्ते चलते समय अलख अलख बोलते रहते हैं। आकाशमुखी सम्प्रदाय में आडम्बर कम होता है, ये केवल नाखून अधिक वढाते हैं। दशनामी सन्यासी केवल गेरूवा वस्त्र धारण करते हैं और दूसरे बाह्य आडम्बरों से दूर रहते हैं। साधारण गृहस्थी की न कोई वेशभूषा है और न ही नियत आभूषण हैं।

---

१. नरेन्द्र–नाथ सिद्ध एक विवेचन, पृ० ३६।
२. ब्रिग्स—गोरखनाथ एण्ड दी कनफटा योगीज, पृ० २२।
३. बिल्सन—रिलीजन आफ दी हिन्दूज्, प्रथम भाग, पृ० १७।
४. वही, पृ० २२५।

उपासकों की वेशभूषा के साथ ही उनका आचार-विचार-तत्त्व भी विवेचनीय हैं।

उपासक—आचार

भारतीय उपासना और आचार में गहन सम्बन्ध माना गया है। इसका आदेश ऋग्वेद, उपनिषद् और सूत्रों में भी है। स्मृतियों के अनुसार 'आचार' समस्त उपासना का परम ग्राहक मूल तत्त्व ही है।[1] आचारवान होकर उपासक सम्पूर्ण फलों का अधिकारी हो सकता है। सामान्यतः आचार के दो भाग हैं—साधारण आचार और शिष्टाचार। यह वर्गीकरण केवल सम्पादन विधि की सरलता के आधार पर किया गया है। साधारण आचार में दैनिक कर्म, व्यवहारिक नियम एवं आश्रमिक कर्त्तव्यों को सुव्यवस्थित करने वाला आचरण सम्मिलित है। शिष्टाचार इसके आगे की वस्तु है। शिष्टाचार सेवी, धर्मवती सदैव वेदानुकूल मार्ग का अनुसरण करता है। प्रायः सभी आचार की महत्ता के साथ उसकी विशिष्टता भी रहती है। इस विशिष्टता का हेतु उनका उपास्य है।

शैवों के मान्य उपास्य शिव हैं, उनमें शिव के विभिन्न स्वरूपों की, प्रायः भिन्न रूप से पूजा होती है। कनफटे योगियों का विशेष सम्प्रदाय लिंग के साथ सांपों की भी पूजा करता है। बनारस में नागकुंआ है जिसमें टेढ़ी—मेढ़ी सीढ़ियां हैं। उसमें तीन फणधारी सर्प की प्रतिमा है तथा आंगन में लिंग के चारों ओर सांप लिपटा हुआ हैं। यहां दोनों की पूजा होती है, इसी प्रकार वाराणसी में शिव की पूजा नागेश्वर के रूप में तथा मध्यप्रदेश व हिमालय में रिखेश्वर अर्थात् सांपों के देवता के रूप में होती हैं।[2] कहने का तात्पर्य यह है कि शिव ही शैवों के प्रधान देव हैं तथा उनकी उपासना आचार—विचार का प्रमुख आधार है। उपासना के स्वरूप पर ही साधारण आचरण और शिष्टाचार आधारित हैं। शुद्ध शैवों तथा काश्मीरी शैवोपासकों में वाह्य आडम्बर नहीं मिलते। इनके नैतिक आचार विचार प्रायः अन्य शैव सम्प्रदायों के समान ही हैं। वीर शैवों में कुछ विशेष आचरण की मान्यता है।

वीर शैवोपासकों के असामान्य आचार

वीर शैव सम्प्रदाय में सामाजिक व धार्मिक जीवन में समानता तथा मठों की स्थापना पर विशेष बल दिया जाता है। इसमें वर्णाश्रम धर्म का पूर्ण रूप के खण्डन किया गया है, वर्ण और जाति के कारण समाज में व्यक्ति व्यक्ति के बीच किसी भी प्रकार के भेद को स्वीकार नहीं किया गया

1. 'सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम्', मनु० १।१०।
2. गोरखनाथ एण्ड दी कनफटा योगीज, पृ० १३३–१३४।

है। इनमें लिंग धारण, शिव भक्ति पर विशेष बल, सामाजिक जीवन में शारीरिक परिश्रम की महत्ता तथा सात्विक शाकाहार, अहिंसा और एकेश्वर-वाद को विशेष महत्त्व दिया गया है।[१] इस मत के आचार्यों ने सत्य, प्रेम व नीति के आधार पर नूतन समाज की स्थापना करने का प्रयत्न किया। इन्होंने स्त्री को पुरुषों के समान अधिकार दिलाये, अन्त्यजों के लिए भी धर्म का स्थान खोल दिया। इस प्रकार इस सम्प्रदाय में धर्माचार को अधिक महत्त्व दिया गया है।

धर्माचार में नीति, शील और सदाचार की आवश्यकता पर बल दिया जाता है। इन्होंने कर्म और ज्ञान के साथ साथ अनन्य भक्ति साधना का मार्ग प्रशस्त किया तथा आत्म शुद्धि, सत्य और नैतिक जीवन की आवश्वकता पर बल देते हुए बाह्याडम्बर, पाखण्ड, स्वार्थ आदि का तीव्र शब्दों में खण्डन किया है। इस मत में सत्य लोक को ही देवलोक, असत्य को मर्त्यलोक माना गया है अर्थात् इनके अनुसार आचार ही स्वर्ग व अनाचार ही नरक है, इस प्रकार काया, मनसा और वाचा की पवित्रता पर विशेष बल दिया है।

दीक्षा

वीर शैवों की प्रथा के अनुसार बच्चे के पैदा होने पर पिता उसको गुरु के यहां संस्कार के लिए ले जाता है। इस संस्कार के बाद वह लिंगायत कहलाता है। युवा होने पर वह लिंगायत अपना गुरु चुनता है। यह कर्म उत्सव द्वारा सम्पन्न होता है। इस उत्सव में पांच कलश प्रतिष्ठित किये जाते हैं, जो पांच बड़े महन्तों के प्रतीक होते हैं। चार कलश चारों दिशाओं में प्रतिष्ठित किये जाते हैं। जिस महन्त विशेष को वह गुरु रूप में स्वीकार करता है उसका प्रतीक कलश बीच में प्रतिष्ठित किया जाता है।[२] इस दीक्षा संस्कार के समय गुरु अपने बांयें हाथ में लिंग रखता है और सामान्यतः षोडषोपचार द्वारा पूजा करवाता है तथा शिष्य को लिंग का महत्व बतलाता है। गुरु लिंग को शिष्य के हाथ पर रख कर और लिंग को आत्मा का श्रेष्ठ रूप तथा संसार की सर्वश्रेष्ठ वस्तु बतलाकर, रेशमी धागे में बांध कर शिष्य के गले में, मन्त्रोचार के साथ पहिनाता है। दीक्षा संस्कार पुरुषों के समान स्त्रियाँ में भी अनिवार्य है। स्त्रियां भी लिंग धारण करती हैं। साधारणतया लिंग चांदी की डिब्बयों में रख कर गले में पहिना जाता है।

---

१. डा० हिरण्मय—हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक —अध्ययन, पृ० ९९-१००।

२. भण्डारकर—वेष्णविज्म, शैविज्म एण्ड अदर माइनर रिलीजियन्स् सिस्टम्स्, —पृ० १९७-१९८।

गुरु प्रदत्त लिंग को तीर्थ क्षेत्र समझकर मुक्ति के लिए साधना करना इस मत में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। मन्दिर में लिंग या मूर्ति की पूजा करना उसको मान्य नहीं। ये लोग शिव गायत्री का भी जाप करते हैं, जिसमें प्रथम दो पंक्तियां ब्राह्मण गायत्री की तरह होती हैं और अन्त में 'तनः शिवः प्रचोदयात्' होता है।[१]

वीर शैवों के आचार क्षेत्र में, जीवात्मा की शुद्धि के लिए अष्टावरण और पंचाचार का भी महत्त्व है।

अष्टावरण—शिवैक्य प्राप्त करने के सहायक तत्त्वों को अष्टावरण कहा गया है। से आठ माने गये हैं—लिंग, गुरु, जंगम, पादोदक–प्रसाद, विभूति, रूद्राक्ष और मंत्र।

लिंग—प्रमुख अष्टावरण लिंग है। लिंग परमतत्व, सच्चिदानन्द स्वरूप शिव से है। लिंग तीन प्रकार के—भाव, प्राण और इष्ट माने गये हैं। दीक्षा देते समय गुरु इन तीनों की स्थापना कारण, सूक्ष्म और स्थूल शरीर में करता है। भक्त इष्ट लिंग को बाएं हाथ में रख कर उसकी पूजा करता है, जिससे प्राण लिंग का ज्ञान प्राप्त करता है और अन्त में भाव लिंग में अर्थात् परतत्व में अपना स्वरूप देखता है। लिंग के पश्चात् शैव सम्प्रदाय में गुरु का स्थान माना है।[२]

गुरु—दूसरा अष्टावरण गुरु है। गुरु तीन प्रकार के माने गए हैं—दीक्षा गुरु, शिक्षा गुरु और मोक्ष गुरु। दीक्षा गुरु ही शिष्य को दीक्षा देता है। गुरु जीव को भक्ति में लगाता है, उसे पाप से बचाता है और उसकी रक्षा करता है। गुरु के समान ही वीर शैवों में जंगम पूज्य हैं।

जंगम—जंगम जीवन्मुक्त हैं। भक्तों को आध्यात्मिक साधना में सहायता देते हैं। इनके तीन प्रकार माने गए हैं—स्थिर जंगम, चर जंगम और पर जंगम।[३]

---

१. फर्कुहर—आउटलाइन्स आफ दी रिलिजीयस् लिट्रेचर आफ इन्डिया, पृ० २६१।

२. डा० हिरण्यमय—हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० १०६।

३. डा० फर्कुहर—आउट लाइन्स आफ दी रिलीजियस् लिट्रेचर आफ इण्डिया, पृ० २६।

पादोदक—अन्य अष्टावरण पादोदक हैं। गुरु और जंगम के पैर धोये हुए पानी को पादोदक कहते हैं। यह त्रिगुणात्मक मेल धोने में सहायक होता है, यह सभी तीर्थों का प्रतीक है। इससे देह, मन और भाव की शुद्धि होती हैं।

प्रसाद—शिष्य के चित्त की शुद्धि गुरु या जंगम के लिए 'प्रसाद' सेवन से होती है। यह पांचवां अष्टावरण माना जाता है। इससे कर्म संस्कार का नाश होता है।

लिंग, गुरु, जंगम, पादोदक, और प्रसाद के महत्त्व के समान ही विभूति,[1] रुद्राक्ष[2] और मंत्र[3] का महत्व है। अष्टावरण के समान ही शैव भक्ति में पंचाचार का महत्त्व है।

पंचाचार

जीवन के नैतिक पक्ष और नित्य कर्म से सम्बन्धित पांच आचारों (सदाचार, गणाचार, नित्याचार, शिवाचार, लिंगाचार) को पंचाचार कहा गया है।[4] पंचाचार—शुद्ध नैतिक जीवन विताना सदाचार है। सत्य एवं धर्म की रक्षा करना गुणाचार, पूजा, पाठ, ध्यान, वृत्त आदि नियम से करना नित्याचार, लिंग-धारियों को साक्षात् शिव समझ कर आदर देना शिवाचार तथा बड़ी निष्ठा के साथ लिंगधारण करके प्रतिदिन नियम से उसकी पूजा करना लिंगा-चार कहलाता हैं।[5] गोरखपंथी शैवों की भी कुछ अपनी विशेषताएं मिलती हैं। इनके आचार को दो कोटियों में रख सकते हैं—असामान्य आचार और सामान्य आचार जिसे रहनी भी कहते हैं।

गोरखपंथी उपासकों के असामान्य आचार

कर्णमुद्रा पहिनना कनफटे शैव योगियों का असामान्य आचार है। यह उनके वंश का अनिवार्य अंग है, उसका धारण उनका प्रमुख आचार है। यदि संयोगवश एक मुद्रा टूट जाती है तो योगी कपड़े अथवा सींग की मुद्रा पहनकर ही भोजन कर सकता है। मुद्रा के टूटने पर वह अपने साथियों से बात भी नहीं कर

---

१. देखिए, प्रस्तुत निबन्ध, पृ० १३३।
२. वही, पृ० १३४।
३. वही, पृ० ९३।
४. डा० हिरण्मय-हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० १०८।
५. वही, पृ० १०८।

सकता ।[1] इसी प्रकार प्रातः व संध्या काल की आराधना के पहले तथा भोजन के पूर्व, जनेऊ में बंधा सिंगीनाद बजाना अनिवार्य माना गया है।

रहनी—गोरखपंथी शैवों में आचार को प्रायः 'रहनी' शब्द से द्योतित किया गया है। 'रहनी' के अनेकानेक नियमों में सत्य और अहिंसा का स्थान बहुत ऊंचा है। इनमें मादक द्रव्यों का सेवन वर्जित है,[2] वाह्य आधार सम्बन्धी समस्त विश्वासों और पूजा विधानों का खण्डन किया गया है, तथा ज्ञान को प्रधानता मिली है। इस प्रकार इन शैव साधुओं में ब्रह्मचर्य, सदाचार और नैतिकता का पूरा पूरा समादर हुआ है, तथा वैयक्तिक आदर्श जीवन की पूरी प्रतिष्टा हुई है। ऐसा ही महत्त्व शैवों में संस्कार का है।

दीक्षा संस्कार

गोरखनाथी शैव सम्प्रदायों में मनुष्य को, संन्यास ग्रहण करने से पूर्व, पुलिस थाने में जाकर सिद्ध करना होता है कि वह अपराधी नहीं है तथा वह स्वेच्छा से योगी बन रहा है। योग सम्प्रदाय में उसका संस्कार क्रमशः दो सोपानों पर निर्भर करता है। प्रथम सोपान में वह साधारण शिष्य रहता है तथा उसके नैतिक संस्कारों पर ही बल दिया जाता है। इसके बाद ही वह दूसरे सोपान पर पहुंचते पूर्णत्व को प्राप्त करता है। उसके कान फाड़ने के संस्कार के बाद वह सम्प्रदाय का पूर्ण सदस्य माना जाता है। दीक्षा संस्कार के लिए प्रायः 'पौष' 'माघ' 'फाल्गुन' आदि महीने अच्छे माने जाते हैं।[3]

कहने का अभिप्राय यह है कि उपासक कायिक भूमिका पर विचरण करता हुआ अनेक प्रकार से भगवद्भक्ति का आनन्द लाभ करता है। उसका हृदय संसार से विरक्त हो जाता है, बुद्धि श्रद्धेय के चरणों में स्थित हो जाती है और कर्मों का प्रवाह स्वतः सत्कर्म की ओर प्रवाहमान होता है। 'आत्मेत्येषोपासीन' अर्थात् आत्मरूप से ही आत्मा की उपासना की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। शुद्ध आचरण के परिणामस्वरूप उसका शुद्ध अन्तःकरण "चिन्मात्र आत्मा का ज्ञान प्राप्त कर, शोक रहित को जाता है। वस्तुतः धार्मिक आधार पर व्यक्तित्व का विकास ही प्रधान है जो मानसिक और भावनात्मक विकास का प्रथम सोपान है। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि वेशभूषा, खानपान और आचार विचार से पुष्ट व्यक्तित्व ही उपासक की उपर्युक्त दूसरी भूमिका (मानसिक भूमिका) का अवलम्ब है।

---

१. ब्रिग्स्–गोरखनाथ एण्ड कनफटा योगीज्, पृ० १८।
२. डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी-संतमत का सरभंग सम्प्रदाय, पृ० १०८-११०।
३. ब्रिग्स्–गोरखनाथ एण्ड दी कनफटा योगीज्, पृ० २७।

शैवोपासक की मानसिक भूमिका

मानसिक भूमिका में उपासक का एक मात्र ध्येय जन्म-मृत्यु तथा संसार चक्र के भेद दृष्टिरूपी मूल अज्ञान का नाश एवं ज्ञान साधना रह जाता है। आचारवान् पुरुष ही शास्त्र के रहस्य को ग्रहण कर सकता है। शास्त्र-तात्पर्य निर्धारण के लिए युक्ति, तर्क और आस्था अनिवार्य है। निरन्तर अध्ययन मनन और चिंतन तथा सत्संग आदि मानसिक परिपुष्टता के लिए आवश्यक माने गये हैं। सामान्यतः ज्ञान साधना रूपी वृक्ष के भिन्न अंग वीज रूप में विद्यमान रहते हैं। तो भी, इनका विकास क्रमशः होता है। यह विकास क्रम श्रवण, मनन, निदिध्यासन और अखण्ड ब्रह्माकार-अपरोक्ष-वृत्ति के द्वारा तुर्यातुर्य-आत्मदर्शन आदि क्रम से माना गया है। इनमें ये प्रथम तीन को गर्भ की अवस्था और चतुर्थ को साक्षात्कार की अवस्था कहा गया है।[1] इस प्रकार ब्रह्मरूपी परमार्थ सत्य की सिद्धि के लिए अनेक उपयोगी युक्तियों का दृष्टान्त सहित निरूपण एवं समाधान इसी भूमिका पर लभ्य होता है।

मानसिक भूमिका पर विचरण करता हुआ साधक, हृदय को भगवद् धाम वनाने के लिए विषया-शक्ति और विषय दोनों का त्याग करता है। वह अखण्ड रूप से भगवान का प्रेमपूर्वक चिन्तन और भगवद्भजन करता है। भक्ति शास्त्रों में भक्त की ज्ञानावस्था का अनेकशः वर्णन प्राप्त होता है। ज्ञानोन्मुख जिज्ञासा ही क्रमशः भक्ति के मधुर रस में परिणत होती है। ब्रह्म-विद् ज्ञानियों की महिमा के वर्णन से उपनिषद् साहित्य आप्लावित है। वृह-दारण्यक उपनिषद् में कहा गया हैं कि 'ब्रह्मवित्' की महिमा 'ब्रह्म' के समान नित्य है। वलवित् अथवा ब्रह्म में नित्य श्रद्धा रखने वाला शम, दम, तितिक्षा उपरति तथा समाधान-रूप-सम्पत्ति से युक्त होकर अपने अतःकरण (बुद्धि) में आत्मसाक्षात्कार करता है। सम्पूर्ण संसार को अपना रूप जानता है।[2] साधक आत्मा को सर्वश्रेष्ठ तथा परमानन्द स्वरूप मानकर आत्मा में क्रीड़ामग्न रहता है। ब्रह्म से भिन्न संसार की सत्ता का नितान्त अभाव अनुभव करता है।

शैवोपासकों की आध्यात्मिक भूमिका

उपासक के ज्ञान की यह चरमावस्था ही आध्यात्मिक भूमिका है। इस भूमिका को प्राप्त भक्त का चित्त-रूपी भ्रमर अचंचल रूप से भगवान् के चारु चरण कमलों में लगा रहता है। वह भक्त भगवान् को छोड़कर कुछ नहीं चाहता। वह कातर कण्ठ से

---

१. स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी सरस्वती-ज्ञान की सप्त भूमिकाएं (कल्याण मार्च ५६), पृ० ७९६।

२. वृहदाण्यक उपनिषद् ४।४।२३।

बारबार भगवान् में उनके चरणों की रति ही चाहता है। श्री शंकराचार्य जगत् जननी से प्रार्थना करते हैं—

न मोक्षस्याकाङ्क्षा वरविभववान्छापि च नमे
न विज्ञानापेक्षा शशिमुखि सुखेच्छापि न पुनः।
अतस्त्वा संयाचे जननि जननं यातु मम वै
मृडानी रुद्राणी शिव शिव भवानीति जयतः॥

देवी सम्पति के गुण भक्त का 'बाना' बन जाते हैं। भक्ति रूपी सूर्य का उदय होने पर प्रकाश रूप देवी सम्पति स्वतः फैल जाती है। भगवान् का प्रेमपूर्वक चिन्तन भक्त का धर्म और भगवान के गुण उसकी जीवनपद्धति बन जाते हैं। वह भगवान के माधुर्य को ही देखता है, सुनता है।

इस प्रकार उपासक क्रमशः आत्मशुद्धि के पथ पर अग्रसर हो अपने चरमलक्ष्य को प्राप्त करता है। आत्मा विश्वात्मा की अनुभूति में विलीन हो जाती है। उपासक और उपास्य ऐक्यावस्था को प्राप्त होते हैं। उपासक उपास्यमय हो जाता है।

निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप में यह कह सकते हैं कि शैवोपासक अनेक वेशों में, आचरण की अनेक पद्धतियों में शिव की उपासना करते हैं। शैव–उपासना में एक मात्र शिव ही उपास्य नहीं है। उनके परिवार के सदस्य भी शिव ही की भाँति समादृत उपास्य हैं, और तो और शिव के आभूषण, वाहन, स्थान आदि भी समान रूप से पूज्य बने हुए हैं। उसी से शिव भक्ति ने भारतीय साहित्य के अनेक रूपों, विद्याओं आदि के निर्माण में भी योग दिया है। मध्यकालीन हिन्दी कविता भी शैव भक्ति के प्रभाव के सम्बन्ध से शैव मत के लिए कुछ कम आभारी नहीं है।

उपास्य

भक्ति के दूसरे अंग में उपास्य का स्थान है। शैवों के उपास्य देव शिव हैं, जो सर्वातीत, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान और सर्वलोक महेश्वर हैं। वे सत्–चित–आनन्दरूप परात्पर ब्रह्म एवं सर्वदा सर्वगत, अनन्त, विभु, नित्य निराकार और निर्गुण हैं। वे स्वरूपतः एक होते हुए भी रूप और शक्ति के वैविध्य से सम्पन्न हैं। वे ज्ञान स्वरूप, मायातीत हो कर भी अपने उपासकों का मोहन करते हैं। शिव का नाम, रूप, गुण आदि भक्तों का परमाश्रय है।

नाम–नामी सम्बन्ध

नाम नामी तक पहुंचने का प्रबल साधन है। नाम से साध्य के गुण का परिचय मिलता है और साधक तद्गुण हो जाता है। इसीलिए नाम के जाप का महत्व है। नाम को कल्पवृक्ष कहा गया है।[1]

नाम का नामी से घनिष्ट सम्बन्ध है। नाम शब्द व्यंजक और नामी (परमात्मा) व्यंग्य है।[2] व्यंजक के अभाव में व्यंग्य की अभिव्यक्ति न होने से वह अकिंचित्कर रहता है। नामी की महत्ता नाम के आधीन होती है। इसी से निर्गुण निराकर ब्रह्म के भिन्न भिन्न स्वरूपों का ज्ञान होता है। नाम का सम्बन्ध नामी के कर्मों से है। इस प्रकार वस्तुतः नाम और नामी में कोई भेद नहीं है। गीता में कहा गया है "यज्ञानां जपयज्ञो स्मि'[3] अर्थात् जप यज्ञ (नाम जप) स्वयं भगवान् ही हैं। इसी आधार पर शैवोपासकों ने भी अपने उपास्य शिव को उनके गुण कर्म के आधार पर अनेक नामों से अभिहित किया है।

शिव के नाम और उनकी मीमांसा

शैव मत के अनेक ग्रन्थों में शिव के अनेक नाम प्रचलित हैं। उनमें से पांच प्रमुख नाम है। ईशान्, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव और समोजात हैं।[4] उपास्य के "नाम-करण" का श्रेय उपासक को है, वह भगवान् के कृत्य, गुण और रूप से विभोर हो, उनको अनेक नामों से अलंकृत करता है। शिव के नामों का इतिहास भी उनकी अनेक क्रीड़ाओं व गुणों का द्योतक है। समस्त जगत् के स्वामी होने के कारण शिव ईशान् और निन्दित कर्म करने वाले को शुद्ध करने के कारण अघोर कहलाते हैं। उनकी स्थिति आत्मा में लभ्य है, अतः ये तत्पुरुष और विकारों को नष्ट करने के कारण वामदेव तथा बालक के समान परम स्वच्छ, शुद्ध और निर्विकार होने के कारण सद्योजात कहलाते हैं। ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त सभी जीव पशु माने गए हैं, अतः उनको अज्ञान से बचाने के कारण वे पशुपति कहलाते हैं।[5] शिव का एक नाम "महाभिषक्"

---

१. "नाम कामतरु काल कराला"····रामचरित मानस–बालकाण्ड, २६।३।
२. स्वामी करपात्री–नाम और नामी का अभेद, कल्याण अंक ८, वर्ष ७।
३. गीता--१०।२५।
४. शिवपुराण–शतरुद्रीय संहिता,–अध्याय १।
५. य ईशे रो पशुपतिः पशूनां चतुष्पदायुत यो द्विपदाम्।
निष्क्रीतः स यज्ञियं भानयेतु रायस्पोषा यजमानं सचन्ताम्॥
अथर्ववेद २।४४।१, ५।२४।१२।, २२।११, ६।६।

भी है जो उपासकों में काफी प्रिय रहा है।[१] लोकप्रियता देवता के रूप में प्रत्यक्ष शक्ति और देवत्व के उत्कर्ष के कारण "महादेव" नाम से उनकी निरन्तर उपासना होती रही है। "सहस्राक्ष" नाम उनकी प्रभुता का द्योतक है।[२] प्रणव स्वरूप चन्द्रशेखर शिव महामान्य, परमपवित्र और परमाराध्य हैं। उनको पुष्टिवर्धन भी कहा जाता है, जो पुष्टि, पोषण और तदनुग्रह शक्ति का द्योतक है। शिव अशुभ को दूर कर मुक्ति प्रदान करते हैं। ये नीलग्रीव नीलशिखंडिन्, त्र्यम्बक, कृतिवासा, गिरित्र, गिरिचर, गिरिशय क्षेत्रपति और वणिक् आदि अनेक नामों से भी अभिहित किये जाते हैं।[३]

शिव के नामों का अन्त यहीं नहीं हो गया है। विभिन्न गुणों के कारण उनको मृत्युंजय,[४] त्रिनेत्र, कृतिवासा,[५] पंचवक्त्र, खण्डपरशु, गंगाधर,[६] महेश्वर, आदिनाथ, कपाली, पिनाकधारी,[७] उमापति, शम्भु और भूतेश[८] भी कहा गया है। ये प्रथमाधिप, विष्णु,[९] पितामह[१०] आदि नामों से भी विख्यात हैं। अमर-

---

१. ववन्दे देवमीशानं सर्वज्ञं सर्वगं प्रभुम् —लिंग पुराण १६।६।

२. अस्त्रा नील शिखण्डेन सहस्त्रोक्षरण वाजिना।
रुद्रे णार्धक घातिना तेन मा समरामहि॥ अथर्ववेद ११।२।७।

३. यजुर्वेद—शतरुद्रीय।

४. ब्रह्मा अनेकबार ब्रह्म में लीन होते हैं परन्तु शिव निर्गुण में लय होते हैं, अन्यथा अनेकबार मृत्यु का ही पराजय होता है। इसीलिए वे मृत्युजंय कहलाते हैं।

५. शिव गजचर्म धारण करते हैं, अतः उन्हें कृतिवासा कहा है।

६. भगीरथ द्वारा प्रार्थना करने पर शिव ने गंगा को अपने सिर पर धारण किया था। अतः उन्हें गगाधर कहा जाने लगा।

७. पिनाक नामक धनुष रखने के कारण पिनाकधारी या पिनाकी कहे जाते हैं।

८. भूत-प्रेत पिशाच आदि के आश्रयदाता होने के कारण इन्हें भूतेश कहा जाता है।

९. पृथ्वी, अप्, तेज, वायु व आकाश इन पांच महाभूतों में तथा जड़ चैतन्यादि सम्पूर्ण सृष्टि में जो व्याप्त रहते हैं उन्हें विष्ण कहते हैं। यह गुण भगवान शिव में सदा विद्यमान है। अतः शिव को विष्णु कहते हैं।
—शिवसहस्रनाम, १०९।

१०. अर्यमा आदि पित्तरों के तथा इन्द्रादि देवों के पिता होने व ब्रह्म के भी पूज्य होने से शिवजी पितामह नाम से विख्यात हैं।

कोश में इनके अन्य अनेक नामों के साथ शलिन्, ईश्वर, शंकर, मृड, श्रीकण्ठ, शितिकण्ठ, विरुपाक्ष, धूर्जटि, नीललोहित, स्मरहर, व्योमकेश, स्थाणु,[१] त्रिपुरान्तक, भावुक, भविक, भव्य, कुशलक्षेम आदि नामों का उल्लेख है।[२]

कहना न होगा कि शिव के अनेक नामों की पृष्ठभूमि में उनको रूप, गुण, धाम, वाहन, आयुध आदि को याद रखना आवश्यक है। उनका उपासक के मनोविज्ञान की भूमिका के निर्माण में उनका प्रभाव पड़ता है जिसको हिन्दी साहित्य का इतिहास भी भुला नहीं सका है। हिन्दी के कवियों के मनोभावों की निर्मिति से इनके योग को याद रखने से ही भक्ति की मनोभूमिका का परिचय मिल सकता है।

शिव रूप

नाम के समान शिव के रूप वर्णन भी वैदिक और उत्तर वैदिक साहित्य में मिलता है। ये समस्त जीवों की आत्मा एवं धर्माध्यक्ष रूप में उपासकों के श्रद्धेय है। वस्तुतः शिव ज्ञान और क्रिया रूप होने से विश्वरूप एवं बोध रूप हैं तथा साधक के संकल्प के कारण उनका सांकल्पिक रूप भी माना जाता है। उनकी आकृति, वर्ण, हस्त, आयुध एवं वाहन आदि संकल्प भेद से भिन्न भिन्न हो जाते हैं। अतः भगवान शंकर के निराकार और साकार दोनों ही स्वरूप साधकों को प्रिय रहे हैं।

शिव पुराण में शिव का निराकार रूप भी मिलता है शिव का नाम अष्टमूर्ति है। इन अष्टमूर्तियों के नाम इस प्रकार हैं—शर्व, भव, रुद्र, उग्र, भीम, पशुपति, महादेव तथा ईशान। ये ही अष्टमूर्तियां क्रमशः पृथ्वी, जल,

---

१. शम्भुरीशः पशुपतिः शिवः शूली महेश्वरः ।। ईश्वर : शर्व ईशानः शंकरश्चन्द्रशेखरः ।। भूतेशः खण्डपरशुगिरीशो गिरिशोमृडः ।। मृत्युंजयः कृत्तिवासाः पिनाकी प्रथमाधिपः । उग्रकपर्दी श्रीकण्ठः शितिकण्ठः कपाल भृत् । वामदेवो महादेवो विरूपाक्ष स्त्रिलोचनः ।। कृशानुरेताः सर्वज्ञो धूर्जटिर्नी लोहितः हरः स्मरहरो भर्गस्त्र्यम्बकस्त्रिपुरान्तकः ।। गंगाधरो अन्धकरिपुः क्रतुध्वंसी, वृषध्वजः ।। व्योमकेशो भवो भीमः स्थाणु रुद्र उमापतिः ।।
अमरकोश १।१।३०–३४।

२. श्वः श्रेयसं शिवं भद्रं कल्याणं मंगलंशुभम् ।
भावुकं भविकं भव्यं कुशलं क्षममस्त्रियाम् । शस्तं चा, —वही १।४।२५।

अग्नि, वायु, आकाश, क्षेत्रज्ञ, सूर्य और चन्द्रमा को अधिष्ठित किये हैं।[1] इनमें ही समस्त चराचर का बोध होता है।

परात्पर ब्रह्म की पांच कलाएं—आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और वाक् है। इन कलाओं के आधार पर भगवान शंकर के पाँच रूप माने जाते हैं। आनन्दमय रूप की मृत्युजंय नाम से उपासना होती है, मृत्यु पर जय करने से उसका भय मन से हटा देने से आनन्द प्रगट होता है, इसी से शिव 'मृत्युजंय' कहलाते हैं। दक्षिणामूर्ति के द्वारा भगवान शिव की 'विज्ञान कला' की उपासना होती है, विज्ञान बुद्धि का नाम है, इसी से दक्षिणामूर्ति 'वर्णमातृका' पर प्रतिष्ठित मानी गई है। विज्ञान का आधार वर्णमातृका है। तीसरी मनोमय कला के अधिष्ठाता कामेश्वर शिव हैं। यह मूर्ति तंत्रों में रक्तवर्ण मानी जाती है, तांत्रिकों में कामेश्वर मूर्ति की उपासना प्रसिद्ध है। पशुपति, नीललोहित आदि नामों में प्रभु की प्राणमय मूर्ति की उपासना होती है। यह पंचमुखी मूर्ति है। आत्मा-पशुपति प्राणरूप पाश के द्वारा विकार—रूप पशुओं का नियंत्रण करता है। पाँचवी कला 'वाक्' 'भूतेश' नाम से उपास्य है। वाक् अन्न और भूत—ये शब्द एक ही अर्थ के बोधक हैं। 'भूतेश' शिव अष्ठमूर्ति माने जाते हैं।[2]

भयंकर रूप

निराकार रूप के अतिरिक्त शिव के साकार भयंकर और सोम्य रूप की कल्पना भी साहित्य में की गई है। भयंकर रूप से उत्तरवैदिक साहित्य में शिव का 'कपाली' रूप प्राप्त होता है। इस रूप का पुराणों में रामायण महाभारत की अपेक्षा अधिक विस्तृत वर्णन है। इस रूप में शिव की आकृति भयावह है। वे कराल, 'रुद्र' हैं। उनकी जिह्वा और दंष्ट्राएं वाहर निकले हुए हैं, वे सब प्रकार से

---

१. ॐ शर्वाय क्षितिमूर्तये नमः
ॐ भवाय जलमूर्तये नमः
ॐ रुद्राय अग्निमूर्तये नमः
ॐ उग्राय वायुमूर्तये नमः
ॐ भीमाय आकाशमूर्तये नमः
ॐ गणुपतये यजमानमूर्तये नमः
ॐ महादेवाय सोममूर्तये नमः
ॐ ईशानाय सूर्यमूर्तये नमः ॥—शिवपुराण, वायवीय संहिता, अध्याय ३।

२. गिरधर शर्मा-शिव महिमा-संक्षिप्त शिवपुराण,—कल्याण अंक, पृ० ५८०।

भीषण हैं।[१] वे वस्त्रविहीन हैं, इसीसे इनको 'दिगम्बर' की उपाधि मिली है।[२] उनके समस्त शरीर पर भस्म का अवलेप किया हुआ है। इस कारण इनको भस्मनाथ भी कहा गया है।[३] ऐसी आकृति और वेशभूषा में वे हाथ में कपाल का कमण्डल लिए विचरते हैं।[४] इनके गले में नरमुण्डमाला है।[५] यह नरमुण्डमाला उनके कपालित्व को और अधिक व्यक्त करती है। श्मशान उनकी प्रिय विहारभूमि है।[६] यहीं से वे अपने कपाल और भस्म लेते हैं और यहीं वे भूत, पिशाच आदि अनुचरों के साथ विहार करते हैं। अनुचरों की आकृति भी ठीक शिव जैसी ही है।[७] एक दो स्थलों पर स्वयं शिव को 'निशाचर' कहा गया है। इस रूप में शिव को वहुधा 'कपालेश्वर' भी कहा जाता है। शिव के इस रूप की उपासना जनसाधारण में सामान्य रूप से प्रचलित नहीं थी। जनता का एक वर्ग विशेष ही शिव के कापालिक रूप का उपासक था, और है।

वेदोत्तरकाल में जब त्रिमूर्ति की कल्पना की गई, तब शिव को विश्व संहारक का पद दिया गया तब उनको विश्व का सृष्टा, पालनकर्ता और संहारकर्ता माना जाने लगा। परन्तु जब उनकी संहारकर्ता के रूप में कल्पना की जाती थी, तव उनका वही प्राचीन उग्र रूप सामने आता था। पुराणों में इस रूप का वहुत विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। शिव को उग्ररूप में क्रूर और भयावह, महाविनाशकारी देवता माना गया है जिसका कोई विरोध नहीं कर सकता। इस रूप में इनको 'चण्ड' 'भैरव' 'महाकाल' इत्यादि उपाधियों दी गई हैं।[८] उनका रंग काला है, वे त्रिशूलधारी हैं, कभी-कभी उनके हाथ में एक 'टंक' भी रहता है। वे रुद्राक्ष की माला पहिने रहते हैं, ललाट पर नव-चन्द्र सुशोभित रहता हैं।[९] मतस्य पुराण में इस रूप में शिव को रक्तवर्ण, 'क्षपण', 'भीम' और साक्षात् 'मृत्यु' कहा गया है।[१०] इस रूप में उनके अनुचर

---

१. मतस्य पुराण, ४७।१२७, अग्नि पुराण ३२४।१६।
२. वही, १५५।२३ और ४१।६६।
३. वायु पुराण ११२।५३।
४. ब्रह्म पुराण, ३७।७, मतस्य पुराण ४७।१३७।
५. वायु पुराण २४।१४०, वराह पुराण २५।२४।
६. वही
७. मतस्य पुराण, ८।५, ब्रह्म पुराण २८।३७।
८. मतस्य पुराण—२५२।१० ब्रह्म पुराण ४३।६६, अग्नि पुराण ७६।५।
९. अग्नि पुराण ७६।७ और आगे।
१०. मतस्य पुराण ४७।१२८ और आगे।

दानव, दैत्य, गन्धर्व और यक्ष हैं।[1] ब्रह्माण्ड पुराण में कहा गया है कि शिव ने अपने गुणों की सृष्टि स्वयं की थी और वे शिव के अनुरूप ही हैं। इससे शिव का रूप और स्पष्ट हो जाता है। अपने इस उग्ररूप में विश्व संहर्ता होने के साथ भगवान् शिव की कल्पना देवताओं और मनुष्यों के शत्रुओं के संहारक के रूप में भी की गई है। उग्र रूप में साथ साथ उत्तर वैदिक साहित्य एवं पुराणों में शिव के सोम्य रूप का वर्णन भी मिलता है।

सोम्य रूप

ईश्वर में निष्ठा, ईश्वर की दया तथा कृपा से मोक्ष प्राप्ति की भावना के विकास के कारण रुद्र के सोम्य रूप का विकास हुआ। रामायण में रुद्र का यही रूप प्राप्त होता है। वे वरदाता आशुतोष और दयानिधि हैं। उनकी कल्पना सतत् मानव जाति के कल्याणकारी और भक्तानुरूपी देवता के रूप में की गयी। वे नटराज हैं, वे पार्वती पति हैं, अर्धनारीश्वर रूप में शिव पार्वती की उपासना साथ साथ होती है। दोनों को दया की मूर्ति और सोम्य स्वभाव युक्त माना गया है। 'कैलाश' उनका निवास स्थान है। उनके इसी रूप को लेकर स्तुतियाँ गायी जाती हैं।

शिव अत्यन्त सुन्दर आकृतिवाले, गौरवर्ण, त्रिनेत्र, अंग प्रत्यंग में विभिन्न आभूषणों तथा अगर, कस्तूरी, मनोहर कुंकुम के अंगराज से विभूषित और देवताओं से सेवित हैं। उनके अनुरूप ही पार्वती का रूप लावण्य भी स्त्री जाति में सर्वोत्तम माना है।

शिव के गण भी उनके साथ हैं। उनका रूप बड़ा विचित्र है—कुछ विकृतांग, किन्हीं में मानव शरीर और पशुपक्षियों के सिर तथा किन्हीं के मानव सिर और शरीर पशुओं के हैं। ये गण वैदिक रुद्र के स्वरूप की स्मृति मात्र हैं। इस प्रकार लोक प्रचलित स्वरूप में शिव के दो रूप—भयंकर और सोम्य होगए। शिव के रूप की कल्पना के आधार पर उपासकों ने विभिन्न प्रकार की शिव मूर्तियों का निर्माण किया।

मूर्तियों में शिव रूप—शिव की मूर्तियों में मानवाकार, लिंग मूर्ति, अर्धनारीश्वर और नटराज की मूर्तियाँ अधिक महत्वपूर्ण हैं।

मानवाकार प्रतिमाएं साधारणतः धातु की बनी होती हैं, जिनमें शिव की सोम्य और रौद्र दोनों आकृतियाँ पाई जाती हैं, इन मूर्तियों

---

१. वायु पुराण, २४।१०७।

मानवाकार मूर्तियाँ में शिव के चारों ओर पशु, सर्प, यति और देवी भी हैं। शिव के क्रूर रूप की प्रतीक भैरव मूर्ति का सब से अधिक प्रचार है। इनमें शिव को दिगम्बर और सर्पावेष्ठित दिखाया गया है। ये मूर्तियाँ रुद्र के मृत्यु के देवता के स्वरूप की याद दिलाती हैं। इसी प्रकार अघोर मूर्तियों में शिव के कापालिक स्वरूप को दर्शाया गया है, इनमें वे नीलकण्ठ, कृष्णवर्ण और मुण्डमालाधारी दिखलाए गए हैं।

लिंग मूर्तियां—लिंग मूर्तियों पर शिव की पूरी अथवा आंशिक आकृति बनी होती।

अर्धनारीश्वर मूर्तियां—इसी प्रकार अर्धनारीश्वर रूप की मूर्तियों में दांया भाग पुरुषाकार होता है, जिसमें जटाजूट, सर्प, कमण्डल अथवा नरकपाल और त्रिशूल दिखलाए जाते हैं। वायें अंग में स्त्री रूप की सुसज्जित वेशभूषा होती है।

नटराज मूर्तियां—शिव का नटराज स्वरूप मूर्तिकारों को अधिक प्रिय है। इस रूप की मूर्तियों में उन्हें ताण्डव नृत्य करते हुए दिखलाया गया है। इनमें वे जटाधारी हैं, उनके चार हाथ हैं। वे ललाट पर चन्द्रमा तथा सिर पर गंगा को धारण किए हुए हैं। कहीं कहीं इस रूप में उनके पैरों के नीचे दानव का मर्दन करते हुए भी दिखलाया गया है।

अर्धनारीश्वर और नटराज की मूर्तियों के समान ही त्रिमूर्ति भी प्रख्यात है जिसमें ब्रह्मा और विष्णु को शिव के दोनों पक्षों में दिखलाया जाता है। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि शिव की ये मूर्तियाँ वस्तुतः उनकी मान्यताओं के अनुरूप ही बनायी गयीं। इनमें शिव के पौराणिक स्वरूप का चित्र अंकित हुआ है। ये भक्त हृदय के साकार चित्र हैं। भक्ति मार्ग में इन मूर्तियों का अपना अलग स्थान है।

भक्त भगवान् की सब विभूतियों को सद्भाव से देखते हैं। वे एक एक को प्यार न करके सब में अपनी भक्ति स्थिर करते हैं। इससे प्रेम स्वतः ही सर्वत्र व्याप्त हो जाता है, इस स्थिति में 'तदीयता' की प्रतीति होती है। प्रिय से सम्बन्धित सभी कुछ प्रिय हैं का अनुभव होता है। प्रिय के समान ही उनके परिवार व उनसे सम्बन्धित वस्तुएं भी साधक को प्रिय बन जाती है।

शिव परिवार

शिव भक्ति में उनके परिवार का भी बहुत महत्व है। शिव के नाम, रूप और गुण के विस्तार के समान ही उनके परिवार के सदस्यों का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। शिव की शक्ति के रूप में अम्बिका (पार्वती) का वर्णन वैदिक काल से ही प्राप्त होता है।

पार्वती

'इच्छा शक्ति रूपकुमारी' 'इस 'पाशुपत सूत्र' के प्रमाण से महादेव रुद्र की इच्छा शक्ति ही पार्वती हैं।'"शिवस्य गृहियेधिनो गृहिणी प्रकृतिर्दिव्या प्रजाश्च महदादयः'"के अनुसार प्रकृति महादेव की पत्नी मानी गई है। निरुक्तकार ने भी' आत्मेव सर्व देवस्य देवस्य' कहकर उपर्युक्त भाव का अनुमोदन किया है। चन्द्रमा की एक कला को स्कन्दपुराण में 'अमा' कहा गया है, यही दक्ष पुत्री सती मानी गई है वस्तुतः पार्वतीज्ञान, इच्छा एवं क्रिया रूप में, शिव में विद्यमान अहंता शक्ति हैं। यह अहंसा शक्ति ही स्पंदित होने पर पार्वती कहलाती हैं, उनमें ज्ञान, इच्छा, क्रिया आदि 'पर्व' आने से वे 'पर्ववती' है ।[1] यही क्रिया शक्ति हैं, जब तक यह इच्छा शक्ति रूप में हैं, तब तक सती कहलाती हैं और क्रियाशक्ति रूप में परिणत होने पर पार्वती बन जाती हैं।

गृह सूत्रों और धर्मसूत्रों तक उक्त पार्वती के स्वरूप का पर्याप्त विकास हो चुका था। रुद्र मूर्तियों की प्रतिष्ठापन विधियों के साथ साथ इनके पूजन की विधियां भी बतलाई गई हैं। इनको दुर्गा, आर्या, भगवती, देवसंकीर्ति आदि उपाधियाँ भी दी गयीं। यह देवी देवताओं द्वारा भी स्तुत्य थीं। महाबली, महायोगिनी, शंखधारिणी आदि उपाधियों के साथ ही इन्हें 'महापृथ्वी' उपाधि भी दी गयी। इनकी 'मनोगमा' उपाधि से विकासमान स्वरूप का ज्ञान भी प्राप्त होता है। 'महावैष्णवी' उपाधि से ज्ञात होता है कि यह देवी रुद्र की शक्ति मानी जाती थीं और उपनिषदों की शक्ति से इसका तादात्म्य हो गया था।

यह शक्ति शिव के कार्य में विभिन्न अवसरों पर विभिन्न रूप धारण करती है। इसी को 'परा' अथवा 'परमशक्ति' कहा गया है, जो सर्वत्र व्याप्त हैं और 'मायिन्' 'महेश्वर' की माया है। जगत् की नियंत्री, सर्वशक्तियों की

---

१. सर्वदर्शनाचार्य तत्व चिंतक स्वामी—अनन्त श्री अनिरुद्धाचार्य वेंकटाचार्य महाराज, रुद्र,—देवता—तत्व—कल्याण का संक्षिप्त शिव पुराण अंक, पृ० ५७३।

जननी, विश्वमाता और कल्याणकारिणी आदि कह कर इसकी आराधना की गई है। इसको सदैव ही 'शिवप्रिया' मान कर स्मरण किया जाता है।[1]

ब्रह्मवैवर्त पुराण के दुर्गाकाण्ड में देवी के सौम्य और भीषण रूप का सम्मिश्रण अत्यन्त स्पष्ट रूप से दिखलाई देता है। वायु पुराण में देवी के श्वेत और कृष्ण दो वर्ण माने गये हैं। ये उनके दो रूपों के प्रतीक हैं। पार्वतीरूप में उपासना के समय उनका वर्ण श्वेत और भयावह रूप की उपासना में उनका वर्ण कृष्ण माना गया। देवी की उपासना का विशेष दिवस उल्का–नवमीं अब महानवमी के नाम से विख्यात है।

सिन्धु घाटी के निवासियों का वैदिक आर्यों के साथ सम्मिश्रण होने पर रुद्र ने सिंधुघाटी के देवता को आत्मसात् किया और स्त्री देवता का रुद्र की पूर्व सहचरी अम्बिका के साथ तादात्म्य हो गया, और वह रुद्र की पत्नी मानी जाने लगी। रामायण महाभारत काल में शैवधर्म के लोक प्रचलित रूप में शिव की पत्नी–पार्वती की उपासना का आरम्भ हुआ। इनमें पार्वती की उपासना स्वतंत्र रूप से भी प्राप्त होती है। इस देवी को समस्त विश्व की परम साम्राज्ञी और शिव के क्रूर रूप में भी उसकी सहचरी माना गया है। इस प्रकार हमारे आलोच्य काल तक पार्वती के स्वरूप का पूर्ण विकास हो चुका था। साहित्य जगत् में वह शिव की शक्ति स्वरूपा सदैव उनके बाएं अंग में विराजने वाली और उनके समान ही समादृत हैं। स्कन्द की माता भी यही मानी जाती है।

स्कन्द

स्कन्द शिवात्मज हैं। वे अपर्णा, गंगा, गणाम्बा तथा कृतिकाओं के भी पुत्र माने जाते हैं। उन्हें अग्निपुत्र भी कहा जाता है। वे विशाल, शाख और नैगमेय नामक तीनों भाइयों से सदा घिरे रहते हैं। उनके छः मुख हैं, इसलिए वे षडानन भी कहलाते हैं। वे इन्द्र विजयी, इन्द्र सेनापति तथा तारकासुर को परास्त करने वाले हैं, अपनी शक्ति से मेरू आदि पर्वतों का छेदन करने वाले तथा कंचन–कीर्ति वाले हैं। उनके नेत्र प्रफुल्ल कमल के समान सुन्दर हैं। कुमार नाम से प्रसिद्ध, वे, सुकुमारों के रूप के सब से बड़े उदाहरण हैं। शिव प्रिय शिवा–नुरक्त स्कन्द नित्य प्रति शिव चरणों की वन्दना करते हैं।[2]

---

१. (क) डा० यदुवंशी, शैवमत, पृ० ५३।
(ख) कल्चरल हेरीटेज आफ इन्डिया, पृ० १०।

२. शिवपुराण वायवीय संहिता, ३१।७०, ७१,७२,७३,७४।

गणेश

स्कन्द के अतिरिक्त शिव के द्वितीय पुत्र गणेश हैं, जिनका मुख मत्त गजानन का सा है। गंगा और उमा दोनों ही इनकी माताएं मानी जाती हैं। आकाश इनका शरीर है, दिशा भुजाएं हैं तथा चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि इनके तीन नेत्र हैं। ऐरावत आदि दिव्य दिग्गज नित्य इनकी पूजा करते हैं। इनके मस्तक से शिव ज्ञान मद की धारा बहती रहती है। ये देवताओं के भी विघ्न का निवारण करते हैं और असुर आदि के कार्यों में विघ्न डालते रहते हैं।[1]

शिव की लीलाएं भी उन्हीं के समान मोहक एवं उपासक-सुखद हैं।

शिवलीला

शिव अनादि एवं स्वतंत्र हैं, किन्तु वे लीलाधर भी हैं। वे स्वेच्छा से अनेक लीलाएं करते हैं और इन्हीं लीलाओं के सम्बन्ध से उनके अनेक विग्रह-प्रसिद्ध हैं। विग्रहधारी महेश्वर ने ब्रह्म की स्तुति से, सती को ग्रहण करने के लिए प्रथम बाल लीला विग्रह धारण किया।

शिव-सती लीला

आश्विन मास की नवमी तिथि को, भगवान् शिव ने, राजा दक्ष की पुत्री सती को प्रत्यक्ष दर्शन दिया। वे सर्वाङ्ग सुन्दर और गोर वर्ण थे, उनके पाँच मुख थे और प्रत्येक मुख में तीन नेत्र थे। वे प्रसन्न चित्त थे, उनके कण्ठ में नील चिन्ह दृष्टि-गोचर हो रहा था। शिव के हाथों में त्रिशूल, ब्रह्म-कपाल, वर तथा अभय सुशोभित थे, भस्ममय शरीर था, गंगा उनके मस्तक पर शोभा बढ़ा रही थी। इस प्रकार ब्रह्म की स्तुति के कारण, शिव ने प्रथम बार यह विग्रह स्वरूप धारण किया।[2]

इसी लीला के प्रकरण में शिव ने चैत्र मास के शुक्लपक्ष की त्रयोदशी को, पूर्वा फाल्गुनी नक्षत्र में सती से विवाह किया।[3] तदनन्तर इसी प्रसंग में, दक्ष-यज्ञ के समय, दक्ष द्वारा पार्षदों को शाप और रुद्र के तेज के प्रभाव से कुपित नन्दीश्वर का शाप तथा स्वयं शिव का वहाँ प्रस्तुत होकर नन्दीश्वर को समझाना आदि अनेक लीलाओं का महत्वपूर्ण स्थान है।[4] सती का अपने पिता राजा दक्ष के यहाँ अनामंत्रित जाना, शिव के अपमान के कारण योगाग्नि में

---

१. शिवपुराण-वायवीय संहिता, ३१, ६७,६८,६९।
२. शिव पुराण-रुद्र संहिता-अध्याय १७।
३. वही, अध्याय १८।
४. वही, अध्याय २६।

भस्म होना, तथा वीरभद्र द्वारा यज्ञ विध्वंस आदि भी महत्वपूर्ण प्रकरण हैं।[1]

शिव लीला का दूसरा प्रकरण पार्वती जन्म से आरम्भ होता है।

पार्वती प्रसंग से शिव लीला

सती राजा दक्ष के यज्ञ में योगाग्नि द्वारा भस्म होकर, हिमवान के घर उत्पन्न हुई। उन्होंने शिव को पति रूप में प्राप्त करने के लिए घोर तपस्या की।[2] इसी प्रसंग में देवताओं द्वारा तारकासुर वध के लिए शिव की स्तुति,[3] कामदहन[4] और शिवविवाह[5] आदि लीलाओं का उल्लेख भी प्राप्त होता है।

इसी लीला के प्रकरण में शिव का नटराज रूप भी प्राप्त होता है।

नटराज रूप

पार्वती की प्रार्थना पर शिव ने लोक लीला का अनुकरण करना स्वीकार किया। भगवान् शम्भु नट का रूप धारण कर मेनका के पास गए और इस वेश में उन्होंने मेनका तथा वहाँ उपस्थित अन्य स्त्रियों सम्मुख नृत्य किया और नाना प्रकार के मनोहर गीत गाए, शृंग और डमरू को बजाया तथा अनेक लीलाएं की। नृत्य के उपरान्त मेनका ने बहुत से सुन्दर रत्न देने चाहे पर नटराज ने उन्हें स्वीकार न कर भिक्षा में उनकी पुत्री शिवा की मांग की। नटराज की यह माँग सुनकर मेनका और हिमवान् बड़े क्रोधित हुए और उन्होंने सेवकों को आज्ञा दी कि नटराज को बाहर निकाल दिया जाय। नटराज विशालकाय अग्नि की भाँति उत्तम तेज से प्रभायुक्त थे, उनको कोई बाहर न निकाल सका।[6] तदनन्तर भगवान् शिव ने शैलराज को अपना अनन्त प्रभाव दिखाना प्रारम्भ किया।

इसी प्रकरण में यह भी बताया गया है कि शिव ब्राह्मण का वेश धारण

ब्राह्मण रूप

कर हिमवान् के यहां गए और अपना परिचय ज्योतिषि वृत्ति-धारी ब्राह्मण कह कर दिया।[7] इसी प्रकार शिव विवाह और शिवा के साथ अनेक लीलाओं का उल्लेख भी प्राप्त होता है।

---

१. शिव पुराण—रुद्र संहिता—अध्याय २८,२९,३२।
२. वही, अध्याय ६, ९,१०,११।
३. वही, अध्याय १४,१५,१६,।
४. वही, अध्याय १८—१९।
५. वही, अध्याय २४, ४१—४३।
६. वही, अध्याय ३०।
७. वही, अध्याय ३१।
८. वही, अध्याय ३१।

हनुमान रूप

हनुमद्रूप से शिव ने अनेक लीलाएं की हैं। 'राम' के कार्य के लिए अंजना के गर्भ से वानर शरीर धारण कर उत्पन्न हुए, उनका नाम हनुमान रखा गया।[1]

किरात रूप

अर्जुन की स्तुति से प्रसन्न होकर, शिव किरात रूप में प्रकट हुए।[2] इस रूप में उन्होंने वस्त्र खण्डों से ईशानध्वज बांध रखा था, शरीर पर श्वेत धारियाँ चमक रही थीं, कमर में बाणों से भरा हुआ तरकस बंधा था और वे स्वयं, धनुष बाण धारण किए थे। इन किरातवेशधारी शिव ने, अर्जुन को महान अस्त्र दिया।

शिव-अवतार

शिव पुराण की शतरुद्रसंहिता में, भगवान् शिव के सद्योजात, वामदेव, तत्पुरुष, अघोर और ईशान नामक पांच अवतारों का वर्णन प्राप्त होता है।[3] सृष्टि के आदि में शंकर 'कामदा' मूर्ति में प्रविष्ट होकर अर्धनारी-नर रूप में प्रकट हुए। उन्होंने ब्रह्मा की स्तुति से प्रसन्न होकर, सृष्टि के निर्माण के लिए, अपने शरीर के अर्द्ध भाग से 'शिवा' को पृथक किया।[4]

इसी प्रकार शिव के 'सुतार,' सुहोत्र 'कंक' तथा 'लोकाक्षि, जैगीषव्य,' 'दधि-वाहन,' 'ऋषभ आदि अवतारों का वर्णन प्राप्त होता है। वे 'तप' नाम से लम्बाक्ष केशलम्ब प्रलम्बक और लम्बोदर आदि पुत्रों के पिता माने गए हैं। उनके अत्रि, महामुनि बलि, गौतम, वेदशिरा, गोकर्ण, गुहावासी, शिखण्डी, माली, दारुक, श्वेत, शूली, दण्डधारी, लकुली आदि अवतार भी माने गए हैं।[5] भगवान् शिव का नन्दीश्वर रूप में अवतार बड़ा प्रसिद्ध है। यज्ञवेता मुनि शिलाद जिस समय यज्ञक्षेत्र जोत रहे थे, उसी समय, यज्ञ से पूर्व, शिव के शरीर से नन्दीश्वर का जन्म हुआ। ये ही नन्दी अनन्य तप करके शिव के गणाध्यक्ष बने।[6]

१, शिव पुराण —रुद्र संहिता, अध्याय १९–२०।
२. वही, अध्याय ४०–४१।
३. वही, अध्याय १।
४. वही, अध्याय २–३।
५. वही, अध्याय ४।
६. वही, अध्याय ६–७।

निष्कर्ष

ईश्वर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव और अनुग्रह आदि कृत्यों का अस्तित्व उसी में नित्य भाव से है। ब्रह्मप्रत्यक्ष रूप में प्रकट होकर, सृष्टि संचालन के कार्यों में, असत्य और अमंगल का हनन करता है और अनादि, अप्रत्यक्ष रूप में भी इन पांचों कृत्यों का नियंत्रण करता है। शैवमत में यह जगत् शिव का क्रीड़ास्थल है। वह अपनी लीला के प्रसार द्वारा ही जगत् का आविर्भाव और तिरोभाव करता है। यह जगत् उसकी स्वतंत्र लीला का ही परिणाम है। उनका नृत्य भी उक्त पांचों क्रियाओं को उपस्थित करता है। डमरू की ध्वनि से सृष्टि का आरम्भ, वरद्हस्त से संरक्षण, अग्नि से संहार तथा उठे हुए कदम से निर्वाण माना गया है। शिव के नृत्य से जीवात्मा के पाप नष्ट होते हैं, मायारूपी अन्धकार हटता है और उनकी कृपा से कर्म ज्योति का उज्ज्वल प्रकाश होता है। जीव शिव की कृपा से अनुप्राणित हो, मंगल-कामना से आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख होता है।

सारांशतः कहा जा सकता है कि भगवान् का सौन्दर्य-सार-सर्वस्व, श्रुति शास्त्रों का एक मात्र लक्ष्य है। उपासक उसी विग्रह के चरणों के चिन्तन में लीन रहा करते हैं। यह विग्रह अत्यन्त निर्मल है, यही भक्त और भगवान् के सामीप्य को प्राप्त करने के लिए सेतु है। उपासक उपासना का आधार लेकर इस सेतु से भवसागर के पार उतरता है, भगवान् के विग्रह स्वरूप में तत्कालीनता प्राप्त करता है। उपासना उपासक और उपास्य को मिलाने का प्रमुख साधन है।

उपासना

भक्ति क्षेत्र में, उपासक और उपास्य के सामीप्य का एक मात्र साधन उपासना है। उपासक और उपास्य का निरूपण करते समय इसको कदापि भुलाया नहीं जा सकता। यह परमेश्वर के स्वरूप से तदाकार कराने का सरल उपाय है। अतएव परमात्म तत्व का अभेदात्मक भाव से चिन्तन, ध्यान और उसके सान्निध्य से प्राप्त आनन्द ही सर्वोत्तम उपासना अथवा भक्ति है।

भक्ति (व्युत्पत्ति एवं अर्थ)

भक्ति शब्द 'भज्' (सेवायाम्) धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय लगा कर बनाया है। भक्ति का अर्थ है भगवान् की सेवा करना। सेवा का आलंबन कोई भी हो सकता है, पर जिस अर्थ में इसका प्रयोग जन सामान्य में प्रचलित है उसका अपरिहार्य आलंबन 'ईश्वर' है। अतः भक्ति अनन्त श्रद्धेय के चरणों में प्रसूत अगाध पवित्र और उज्ज्वल प्रेम की धारा है। यह आस्था, श्रद्धा और विश्वास

से युक्त अनुरक्ति है जिसे ऐश्वर्यपरा के नाम से अभिहित किया गया है। ऐश्वर्य का अर्थ है ईश्वर का भाव, अतः भक्ति ईश्वर भाव प्रधानता का नाम है। इसे 'आत्मैकपरा'[१] भी कहा गया है। भक्ति शुद्ध रागात्मिका वृत्ति होने से ह्लादिनी शक्ति की एक विशेष वृत्ति है। इससे मन में विनय और दैन्य की सृष्टि होती है। इस प्रकार मन को भगवान में पूर्ण रूप से केन्द्रित करके किसी फल की इच्छा लिये विना, उसका निरन्तर भजन करना ही भक्ति है।[२] भक्ति धर्म-साधना का भावात्मक अथवा रसात्मक विकास है।[३]

भक्ति प्रयोग-क्षेत्र इस धर्म साधना की सेवा, आराधना, पूजा, ध्यान, उपासना आदि अनेक नामों से अभिहित किया जाता है। यही अर्चना, वन्दना, भजन रूप में भक्तों के हृदय को रसमग्न करती है।

भारतीय भक्ति का क्रमशः विकास हुआ है। अतएव उसका एक पृथक् इतिहास भी है जो हमें भक्ति के अनेक मोड़ों को समझने में सहायता देता है।

भक्ति का इतिहास भक्ति का इतिहास मानव अन्तर्लोक के विकास का 'इतिहास' है। इस विकास की दिशा में भारतीय समाज की प्रकृति बड़ी गौरव-मयी है। यह भारतीय संस्कृति के विकास का मनोवैज्ञानिक पक्ष है। इसका बीज वैदिक साहित्य में ही उपलब्ध होता है। आर्य जाति ने सम्पूर्ण जगत् में कार्य करने वाली शक्ति को देवों के रूप में ग्रहण किया था, जिनसे सम्बन्धित आत्मविभोर करने वाले वेद मंत्रों को पढ़ कर सच्ची भक्ति की अनुभूति न करना असम्भव है। मंत्र-काल में ही 'ब्रह्मरूप' में ऐसी शक्ति की भावना की गई, जिसमें अग्नि वायु, वरुण, इन्द्र आदि देवताओं के रूप में ग्रहित, भिन्न-भिन्न शक्तियों का समाहार था।[४] 'ब्रह्म' नाम से 'वाच्य' परम शक्ति और उस शक्ति की नाना रूपों में अभिव्यक्ति भक्ति के आधार बने।

भक्तिमार्ग का शिलान्यास वस्तुतः आरण्यक और उपनिषदों के उपासना काण्ड में हुआ, यहाँ यह ज्ञान काण्ड का ही अंग रहा। ज्ञान काण्ड के दो भाग माने गये हैं—एक निवृति परक और दूसरा हृदय पक्ष समन्वित कर्मपरक।[५]

---

१. शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र,—३०।

२. भक्तिरस्य भजनं, एतादिहापुत्रोपाधिनेराश्येना–मुष्मिन् मनः कल्पनम्। गोपाल पूर्व तापनी उपनिषद् २-१।

३. रामचन्द्र शुक्ल—सूरदास, पृ० ४५।

४. डा० हरवंशलाल शर्मा—सूर और उनका साहित्य, पृ० ३३५।

५. वही, पृ० २५।

कर्म में हृदय तत्त्व को प्राधान्य मिलने पर बुद्धि और हृदय का स्वाभाविक रूप से संचालन प्रारम्भ हुआ। उपनिषद् काल में भक्ति का स्वरूप और स्पष्ट हुआ। वैदिक काल के रुद्र-पशुपति, महादेव और शिव नाम से तथा विष्णु, नारायण, वासुदेव और कृष्ण आदि नाम से उपास्य बने। उपनिषदों के उपासना काण्ड के पर्यालोचन से ज्ञात होता है कि ब्रह्म बोध के लिए न केवल ज्ञान मार्ग अपितु उपासना भी आवश्यक है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में 'अनुग्रह' सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। इसी से प्रपति सिद्धान्त की उत्पत्ति मानी गई है। इसमें प्रतिष्ठित शैव भक्ति की पद्धति पर चलने वालों की संख्या बढ़ती गयी। वस्तुतः यह मार्ग वैदिक उपासना और अर्चना पद्धति का ही विकसित स्वरूप था।[1] इस प्रकार असंदिग्ध रूप से यह कहा जा सकता है कि भक्ति का अत्यन्त स्वाभाविक एवं सर्वग्राह्य विकास वैदिक युग में हुआ। यह भक्ति का प्रथम उत्थान है।[2] ब्राह्मण काल के याज्ञिक अनुष्ठानों तथा औपनिषदिक निवृत्तिपरता एवं ज्ञानवाद में भी यह धारा क्षीण रूप से बनी रही। भक्ति का द्वितीय उत्थान परिस्थितियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार गीता में दिखलाई पड़ा।

गीता ने वैदिक हिंसा को यज्ञपरक काम्य कर्म के स्थान पर अनासक्ति पूर्ण कर्तव्य कर्म की स्थापना की तथा निवृत्ति-परायण ज्ञान काण्ड के स्थान पर प्रवृत्ति-परायण भगवद् भक्ति को स्थान दिया।[3] गीता द्वारा अवरोध पाकर कुछ समय के पश्चात् फलाकांक्षा समन्वित वैदिक कर्मकाण्ड फिर बल पकड़ने लगा, जिसके विरोध में जैन और बौद्ध आदि सम्प्रदायों का प्रचार हुआ। इन मतावलम्बियों ने ग्रीक प्रभाव में जाकर मूर्तियों और मन्दिरों की स्थापना की। यही भक्ति का तृतीय उत्थान है।

ईसा पूर्व छठी शताब्दी से लेकर ईसा की तीसरी शताब्दी तक भारतवर्ष में बौद्धमत का पूर्ण साम्राज्य रहा। बौद्धों ने भक्ति से समझौता कर महायान सम्प्रदाय की स्थापना की। गुप्त वंशीय सम्राटों की छत्रछाया में भागवत् धर्म का प्रचार हुआ। इसी युग में पांच रात्र संहिताओं का निर्माण हुआ।[4] ईसा की दूसरी शताब्दी से छठी शताब्दी पर्यन्त अनेक पुराणों का

---

१. डा० हिरण्मय–हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० ६२।
२. डा० मुन्शीराम शर्मा-भारतीय साधना और सूर साहित्य, पृ०२८।
३. हरवंश लाल शर्मा-सूर और उनका साहित्य, पृ० ९८।
४. डा० मुन्शीराम शर्मा-भारतीय साधना और सूर, पृ० ३२।

सृजन हुआ। पौराणिक धर्म पूर्ववर्ती भागवत् धर्म का ही ऐसा नव परिवर्द्धित रूप था जिसमें एक ओर भक्ति भावना को प्रमुख स्थान दिया गया और दूसरी ओर उसमें ऐसे तत्वों का निर्माण हुआ जिससे वह जैन और बौद्ध धर्म की प्रतिस्पर्धा में टिक सके। जहाँ भक्ति के सैद्धान्तिक स्वरूप का विकास सूत्र ग्रन्थों में हुआ वहां उसके व्यावहारिक रूप के विकास का प्रयत्न पुराण साहित्य के द्वारा हुआ। ईसा की आठवीं नवीं शताब्दी तक पौराणिक[1] धर्म का विकास हो चुका था।

भारतीय संस्कृति के विकास के इतिहास में शंकराचार्य का अस्तित्व एक युग परिवर्तनकारी घटना है, जब कि जैन, बौद्ध आदि वेद विरोधी मार्गों की बौद्धिक स्वतन्त्रता समाप्त हो चुकी थी। सारा देश अनेक प्रकार के धार्मिक सम्प्रदायों में विभक्त हो चुका था तथा परपम्रागत दोषों से जर्जरित होकर वैदिक धर्म तेजोहीन हो गया था, ऐसे समय में शंकराचार्य ने एक ओर प्राचीन औपनिषदिक धर्म की पुनः स्थापना की, दूसरी ओर वेद विरोधी विचारधारा के नाम पर पनपने वाले कुतर्कमूलक आवेश को रोक कर आध्यात्मिक दर्शन का प्रतिपादन किया। जिनके कारण देश के आध्यात्मिक, जीवन में नवीन शक्ति का संचार हुआ।[2]

शंकर के आविर्भाव के पूर्व तमिलनाड में शैवभक्त 'नायनमारों' और वैष्णव भक्त आलवारों ने अपनी भक्ति की गंगा प्रवाहित करदी थी। अतः शैव और वैष्णव भक्तों की प्रेममूलक भक्ति भावना का स्त्रोत, शंकराचार्य के मायावादी प्रस्तरखण्ड को भेद कर निर्झरिणी की भाँति, फिर प्रवाहित हुआ।[3] शंकर के अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया के रूप में वैष्णव आचार्यों ने संगठित रूप से आन्दोलन चलाया। इनमें सर्वप्रथम आचार्य नाथमुनि ही माने गए जो नवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुए। इनके भक्तिप्रधान संगठन के कार्य को यामुनाचार्य ने आगे बढ़ाया, यामुनाचार्य नाथमुनि के पौत्र थे। इन दोनों के द्वारा भक्ति की रूप रेखा बनायी जा चुकी थी।[4] इस रूपरेखा को व्यवस्थित करने एवं देशव्यापी प्रचार करने का श्रेय रामानुजाचार्य को है। इनके द्वारा प्रतिपादित

---

१. प्रो० शिवकुमार-हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ, पृ० ९२।
२. डा० हिरण्मय–हि० ओ० क० में भक्ति आ० का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० २३।
३. वही, पृ० २४।
४. डा० हरवंशलाल शर्मा–सूर और उनका साहित्य, पृ० १३३।

भक्ति मार्ग में हृदय-पक्ष और बुद्धिपक्ष दोनों का सामंजस्य स्थापित हुआ।[1] इसके अतिरिक्त रामानुज ने अपने सिद्धान्त का नाम विशिष्टाद्वैत रखकर इस विषय में शंकर के अद्वैतवाद के साथ सामंजस्य स्थापित किया। शंकर के अद्वैत और रामानुज के विशिष्टाद्वैत का तीव्र विरोध कर माध्वाचार्य ने द्वैतमत की स्थापना की और अपने मत की पुष्टि में 'भागवत् पुराण' तथा 'पांचरात्र' संहिताओं[2] का आधार ग्रहण किया।

भक्ति आन्दोलन की दृष्टि से माध्वाचार्य द्वारा स्थापित द्वैतवाद की बड़ी महत्ता है। अद्वैत, विशिष्टाद्वैत और द्वैतवाद के समान ही 'निम्बार्क' ने भेदाभेद या द्वैताद्वैत का प्रचार किया। इनके सम्प्रदाय की सबसे बड़ी विशेषता राधा की उपासना है। इसमें प्रेमलक्षणा, अनुरागात्मकता एवं पराभक्ति को चरम लक्ष्य माना गया है।[3] शंकर के अद्वैतवाद के विरोध में उत्पन्न अनेक सम्प्रदायों में 'विष्णु स्वामी' का नाम भी उल्लेखनीय है।

विष्णु स्वामी की शिष्य परम्परा में बल्लभाचार्य[4] ने शुद्धाद्वैत मत के तत्त्वों का निर्धारित किया। इसका आचरण पक्ष पुष्टिमार्ग कहलाता है। कृष्ण भक्ति धारा पर इसका बहुत गहरा प्रभाव है। इनके पुष्टिमार्ग में दीक्षित होकर सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों ने कृष्णभक्ति साहित्य की रचना की। रामानुजाचार्य ने विष्णु की दास्य भाव की भक्ति का प्रचार किया था। उनकी शिष्य परम्परा में आगे चल कर रामानन्द हुए, जिन्होंने राम को अवतार मान कर उनकी भक्ति का प्रवर्तन किया। रामानन्द की शिष्य परम्परा में सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार के भक्त थे।[5] सगुण परम्परा के भक्त महाकवि तुलसी ने राम के मर्यादा पुरुषोत्तम रूप की कल्पना कर उसमें शील, शक्ति और सौन्दर्य का समन्वय किया।[6] रामानन्द की निर्गुण परम्परा के शिष्यों में कबीर का प्रमुख स्थान है। इन्होंने ज्ञानियों की ब्रह्म जिज्ञासा और वैष्णवों की सगुण भक्ति की विशेष विशेष बातों को लेकर निर्गुण भक्ति का भवन खड़ा

---

१. प्रो० शिवकुमार–हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृतियां, पृ० ९३।
२. डा० हरवंशलाल शर्मा–सूर और उनका साहित्य, पृ० १३९।
३. डा० हिरण्मय–हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० ३२।
४. डा० हरवंशलाल शर्मा–सूर और उनका साहित्य, पृ० १४३।
५. प्रो० शिवकुमार–हिन्दी साहित्य-युग और प्रवृत्तियां, पृ० ११२।
६. वही, पृ० ९३।

किया। अतएव भारतीय धर्म साधना में आरम्भिक काल से लेकर मध्य काल तक सभी सम्प्रदायों में भक्ति प्रवल प्रेरक शक्ति के रूप में रही, और उसका क्रमिक तथा सर्वांगीण विकास होता आया।

भक्ति की अजस्त्र धारा भारतीय सम्प्रदायों और मतमतान्तरों के अतिरिक्त सूफियों की उस एकान्त प्रेम साधना से भी प्रभावित हुई, जो कि ज्ञान और उपासना का समन्वय करने के कारण प्रेरणा रूप में आई थी।[1] अतः चौदहवीं एवं पन्द्रहवीं शताब्दी में भक्ति पर इनका स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। इन विभिन्न प्रभावों को आत्मसात् करता हुआ, भक्ति का विपुल प्रवाह सोलहवीं शताब्दी तक विशाल अन्तःस्पर्शी हो गया।

कहने की आवश्यकता नहीं कि भक्ति के सभी आचार्य, भक्ति–मंदाकिनी में अवगाहन कर स्वयं ही पवित्र नहीं हुए अपितु जनसाधारण को भी कल्याण के पथ पर वढ़ाया। मध्यकाल के सभी भक्त-कवियों में भक्ति के इसी रूप का विकास हुआ। इनकी कविता के साथ भक्ति का पंचम उत्थान हुआ। भक्ति का चतुर्थ उत्थान निवृत्ति परक था, परन्तु पंचम उत्थान में पुनः प्रवृत्ति परायणता को प्राधान्य मिला।[2]

भक्ति का स्वरूप

भक्ति अपने उत्कृष्ट रूप में परम प्रेमरूपा[3] है। व्रजगोपियों[4] की प्रेमपरा भक्ति उसका उदाहरण है। भक्तों ने प्रेम (भक्ति) और हरि को एक[5] ही रूप माना है। भगवान साक्षात् शान्ति और परम आनन्द स्वरूप हैं। अतः भगवत्प्रेम भी शान्ति और परमानन्द स्वरूप[6] ही है। आनन्दमय भगवान स्वयं अपनी आनन्द शक्ति को निमित्त बनाकर प्रेम और प्रेमी रूप में प्रगट होते हैं। अतः भक्ति का प्रथम रूप प्रेम है।

भक्ति का दूसरा रूप कैंङ्कर्य है। यह हृदय को परब्रह्म के आलोक से आलोकित करने का साधन है। इसके कारण भक्त कलुषित भावनाओं से रहित

---

१. डा० हरवंशलाल शर्मा-सूर और उनका साहित्य, पृ० १०७।
२. डा० मुन्शीराम शर्मा–भारतीय साधना और सूर साहित्य, पृ० ३५।
३. "सा त्वस्मिम परम-प्रेम-रूपा" —नारद भक्ति सूत्र २।
४, यथा व्रजगोपिकानाम–वही २१।
५. "प्रेम हरी का रूप है त्यों हरि प्रेमस्वरूप" —रहीम
६. "शान्तिरूपात्परमानन्दरूपाच्च" —नारद भक्तिसूत्र

हो त्याग और सेवा की भावना को अपनाता है। शास्त्रों का अध्ययन, मनन, प्रार्थना, जप, स्त्रोत पाठ, नाम संकीर्तन आदि को कैंङ्कर्य भक्ति कहा गया है।

भक्ति का एक अन्य रूप 'प्रपत्ति' है। इसका प्रधान अंग भगवान् से मिलने की व्यग्रता है। इसके दो भेद—शरणागति और आत्मसमर्पण है। इस प्रकार भक्ति भगवान के प्रति अनन्यगामी एकान्त प्रेमरूपा है। यह भगवान को प्राप्त करने का सबसे सरल मार्ग है।

भक्ति के भेद

भक्ति को आचार्यों ने दो भागों में विभाजित किया है—गौणी तथा परा[1]। गौणी के भी दो भेद हैं—वैधी और रामानुगा।[2] वैधी भक्ति सेवा को प्राधान्य देती है और रामानुगा में राग या प्रेम तत्त्व प्रधान होता है। रामानुगा भक्ति के तीन स्तर बतलाए गए हैं—स्नेह, आसक्ति और व्यसन। ईश्वर स्नेह भक्त को लौकिक राग से मुक्त करता है। आसक्ति से संसार के प्रति अरुचि और भगवान के प्रति आकर्षण बढ़ता है। व्यसन से भक्त को पूर्ण प्रेम की प्राप्ति होती है। भक्ति का यह विभाजन साधन और साध्य के आधार पर किया गया है। 'वैधी' और 'रामानुगा' दोनों साधन पक्ष के अन्तर्गत हैं। जब भक्त सब कामनाओं से रहित होकर पूर्ण शान्ति की अवस्था को पहुँचता है—तब वह ईश्वर के परम प्रेम में निमग्न होता है। भक्ति की इस अवस्था को 'पराभक्ति' कहते हैं। यही पूर्ण अनुराग की अवस्था है, यही अत्यानुरक्ति है। इसे अनुभवापिनिवेश भी कहा गया है। यह भक्ति का साध्य पक्ष है। वैधी भक्ति का पर्यवसान रागात्मिका भक्ति में होता है। रागात्मिका भक्ति आत्मनिवेदन में पूर्णता को प्राप्त होती है। यही आत्म निवेदन आत्मसमर्पण में परिवर्तित होता है। इस प्रकार भगवद्भक्ति के साध्य और साधन दोनों ही पक्षों का विवेचन हुआ है। अतएव भक्ति साधन रूपा भी है और साध्य रूपा भी।

भक्ति के साधन

भक्ति के दो मूल साधन—अंतरंग और बहिरंग हैं। ज्ञान अंतरग और ज्ञानेतर विधान बहिरंग साधन माना गया है। श्रवण, मनन, आदि तथा तदुपांग गुरु-अनुगमन, वेद-निष्ठा, शम दम आदि ज्ञानेतर अथवा बहिरंग साधन के अनुचरण से ज्ञानोदय होता

---

१. डा० हरवंशलाल शर्मा–सूर और उनका साहित्य, पृ० ३४०।
२. डा० हिरण्मय–हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० ३।
३, वही पृ० ३।

हैं, जो अविरल प्रेमा भक्ति का निष्पादक है। नारदीय सूत्र में अखण्ड[1] भजन की वृत्ति को भक्ति का उच्च साधक माना है। इसके अतिरिक्त भगवान् के नाम, गुण, लीला का कथन तथा अनुमोदन और सत्संग, साधुकृपा, भगवत्कृपा[2] (विशेषत:) का भक्ति से साधनों में महत्वपूर्ण स्थान है। इस प्रकार भक्ति के अनेक साधनों और प्रकारों को नवधा भक्ति में समन्वित किया जा सकता है। साधन रूप नवधा भक्ति में श्रवण, कीर्तन, स्मरण, चरणसेवन, पूजन, वन्दन, दास्य अथवा सत्य भाव की निष्ठा है[3]। यद्यपि भक्ति की निष्पति भगवद्विष-यिणी बुद्धि से होती है तथापि श्रवण, मनन, मूर्तिपूजन आदि अंगों का अनुष्ठान भी उपेक्षणीय नहीं।[4] साधन भक्ति स्वयं साध्य रूप नहीं होती, भक्त इसका सतत् अभ्यास कर उत्तरोत्तर रागानुगा और पराभक्ति की ओर उन्मुख होता है। नवधा भक्ति के दास्य, सत्य और आत्मनिवेदन आदि भाव-सम्बन्धी-साधन हैं, जो अंतरंग साधन भी कहे जा सकते हैं, साधनावस्था में भक्त का विरक्ति-भाव दृढ़ होता है, वह मोह रहित होता है तथा समस्त सिद्धियों का स्वामी होते हुए भी उनसे उदासीन रहता है। अत: ज्ञान और वैराग्य भक्ति के अंतरंग साधन हैं। भक्ति के अभाव में ये साधन निरर्थक हैं। भक्ति की चरम परिणति साधन और साध्य की एकरूपता है।

भक्ति (उपासना) का लक्ष्य

भक्ति का लक्ष्य उपासक और उपास्य का गुणैक्य या सामीप्य है। उपासना विधान में उपासक और उपास्य की पृथक् पृथक् सत्ता होती है किन्तु ब्रह्म स्वरूप का अनुभव होने पर मन अलग नहीं रहता। उपास्य और उपासक दोनों स्वरूप हो जाते हैं। अत: उपासना (भक्ति) का लक्ष्य निराकार का साकार रूप में प्रस्तुत करना है। उसमें निराकार, इन्द्रिय, वाणी और मन से परे परमात्मा को व्यक्तित्व-विशिष्ट, रूप-गुण-कर्म से युक्त साकार स्वरूप में चित्रित किया जाता है। भक्ति मार्ग द्वारा प्रस्तुत भगवान् कलात्मक भाव की पूर्ण अभिव्यक्ति है। इस स्वरूप को पाकर उपासक अमर और तृप्त हो जाता

---

१. 'अव्यावृतभजनात्'—नारदसूत्र ३६।
२. "मुख्यावस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा" —वही, ३८।
३. श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्
   अर्चनं वन्दनं दास्यं साकंमात्मनिवेदनम्।—श्रीमद्भागवतगीता ७।५।२३।
४. शाण्डिल्य सूत्र—२७, २८।

है।[१] वह मायावित ब्रह्म के रहस्यों का अनुसन्धान करता है, वह प्रतिप्राणी, मूर्ति तथा हृदयस्थित भगवान के भाव के कारण सबको भगवद्दृष्टि से देखता है। ब्रह्मात्मैक्य बुद्धि ही उसका स्वभाव बन जाती है, वह शोक, द्वेष और इच्छा रहित हो जाता है[२] और अपने आलम्बन (उपाय) के धर्म में लीन होता है। वही आत्माराम है।[३] अतः भक्ति शास्त्र के अध्ययन-मनन से, भक्त को भगवान् की अनन्य भक्ति प्राप्त होती है।

भक्ति की उत्कृष्टता

भक्ति की उत्कृष्टता सर्वत्र स्वीकार की गयी है। क्योंकि यह न केवल 'परमप्रेमरूपा' और 'अमृतरूपा' है प्रत्युत स्वयं फलरूपा भी है। इसमें भक्ति के सिवा कोई दूसरा परमार्थ साध्य नहीं है। इसी कारण यह और कर्म से श्रेष्ठ है। ज्ञान साधन है, जिसका साध्य मुक्ति अर्थात् आवागमन् से मोक्ष है। कर्म भी साधन है, जिसका साध्य कर्म संन्यास है। भक्ति में न तो ज्ञानियों की अद्वैत कामना है और न कर्म योगियों का कर्म संन्यास। वह भगवान् की एकमात्र प्रेमासक्ति है, जिसमें भक्त भगवान् को सर्वस्व अर्पित कर निर्द्वन्द्व हो, केवल उनके ध्यानामृत में लीन रहना चाहता है।[४] अतः भक्ति स्वतः पूर्ण है, उसे किसी इतर साधन और सिद्धि की वांछा नहीं। इसी से वह सर्वश्रेष्ठ है।

बाह्योपासना

पहले ही कहा जा चुका है कि उपासना के दो रूप मिलते हैं—एक तो बाह्याचारमयी दूसरी मानसी। बाह्याचारमयी उपासना मानसिक सयम की भूमिका है। जब उपासक अभ्यस्त हो जाता है तो बाह्योपचार अपेक्षित नहीं रहता। मन अपने आप ही समग्र सामग्री जुटा लेता है। शैवोपासना में भी बाह्याचार का अपना मूल्य है। अनेक सम्प्रदायों में पूजाविधियों में अनेक उपकरण जुटाकर शिव पूजा की जाती है जिनका उल्लेख पुराणों और तन्त्रों में विस्तार से मिलता है।

शिव-पूजा के उपकरण

शिवोपासना में बेलपत्र, धतूरा, जल, केशर, चन्दन, धूप, दीप, मिठाई तथा कपूर के अतिरिक्त वे सामग्रियाँ भी काम में आती हैं, जो शिवेतर अन्य मन्दिरों एवं समाधियों पर, उपासना के काम में ली जाती हैं। श्वेत एवं रक्त कमल,

---

१. "यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतोभवति, तृप्तो भवति।"
—नारद भक्ति सूत्र ४।

२. "यत्प्राप्य न किंचिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमेत।" वही, ५।

३. "आत्मारामो भवति" —नारद भक्ति सूत्र ६।

४. नारद भक्ति सूत्र ८२।

शंख, पुष्प, द्रोण पुष्प, कुश-पुष्प, जपा करवीर पुष्प, चमेली, शमी, वेला एवं जूही के पुष्प, तुलसीदल, शतपत्र, विल्वपत्र, दूवा, लाल और सफेद आक, अपामार्ग, गेहूँ, जौ, चावल, उड़द, श्रीफल भी शिवपूजा के उपकरण हैं। सुपारी, लवंग, ताम्बूल आदि का भी शिवपूजन में महत्त्व है।[१] केवल चम्पा और केतकी के पुष्प शिव को अर्पित नहीं किए जाते।[२] शिवपुराण में गाय का घी, दूध, दही, शहद और शक्कर को पंचामृत रूप में, तथा अलग अलग शिव पूजा के लिए आवश्यक उपकरण वतलाया गया है। इन समस्त वस्तुओं के अभाव में केवल विल्व पत्र से ही शिव प्रसन्न हो जाते हैं।[३]

कुछ शैव सम्प्रदायों में शिव की भैरव मूर्ति के सम्मुख वलि देने की प्रथा भी है। नेपाल में भैंसा, वकरा और कभी कभी गैंड़ा, बलि के काम में लाया जाता है। 'देवीपटट्म' में सूअर के बच्चे की बलि दी जाती है। 'घिनोघर' में दशहरे की नवरात्रि को दो भैंसों की बलि दी जाती है। जो लोग मांसभक्षी नहीं है, वे अपने हाथ की छोटी अंगुलि का अंगुठे की नोंक से खून निकाल कर भैरव पर चढ़ाते हैं। भैरव के पुजारी कालरात्रि पर वलि के अभाव में अपना रक्त चढ़ाते हैं। तुलसीपुर के वार्षिक मेले के उत्सव पर लोहे या बांस के बने त्रिशूल, जो लाल रंगे होते हैं, भैरव पर चढ़ाये जाते है।[४]

उपकरणों का फलाकांक्षा से सम्बन्ध

शिव की पूजा से विविध फल प्राप्त करने के लिए विविध उपकरणों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। सकाम शिव पूजन में कहा गया है कि आयु की इच्छा वाला व्यक्ति एक लाख दूर्वाओं से, पुत्र की इच्छावाला एक लाख धतूरे के पुष्पों से, मोक्ष की इच्छा वाला लाल और सफेद आक, अपामार्ग तथा श्वेत कमल के एक लाख पुष्पों से, शत्रु और रोग से मुक्ति की इच्छा वाला जपाकरवीर के पुष्प से शिवपूजन करें,।[५] मोक्ष एवं समस्त सुखों की प्राप्ति के लिए पूजा के उपरान्त शिव को जल, दुग्ध, सुवासित तेल, घृत, मधु, ईख का रस और गंगाजल की धारा समर्पित करने का भी विधान

---

१. गंगा विष्णु श्रीकृष्णदास—सकाम शिव पूजन, पृ० २६।
२. यत्कुसुमन्ध विन्दते तच्चैव शिव बल्लभम्।
   चंपक केतक हित्वा अन्यत्सर्वं शिवे पर्येत्। — वही, पृ० १२
३. कल्याण—संक्षिप्त शिव पुराण अंक, पृ० ६७।
४. ब्रिग्स—गोरखनाथ एण्ड दी कनफटा योगीस, पृ० १४०।
५. गगाविष्णु श्रीकृष्णदास—सकाम शिव पूजन, पृ० ६,१०।

है।[१] दैनिक पूजन के अतिरिक्त इन उपकरणों का शिवोपासना के विशेष पर्व एवं दिनों से भी सम्बन्ध है।

उपासना के विशेष दिन

शैवोपासकों के लिए सबसे महत्वपूर्ण पर्व माघ मास की शिव रात्रि है। आश्विन मास के शुक्लपक्ष की चतुर्दशी, जिसे महारात्रि भी कहते हैं, होली उत्सव की प्रथम रात्रि, कृष्णाष्टमी, अनंगत्रयोदशी शिवोपासना के विशेष महत्व के दिन हैं। इनके अतिरिक्त शिवपुराण में सती कथा के प्रसंग में आए हुए, सती द्वारा पालन किए गए नन्दाव्रत के वर्षपर्यन्त की तिथियाँ भी महत्वपूर्ण हैं।[२] यहीं इन तिथियों तथा इन पर प्रयुक्त पूजा के विशिष्ट उपकरणों का उल्लेख भी प्राप्त होता है।

शिव के विकराल रूप कालभैरव की पूजा कृष्णपक्ष की अष्टमी को की जाती है। कार्तिक मास के कृष्ण पक्ष की अष्टमी का भैरव का जन्मदिन माना जाने से, विशेष महत्वपूर्ण है। दशहरे की नवरात्रि पर गोरखपुर में शैवों का विशेष उत्सव होता है। नागपंचमी भी कालभैरव की पूजा का विशेष दिन है। इस दिन शैवोपासक अपने घरों की दीवारों पर साँप या चिड़ियों के चित्र बनाते हैं, घास से सर्प की प्रतिमा बनाकर शहद तथा मिठाई अर्पित करते हैं, सर्प की प्रतिमा को पानी में डालते हैं, प्रीतिभोज करते हैं और उपहार भेंट करते हैं। इस दिन वे न तो हल चलाते हैं और न गर्त खोदते हैं। उपर्युक्त विशेष उपकरणों एवं तिथियों का सम्बन्ध आज भी विशेष मनोकामनाओं से जोड़ा जाता है।

शैवों के प्रमुख तीर्थस्थान

उपासना में इष्टदेव से सम्बन्धित तीर्थस्थानों का भी महत्वपूर्ण स्थान है। साधक तीर्थ स्थानों में अपने इष्टदेव के दर्शन कर, आनन्द लाभ करता है। शिव से सम्बन्धित तीर्थ स्थान समस्त भारत में प्राप्त होते हैं। उनमें से मुख्य—काशी, केदार, बदरिकाश्रम्, अमरेश, कुरुक्षेत्र, सोमतीर्थ, रामेश्वरम्, श्रीशैल, कांचीपुरी, द्रोणपुर, उज्जैन, श्रीरंगम्, वैद्यनाथधाम, अमरनाथ, पशुपति-

---

१. शत्रुणां तापनार्थं वे तेलधारा शिवायच।
विसिते नेव तेलेन भोग वृद्धिः प्रजायते।
धारा पेक्षुस्त स्थापि नाना सुखकारी स्मृता
गंगाजल समुद्धता धारा मोक्ष फलप्रदा। —वही, पृ० २१।

२. शिवपुराण—रुद्र संहिता—अध्याय १५।

नाथ (नेपाल) श्री एकलिंगजी (उदयपुर) आदि हैं। शिव भक्तों की मान्यता है कि इन तीर्थों में समय समय पर देवताओं व उपासकों द्वारा शिवाराधना की गई और भगवान् आशुतोष ने उन्हें दर्शन दिये।

शिव के विशेप तीर्थ स्थानों के समान ही गोरखनाथी शैव सम्प्रदायों में उनके गुरु से सम्बद्ध तीर्थ स्थान एवं मठों का अनन्य महत्व है। ये समस्त भारत में पाये जाते हैं। इनका सबसे महत्वपूर्ण केन्द्र उत्तरप्रदेश में गोरखपुर है, जिसका नामकरण गोरखनाथ के नाम पर हुआ। यहाँ पर इनका प्रधान मठ है जिसमें गोरखनाथ धूनी व पशुपतिनाथ का मन्दिर है जिसमें चतुर्भुज लिंग है। प्रधान मन्दिर के दक्षिण पूर्व कोने में एक चबूतरा है जिसे सिंहासन कहते हैं जहाँ पर महन्त बढाये जाते हैं।[1]

देवीपट्टम, वाराणसी, तुलसीपुर आदि में भी शैवों के महत्वपूर्ण मन्दिर और मठ हैं। देवीपट्टम का मन्दिर और मठ, बलरामपुर के तुलसीपुर कस्बे के पास एक छोटी पहाड़ी पर स्थित है। इसकी बहुत महत्ता मानी गयी है। वाराणसी में गोरखनाथियों से सम्बन्धित तीन महत्वपूर्ण स्थान हैं—भैरव की प्रसिद्धलाट, काल भैरव का मन्दिर और गोरखनाथ का टीला।

पंजाब में गोरख टीला के अतिरिक्त, जो कि झेलम से पच्चीस मील दूर है, बहुत से स्थान गोरखनाथ से सम्बन्धित हैं। काबुल, जलालाबाद और कोहाट में भी इनके मन्दिर हैं। स्यालकोट, गोरखनाथ के प्रसिद्ध शिष्य पूरन-भक्त का जन्मस्थान होने के कारण प्रसिद्ध है।[2]

कच्छ में भुज, धिनोधर आदि स्थान प्रसिद्ध माने जाते हैं। इनमें धिनोधर सबसे महत्वशाली है। कलकत्ते के पास गोरखवंशी या गोरखवंसरी भी इनका बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। पुरी और हरिद्वार में इनकी प्रसिद्ध गद्दियाँ हैं।

गोरखमालिया (राजस्थान) गोरखनाथियों का प्रसिद्ध स्थान हैं। गुरु गौरखनाथ ने जसनाथजी के विशेष अनुग्रह पर यहां तक पधारने की कृपा की थी। जसनाथी साहित्य में इस स्थान को धराधाम कहकर प्रशंसा की गई है।[3]

---

१. ब्रिग्स–गोरखनाथ एण्ड दी कनफटा योगीस–पृ० ८८।
२. ब्रिग्स, गोरखनाथ एण्ड दी कनफटा योगीस पृ० १००-१०१।
३. सूर्यशंकर पारीक–सिद्ध साहित्य, पृ० ६०।

भक्ति का तीर्थ स्थानों से अधिक महत्व है—साधन भक्ति के दो भेद बाह्य और आभ्यन्तर हैं और शैव-ग्रन्थों में इन दोनों का वर्णन मिलता है। बाह्य विधि के दो प्रमुख रूप सामने आते हैं—नमक-चमक एवं पार्थिव पूजा विधि।

पूजा-विधि

नमक-चमक पूजा विधि

रुद्राष्टाध्यायी के अभिषेक प्रसंग में श्री साम्बसदाशिव की पूजा का विधान, धर्मसूत्रों के आधार पर किया गया है। शिव पूजन में सर्व प्रथम गौरी गणेश के पूजन के साथ साम्ब सदाशिव की पूजा की जाती है। पूजा विधान में सर्व प्रथम चांदी के पर्वत के समान,[1] चन्द्रमा को मस्तक पर धारण करने वाले, उज्जवल अंग वाले, हाथों में आयुधों को धारण करने वाले, प्रसन्न, पद्मासन मारे हुए, देवताओं में स्तुत्य, व्याघ्रचर्म धारण करने वाले, पंचमुख, त्रिनेत्र शिव का वैदिक मंत्रों से ध्यान[2] का विधान है। तत्पश्चात् मंत्रोच्चारण के साथ उन्हें आसन समर्पण किया गया है।[3] इसके बाद देव के पादप्रक्षालन के लिए मंत्र बोला जाता है, जिसमें उसे सर्वश्रेष्ठ और सब पदार्थों का निर्माता कहा गया है।[4] फिर हाथ धोने के लिए अर्घ्य का विधान है।[5] इसके बाद मंत्र से आचमन का विधान है। इस मंत्र में कहा गया है कि आदि पुरुष से विराट की

---

१. ध्यायेन्नित्यं महेशं रजतगिरिनिभं चारुचन्द्रावतंसम्
रत्नाकल्पोज्ज्वलांग परशुमृगवराभीतिहस्तं प्रसन्नम्
पद्मासीनं समन्तात्स्तुतमरगणैर्व्याघ्रकृत्ति वसानम्।
—शुक्ल यजुर्वेद रुद्राष्टाध्यायी, १।१।

२. नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शंकराय च
मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च
नमस्ते रुद्रमन्यव उतोत इषवे नमः बाहुभ्यामुत ते नमः।
—शुक्ल यजुर्वेद रुद्राष्टाध्यायी १।१, ५।४१।

ॐ सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्
स भूमि सर्व्वत स्पृत्वा त्यतिष्ठद्दशागुलम्॥ —वही २।१।

३. पुरुष एवेदं सर्वयद्भूतं यच्च भाव्यम्
उतामृतत्त्वस्सेशानो यदन्नेनातिरोहति। —वही २।२।

४. एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पुरुषः
पादोस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि। —वही २।३।

५. त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोस्येहाभवत्पुनः
ततो विष्वङ्व्यक्रामत् साशनानशने अभि। —वही २।४।

उत्पत्ति हुई,[1] विराट् पुरुष ने पृथ्वी की रचना कर सप्त धातु वाले देवों की रचना की। आचमन के पश्चात् इष्टदेव के साधारण स्नान का विधान है।[2] तदनन्तर पंचामृत स्नान का विधान है। उसमें दूध, दही, घृत, मधु और शर्करा का योग होता है। नदियों के समान प्रवाह रूप से इन्द्रिय नालिकाओं से वहने वाली पांच प्रकार की वृत्तियां, एक समान मन–रूपी–स्रोत से ही वहती है और ये वाणी रूप में लीन होती हैं। पांचों ज्ञानेन्द्रियों का ज्ञान वाणी द्वारा प्रकट किया जाता है। वह वाणी मुख से नदी के समान धारा रूप से निकलती है।[3] फिर पृथक्–पृथक् मंत्रों से विभिन्न पदार्थों को अपहृत करने का विधान है। सर्वप्रथम पुनः दूध से स्नान कराया जाता है, फिर शुद्ध जल से तदस्तर दधि स्नान का समय आता है इसके वाद शुद्ध जल से स्नान कराकर घृत स्नान कराया जाता है। पुनः शुद्ध जल से स्नान कराकर मधु से स्नान कराने का विधान है।[4] यह विधि भी मंत्र से सम्पन्न होती है, जिसमें शिव से प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि पृथ्वी मधुर रस सम्पन्न हो, रात्रि दिवस भी मधुरिमामय हों, सब ओर से हमारा मंगल हो, सूर्य माधुर्य से भरदें, गो[5] मधुर दूध प्रदान करें। तत्पश्चात् शर्करा स्नान कराया जाता है उसके वाद फिर शुद्ध

---

१. ततो विराडजायत विराजोऽधिपूरुषः
   सजातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथोपुरः ।।
२. स्मादयज्ञात्सर्वहुतः संभृतंपृषदाज्यम् ।
   पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्यांश्च ये ।
   —शुक्लयजुर्वेद रुद्राष्टाध्यायी २।६ ।
३. पंचनद्यः सरस्वतीमपियान्ति सस्रोतसः
   सरस्वती तु पंचवासो देशे भवत्सरिन् । —वही २।७ ।
४. पयः पृथिव्याम् मय इत्यादि दधि ।
   दधिक्राव्णोऊकारिषत् । —वही २।७ ।
५. मधुवाता ऋतायते मधुक्षरन्ति सिन्धवः
   माध्वीनंः सन्त्वोषवीः । मधुनक्तमुतोषसो
   मधुमत्वार्थिवरंजः मधु चौरस्तु नः पिता ।
   मधुमान्नो वनस्पतिः । मधुमानन्तु सूर्यः ।
   माधोर्वीगवो भवन्तु नः । —वही २।७।

जल में स्नान का विधान है। शुद्ध जल मंत्र से अर्पित किया जाता है।[१] तदनन्तर गन्धमिश्रित जल से स्नान समर्पण किया जाता है, फिर उद्वर्तन का स्नान कराया जाता है। उसके बाद शुद्ध जल से स्नान कराकर आचमन कराया जाता है और वस्त्र समर्पित किया जाता है।[२] वस्त्र के बाद पुनः आचमन दिया जाता है और फिर यज्ञोपवीत पहनाया जाता है।[३] तत्पश्पात् सुगन्धित पदार्थ चन्दन आदि लेप किया जाता है।[४] अक्षत् और पुष्पोपहार दिया जाता है।[५] उसके बाद तीन पत्तों वाला विल्व पत्र शिव को चढ़ाया जाता है। सौभाग्य द्रव्य चढ़ाकर कर धूप दिखलाया जाता है।[६] धूप के बाद प्रज्वलित दीपक दिखलाया जातां है। मंत्र द्वारा उस पुरुष की वन्दना की जाती है, जिसके मन से चन्द्रमा, चक्षु से सूर्य, श्रोत् से वायु और प्राण तथा मुख से अग्नि प्रगट हुई है।[७] इसके बाद हस्तप्रक्षालन कर, घृतपूरित नैवेद्य, मंत्र के साथ, समर्पण किया जाता है।[८] "प्राणाय स्वाहा, आपनाय स्वाहा, ॐ उदानाय स्वाहा, ॐ समनाय स्वाहा," आदि मंत्रों के साथ नैवेद्य अर्पण कर बीच–बीच में उत्तरापोषण एवं हस्त

---

१. शुद्ध वालः सर्व शुद्धवालो मणिवालस्त आश्विना
श्येतः श्वेताक्षोरुणस्ते रुद्राय पशुपतये कर्णायामा
अवलिप्ता रौद्राः नमोरूपाः पार्जन्याः।
—शुक्ल यजुर्वेदीय रुद्राष्टाधायी२।६।

२. तस्मायज्ञात् सर्वहुतः ऋषः सामानिजज्ञिरे
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुः तस्मादजायत। —वही २।७।

३. तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः
गावोहजज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाताः अजावयः॥ —वही २।८।

४. तं यज्ञं बर्हिषि प्रोक्षन्पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्याः ऋषयश्चये। —वही, २।९।

५. यत्पुरुषं व्वदधुः कतिधा व्यकल्पयन्। मुखं
किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू पादा उच्येते। —वही २।१०

६ ब्राह्मणोस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पदभ्यां शूद्रो जायत। —वही २।११।

७. चन्द्रमा मनसो जातः चक्षोः सूर्यो अजायत
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत
—शुक्ल यजुर्वेदीय रुद्राष्टाध्यायी २।१२।

८. नावया आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णोद्यौः समवर्तत
पद्भ्यां भूमिः दिशः श्रोत्रात् तथा लोकानकल्पयन् —वही २।१३।

प्रक्षालन के लिए जल देकर तथा आचमन कराकर, हाथ की शुद्धि के लिए जल देकर फल सहित ताम्बूल अर्पण किए जाते हैं। फल समर्पण के मंत्र में कहा है कि सभी औषधियाँ हमें रोग मुक्त करें।[1] ऋतुफल के बाद हिरण्य दक्षिणा का समय आता है। इस प्रकार पूजा के उपरान्त आरती और प्रदक्षिणा की जाती है।[2] प्रदक्षिणा के बाद मंत्र पुष्पांजलि समर्पित कर मंत्र से नमस्कार का विधान है।[3] उपासक वृत–कर्म का फलांश सदाशिव को अर्पण कर शिव नीराजन कर प्रेमविभोर होकर गान करता है। अन्त में महादेव के लिंग के ऊपर छिद्र वाला कलश लटकाकर, उसमें काम्य कामनानुसार जल, दुग्ध, शर्करा आदि का प्रक्षेप कर रुद्र, लघु रुद्र, महारुद्र, अति रुद्र के लिए अभिषेक कर्म सम्पादित किया जाता है। यह नमक चमक पूजा विधान शैवोपासकों में अति प्रचलित है।

पार्थिव पूजा

शैवोपासना में दूसरी पूजा विधि पार्थिव पूजन की है जो अचल प्रतिष्ठा के अतिरिक्त है। इसमें पूजा से पूर्व नित्य कर्म को पूर्ण कर भक्त, शिव स्मरण पूर्वक भस्म धारण करता है, फिर 'ॐ नमः शिवाय' मंत्र का उच्चारण करते हुए समस्त पूजन सामग्री का प्रोक्षण करता है। इसके बाद "भूरसि[4] मंत्र से क्षेत्र सिद्धि करता है। नमः शम्भवाय" मंत्र से क्षेत्र शुद्धि और पंचामृत का प्रोक्षण किया जाता है।[5] भक्त तत्पश्चात् 'नमः' 'पूर्वक' नीलग्रीवाय[6] मंत्र से शुद्ध की हुई मिट्टी को जल

---

१. यत्पुरुषेण हविषा देवायज्ञमतन्वत
वसन्तोस्यासीदाज्यं ग्रीष्मइध्मः शरद्धविः
याः फलिनी र्या अफलाः अपुष्पा याश्चपुष्पिणीः
बृहस्पति प्रसूता स्तानो मुञ्चन्तु अंहसः ॥ —वही २।१४।

२. सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्तसमिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वानाः अबध्नन् पुरुषं पशुम्। —वही २।१५७।

३. यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि
प्रथमान्यासन् तेहनाकं महिमानः सचन्त यत्
पूर्वेसाध्याः सन्तिदेवाः। विश्वतश्चक्षुरुत
विश्वतो मुखो विश्वतोवाहुरुत विश्वतस्पात्।
सम्बाहुभ्यांधमति सम्पतत्रैः वावा भूमि जनपदेव एकः।
—शुक्ल यजुर्वेदीय रुद्राष्टाध्यायी २।१६।

४. यजुर्वेद १३।१८।

५. वही, १६।४१।

६. वही, १६।०८।

से सान कर, पिण्ड बना शिव लिंग की प्रतिष्ठा करता है, वह 'एतते रुद्रावसं[१] मंत्र' से आसन देता है तथा 'यामिषु[२] मंत्र से शिव के अंग में न्यास करता है तदनन्तर असो यस्ताम्रो[३] मंत्र से शिव लिंग में इष्टदेवता शिव का न्यास किया जाता है। इस पद्धति में नमोऽस्तु नीलग्रीवाय[४] मंत्र से पाय समर्पण एवं 'रुद्रगायत्री' से अर्घ्य दिया जाता है, 'त्रयम्वकं' मंत्र[५] से आचमन, एवं 'नमोस्तु नीलग्रीवाय' मंत्र से शिव लिंग को पंचामृत से स्नान कराया जाता है, तदनन्तर 'मा नस्तो के[६] से कटिबन्ध", याते हेतिः[७] मंत्र से वस्त्र एवं यज्ञोपवीत धारण कराया जाता है। भक्त नमः श्रभ्यः[८] मंत्र से मूर्ति पर सुगन्धित चन्दन, रोली आदि का अनुलेपन करता है, इसी प्रकार 'नमस्तज्ञभ्ये मंत्र[९] से अक्षत्, नमः पार्याय[१०]मंत्र से पुष्प, तथा नमः पर्णाय[११] मंत्र से विल्व पत्र समर्पित करता है। वह 'नमः आशवे' मंत्र से[१२] दीपनिवेदन करता है। इस विधि में नमो ज्येष्ठाय[१३] मंत्र से नैवेद्य एवं इमा रुद्राय[१४] से फल समर्पण का विधान है और 'नमः आशवे' मंत्र से इष्ट देव शिव का नीराजन किया जाता है, तत्पश्चात् प्रतिमा की परिक्रमा कर, साष्टांग प्रणाम किया जाता हैं। इसके अनन्तर शतरुद्रीय मंत्र का जाप और अन्त में 'देवा गातु'[१५] मंत्र से शिवलिंग विसर्जन का विधान है।

---

१. यजुर्वेद ३।६१।
२. वही, १६।३।
३. वही, १६।६।
४. वही, १६।८।
५. वही, ३।६०।
६. वही, १६।१६।
७. वही, १६।
८. वही, १६।२८।
९. वही, १६।२७।
१०. वही, १६।४२।
११. वही, १६।४६।
१२. वही, १६।३१।
१३. वही, १६।३२।
१४. वही, १६।४८।
१५. वही, [illegible]

उपर्युक्त विधि–पूर्वक की गयी पार्थिव पूजा भोग और मोक्ष देने वाली तथा शिव के प्रति भक्ति भाव बढ़ाने वाली बतलायी गयी है।

बाह्य पूजा आभ्यांतरिक या मानसी पूजा के लिए सोपान का काम करती है। मानसी पूजा में मंत्रजाप का बहुत बड़ा महत्व है। मंत्रों में पंचाक्षर मंत्र प्रमुख है। उससे मन की शुद्धि होती है।

आभ्यंतरिक पूजा

मंत्रों में पंचाक्षर मंत्र प्रमुख है। यह 'शिवाय नमः' मंत्र प्रणव के साथ संयुक्त होने पर षड़क्षर (ऊँ शिवाय नमः) हो जाता है। इसे मंत्रराज कहा गया है। यह वेद का सारतत्व है, मोक्ष देने वाला है। शिव की आज्ञा से सिद्ध है, सन्देह शून्य है तथा शिव स्वरूप वाक्य है। यह नाना प्रकार की सिद्धियों से युक्त, मन को प्रसन्न और निर्मल करने वाला, सुनिश्चित अर्थ वाला तथा परमेश्वर का गम्भीर–वचन माना गया है। इस षड्क्षर मंत्र में पंचब्रह्म रूप धार कर साक्षात् भगवान शिव स्वभावतः वाच्य वाचक भाव से विराजमान हैं। इस मंत्र का जप करने से भक्त परमधाम का अधिकारी होता है। प्रलय काल में सदाशिव और उनका पंचाक्षर मंत्र ही शेष रहता है। इस मंत्र से मन, वाणी द्वारा शक्ति विशिष्ट शिव के पूजन का विधान है।

इस मंत्र जप की विधि का वर्णन करते हुए कहा गया है कि साधक को पुरश्चरच के लिए स्नान कर, शुद्ध आसन पर बैठकर उत्तर या पूर्वाभिमुख हो, एकाग्र चित्त से, दहन, प्लावन आदि के द्वारा पांचों तत्वों का शोधन कर मंत्र का न्यास करना चहिए। 'खकली करण' की क्रिया द्वारा, प्राण और अपान का नियमन करते हुए, शिव स्वरूप का ध्यान कर, निवास्थान-स्वरूप-ऋषि, इन्द्र देवता, वीज, शक्ति तथा मंत्र के वाच्यार्थ रूप परमेश्वर का स्मरण कर, मंत्र का जप करना चाहिए। मंत्र का मानस जप उत्तम, उपांशु जप मध्यम तथा वाचिक जप उससे निम्न कोटि का माना गया है। जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है शैवों का एक अंग तांत्रिक भी रहा है। इनकी आभ्यांतरिक उपासना पद्धति भी शैवोपासना में विवेचनीय है। मध्यकालीन हिन्दी कविता में इसके प्रभाव को स्पष्ट देखा जा सकता है।

शैवतांत्रिकों की अभ्यांतरिक उपासना

तंत्रशास्त्रों में परमशिव के साथ अपने अभेद अनुभव को ही परापूजा अथवा आभ्यंतरिक उपासना कहा गया है। इनके अनुसार द्वैतभाव रहित, अपनी स्वरूप महिमा में साधक की स्थिति ही यर्थाथ पूजा है। इनमें इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए तीन क्रमिक सोपान—अपरा, मध्यम और परा

माने गए हैं । बाह्य चक्र, आवरण आदि पर अवलंवित साधना अपरा साधना है । यह आंतरिक शक्तियों को जाग्रत करती है । इसमें साधक कुण्डलिनी को जाग्रत कर शरीरस्थ छः चक्रों का भेदन करता है । मध्यम पूजा में कर्म ज्ञान का रूप धारण कर लेता है और साधक को परमेश्वर के साथ अद्वैत भाव की प्राप्ति होती है । इसी को पराअवस्था कहा गया है । तांत्रिकों के अनुसार आत्मशक्ति ही अभीष्ट इष्टदेव है ।

तांत्रिकों में आत्मा के सभी कर्म शिव की अर्चना माने गए हैं । ये कर्म शिवरूपी आत्मा की तृप्ति के लिए ही होते हैं । आचार्य शकर ने भी आत्मा के सब कर्मों को शिव की आराधना माना है । यह उपासना जीवत्व को नष्ट कर, शिवत्व की उपलब्धि का साधन है, इसी से सिद्धि और मोक्ष प्राप्ति होती है । सभी तन्त्रों में मानसिक उपासना को बाह्यउपासना से श्रेष्ठ माना गया है ।

कनफटे योगी, कापालिक, कालमुख, पाशुपत औघड़ आदि शैवयोगी, तांत्रिक पूजा के आधार पर, नर की पूर्ण अभिव्यक्ति में नारी की उपासना करते हैं । ये देवता के सामने प्रायश्चित, समर्पण या खेदपूर्ण रुदन में विश्वास नहीं करते । इनकी साधना प्रकृति और पुरुष का सम्मिलन है, जो शरीर में पुरुष सिद्धान्त को मातृभाव से मिलाती है तथा सगुण को निर्गुण बनाने का प्रयास करती है ।

निष्कर्ष

भारतीय साधना में उपासक अपने उपास्यदेव की उपासना में तल्लीन होकर परमानन्द की अनुभूति के लिए सचेष्ट रहता है । वह अपने उपास्य के अन्यत्र प्रेम में उन्हीं के अनुरूप अपनी वेष-भूषा धारण करता है; आचार विचार से उनके प्रति अपनी निष्ठा बनाता है । यह निष्ठा उसके व्यक्तित्व का आधार बन जाती है । यह क्रमशः कायिक शुद्धता और नैतिक आचरण के पुष्ट होने पर मानसिक भूमिका पर ज्ञान के विकास से आत्मोन्नति करता हुआ आत्मा और विश्वात्मा की अभेदानुभूति का आभास प्राप्त करता हैं । यह अभेदानुभूति ही अंत में अद्वैत में परिणित हो जाती है । साधक अपने उपास्य में तन्मय होकर अक्षुण्ण आनन्द करने योग्य बनता है ।

उपास्य के विभिन्न नाम उसके विभिन्न गुणों और स्वरूपों का प्रति-निधित्व करते हैं । उपास्य का नाम भक्तों का आधार है । उपासक उपास्य का नाम स्मरण कर, नाम से सम्बद्ध कथाओं का श्रवण कर, तथा उसके स्वरूप में स्वयं को ध्यानावस्थित कर आत्मनिर्भर हो, उपास्य के प्रेम में ही चरम आनन्द प्राप्त करता है । उपास्य के लिये, इष्टदेव के समान ही उसका परिवार, उससे सम्बद्ध कथा, उसकी लीलाएँ, प्रेरणा स्रोत बन जाते हैं ।

उपासक और उपास्य के सामीप्य का एकमात्र साधन उपासना है। उपासना से उपासक और उपास्य का अन्तर क्रमशः विलीन हो जाता है। इसकी चरमावस्था पर उपासक उपास्य को प्रियतम रूप में प्राप्त करता है। वह संसार से विरक्ति और उपास्य में अनुरक्ति का अनुभव करता है। उसका चरम लक्ष्य व आनन्द, एकमात्र आनन्दघन का सानिध्य और उसकी भक्ति ही रह जाती है। भक्ति शास्त्रों में भक्ति की इस अवस्था को परावस्था कहा गया है।

शैवों के आराध्य शिव हैं। उनमें शिव की उपासना के विशिष्ट उपकरण, तिथि एवं पर्व के साथ ही तीर्थ स्थान का भी महत्त्व है। शिव भक्तों में वाह्य पूजा-नमक चमक तथा पार्थिव, तो विशेष रूप से मान्य हैं ही, साथ ही साथ आभ्यांतरिक उपासना का भी कम महत्त्व नहीं है। शिव भक्ति के प्रसंग में इनके महत्त्व को भुलाया नहीं जा सकता। शिवोपासना के प्रसंग में यह कह देना समीचीन ही होगा कि हिन्दी के भक्त कवियों ने उपासना विधियों, प्रकारों, तिथियों, स्थानों आदि के महत्त्व को औपचारिक या अनोपचारिक ढंग से वर्णन करते हुए केवल शास्त्रीय-धार्मिक या साहित्यिक मान्यताओं का अनुपालन किया है। इसीलिए इनके उल्लेख की आवश्यकता है।

अध्याय ३

मध्यकाल पर्यन्त शैव साहित्य

शैव साहित्य

शैवमत के विकास के साथ–साथ उसके सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले साहित्य का भी विकास हुआ। वैदिक साहित्य–वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् और संहिता में शैव सिद्धान्तों का प्रारम्भिक रूप मिलता है। उत्तर वैदिक साहित्य के शिव पुराण, लिंग पुराण, स्कन्द–पुराण, मत्स्यपुराण, कूर्म पुराण और ब्रह्म पुराण शैव सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं। ये शैव पुराण कहलाते हैं। छठी शताब्दी के पूर्व रचे गए आगम ग्रन्थ, जिनको तंत्र भी कहा जाता है शैव सिद्धान्तों के आधार हैं। इनके नाम–कामिक, योगज, चिन्त्य, कारण, अजित, दीप्त, सूक्ष्म, सहस्र, अंशुमान, सुप्रभेद, विजय, निश्वास, स्वायम्भुव, अनल, वीर, रौरव मुकुट, विमल, चन्द्रज्ञान, बिम्ब, प्रोद्गीत, ललित, सिद्ध, संतान, सर्वोतर, परमेश्वर, किरण और वातुल हैं।[1] शैव सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले साहित्य में छठी शताब्दी से नवीं शताब्दी तक रचे गए यामल ग्रन्थों का भी महत्त्व है। इनमें मुख्य आठ हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं–रुद्र, स्कन्द, ब्रह्म, विष्णु, यम, वायु, कुबेर, और इन्द्र।[2] इन समस्त ग्रन्थों के आधार पर जिस साहित्य का निर्माण हुआ है उसे शैव साहित्य कहा जाता है।

---

१. बलदेव उपाध्याय–भारतीय दर्शन, पृ० ४५६।

२. पी० पी० बागची–इवोल्यूशन आफ दी तन्त्राज्: कल्चरल हैरिटेज आफ इण्डिया, पृ० २१६।

मध्यकाल पर्यन्त शैव साहित्य को सिद्धान्त–परक साहित्य, कथात्मक काव्य तथा चरित काव्य में विभाजित किया जा सकता है।

शैव साहित्य का रूप

सैद्धान्तिक काव्यों में 'निगम' और 'आगम' में प्रतिपादित शैव सिद्धान्तों का निरूपण है। कथात्मक काव्य शिव एवं शिव परिवार की कथाओं से सम्बन्ध है। चरित काव्य प्रमुख शैवाचार्यों की जीवन गाथा को लेकर लिखा गया है।

शैव सिद्धान्तों के क्रमिक विकास एवं उसके साहित्यिक प्रभाव को इस युग के तत्सम्बन्धी साहित्य से जाना जा सकता है।

सैद्धान्तिक काव्य

सैद्धान्तिक काव्यों में आगम ग्रन्थों की दार्शनिक मान्यताओं का विवेचन हुआ है। यह काव्य परम्परा शैवाचार्यों के साथ ही साहित्य को प्राप्त हुई। माध्वाचार्य का सर्वदर्शन संग्रह, राजशेखर सूरि का 'षड्दर्शन समुच्चय' तथा वृहद्वृति और काश्मीर–भासर्वज्ञ का 'गणकारिका' पाशुपत सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ हैं। सैद्धान्तिक काव्यों में महेश्वर कृत 'पाशुपत सूत्र,' सूत संहिता कौण्डिन्य कृत पंचार्थी भाष्य, का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। आठवीं शताब्दी के सद्योज्योति कृत नरेश्वर परीक्षा, गौरवागम–की–वृत्ति, स्वायम्भुव आगम पर उद्योत्, तत्व संग्रह, तत्व त्रय, भोगकारिका, मोक्षकारिका, परमोक्षनिरासकारिका आदि सैद्धान्तिक काव्य प्राप्त होते हैं।[1] वसुगुप्त कृत स्पन्दकारिका, कल्लट के स्पन्द-सर्वस्व और नवीं शताब्दी से सोमानन्द के शिव दृष्टि, परात्रिंशिका विवृत्ति, उत्पलाचार्य कृत प्रत्यभिज्ञाकारिका, सिद्धित्रयी, दसवीं शताब्दी के अभिनवगुप्त कृत ध्वन्यालोक–लोचन, ईश्वर–प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, तन्त्रालोक, तन्त्रसार, मालिनी विजय वार्तिक, परमार्थसार परात्रिंशिका विवृत्ति आदि सैद्धान्तिक काव्यों में त्रिक्दर्शन का विशद विवेचन हुआ है।

ग्यारहवीं शताब्दी के क्षेमराज की शिवसूत्रविमर्शिनी, स्वच्छन्द तंत्र, विज्ञान भैरव, नेत्र तंत्र पर उधोत टीका, प्रत्यभिज्ञाहृदय, स्पन्द-सन्दोह, शिवस्तोत्रावली की टीका आदि सैद्धान्तिक काव्य हैं।[2] गोरक्षनाथ के नाम पर भी सिद्धान्त परक काव्य प्राप्त होते हैं, जिनमें मुख्य-गोरक्ष शतक, गोरक्ष पद्धति, गोरक्ष संहिता, चतुरशीत्यासन, ज्ञानशतक, योग चिन्तामणि, योग मार्तण्ड, योग सिद्धासन पद्धति, सिद्ध-सिद्धान्त पद्धति, हठयोग संहिता माने गए हैं।[3] इनमें

---

१. बलदेव उपाध्याय–आर्य संस्कृति के मूलाधार, पृ० ३३१ ।

२. बलदेव उपाध्याय–भारतीय दर्शन–पृ० ५६० ।

३. हजारी प्रसाद द्विवेदी–नाथ सम्प्रदाय–पृ० १०० ।

योग दर्शन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है। हरदत्त शैवाचार्य कृत श्रुति-सूक्त-माला, चतुर्वेद-तात्पर्य-संग्रह, मयकन्द-देवुर कृत 'शिवज्ञान बोधम्,'[१] राम-कण्ठ विरचित नरेश्वर-परीक्षा-टीका, मातंगवृत्ति, नादकारिका, मोक्षकारिका वृत्ति, परमोक्षनिरासकारिका-वृत्ति, श्री कण्ठसूरि कृत 'रत्नत्रय,' भोजराज की तत्वप्रकाशिका सैद्धान्तिक काव्य भी मान्य हैं।[२]

बाहरवीं शताब्दी के अघोर–शिवाचार्य कृत तत्त्व प्रकाशिका, नादका-रिका पर टीका,शिवयोगी शिवाचार्य का सिद्धान्त शिखामार्ग, सोमराज विरचित उद्भट्काव्य, माध्वमंत्री का सूत संहिता तथा विद्यातीर्थ की रुद्र-प्रश्न-भाष्य रचना इस युग के सैद्धान्तिक काव्य हैं।[३] इन ग्रन्थों के समान ही उत्पल की स्पन्दकारिका, भास्कर तथा वरदराज की शिवसूत्रवार्तिक, राकण्ठ की स्पन्दकारिका वृत्ति, योगराज की परमार्थ सारवृत्ति, जयरथ की 'तन्त्रलोक पर टीका,' दत्तात्रेय की दत्तसंहिता भी सैद्धान्तिक काव्यों में मान्य है। सोमनाथ के ग्रन्थ सोमनाथ भाष्य, रुद्रभाष्य, अष्टक पंचक, वसवीदाहरण चतुर्वेद तात्पर्य रचनाएं भी सैद्धान्तिक काव्य के अन्तर्गत हैं।[४]

सैद्धान्तिक काव्यों में निजगुण शिवयोगी कृत केवल्य पद्धति, परमानुभव बोधे, परमार्थ गीते, अनुभव सार, तथा मग्गेयमाणिदेव कृत अनुभव सूत्र,एकोत्तर षटस्थल षटपदी,[५] विशेषार्थ प्रकाशिका भी प्राप्त होते हैं। इन काव्यों के अति-रिक्त शैवों के कथात्मक काव्य भी प्राप्त होते हैं।

सैद्धान्तिक काव्य के समानान्तर शिव भक्त शिव की पौराणिक कथाओं के आधार पर कथात्मक काव्य का भी सृजन करते रहे।

कथात्मक काव्य

इसकी भी लम्बी परम्परा है जो महाकाव्य, खण्डकाव्य, चम्पू काव्य और स्तोत्र-काव्य आदि रूपों में प्राप्त होती है।

शैव महाकाव्य की परम्परा रामायण, महाभारत एवं पुराणों में वर्णित शिवकथाओं पर आधारित है। गुप्तकाल के संस्कृत कवि कालिदास का 'कुमार सम्भव' पौराणिक आधार पर रचा गया है। इसमें शिव की समाधि, पार्वती की कठोर तपश्चर्या

महा-काव्य

---

१. डा० हिरण्मय–हि०ओ०क० में भक्ति का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० २०३।
२. बलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शन—पृ० ५६०।
३. बलदेव उपाध्याय–आ० सायण और माधव-पृ० १६, २३।
४. बलदेव उपाध्याय—आर्य संस्कृति के मूलाधार, पृ० ३२६।
५. डा० हिरण्मय–हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० १३३।

का ओजपूर्ण तथा संश्लिष्ट वर्णन है, इसके अष्टम सर्ग का रति वर्णन तीव्र कटाक्ष का पात्र भी बना है। कवि ने अपने उपास्य 'जगतः पितरो' शिव पार्वती जैसे दिव्य दम्पति के रूप तथा स्नेह का औचित्यपूर्ण तथा ओजस्वी वर्णन किया है। इस परम्परा का दूसरा काव्य सातवीं शताब्दी के 'भारवि' का 'किरातार्जुनीय' है।

'किरातार्जुनीय' महाभारत वर्ग के प्रमुख महाकाव्यों में है। इसका कथानक महाभारत के सुप्रसिद्ध आख्यान पर आधारित है। शिव का 'किरात' रूप में अवतरित होकर अर्जुन को अस्त्र प्रदान करना ही इस काव्य की कथा का प्रमुख अंश है। संस्कृत शैव काव्य में काश्मीर के कवि 'रत्नाकर' का 'हर विजय' भी प्रसिद्ध है।[1]

रत्नाकर का 'हर विजय' आठवीं शताब्दी के संस्कृत महाकाव्यों में श्रेष्ठ माना जाता है। इनका माघ के काव्य 'लक्ष्मीपतेश्चरित कीर्तनमात्र चारु के अनुरूप 'चन्द्रार्धचूड़-चरिताश्रय-चारु' नामक महाकाव्य है। इसका कथानक शंकर के द्वारा 'अन्धक असुर' का वध है। कवि का ध्यान जल क्रीड़ा, संध्या चन्द्रोदय समद्रोल्लास, प्रसाधन, विरह, पान गोष्ठी आदि तथा भाषा के सौन्दर्य, ललित पदों की मैत्री और अभिनव वर्णनों के उपन्यास में और शब्दों के अद्भुत प्रभुत्व में केन्द्रित प्रतीत होता है।

'शिवांक' नामक काव्य भी महाकाव्यों के क्रम में आता है। इसके रचयिता 'शिव स्वामी' शैवमतावलम्बी थे। जिनका काल नवीं शताब्दी है। मंखक कृत "श्रीकण्ठचरित" बारहवीं शती का महाकाव्य है, जिसमें भगवान शंकर और त्रिपुर के युद्ध का साहित्यिक वर्णन है। इस काव्य की विशेषताएं पदों का सुन्दर विन्यास, अर्थों की मनोहर कल्पना एवं भक्ति का उद्रेक हैं। बारहवीं शताब्दी में श्री हर्ष का 'शिव-भक्ति-सिद्धि' नामक ग्रन्थ प्राप्त होता है, जिसमें शिव शक्ति की साधना का उल्लेख है। 'नीलकण्ठ' का 'शिवलीलार्णव'[2] महाकाव्य है। इसके बाईस सर्गों में शंकर की पुराण वर्णित लीलाओं का सरस सन्निवेश है। इनके 'गंगावतरण' नामक काव्य में गंगा के भूतल पर अवतरण का सुन्दर वर्णन है।

---

१. बलदेव उपाध्याय—संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ०. १८८, २१६, २३०।

२. बलदेव उपाध्याय-संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० २४३।

महाकाव्यों की परम्परा में गोकुलनाथ का 'भिक्षाटन' काव्य माननीय है। इसमें शिव का शृंगारिक वातावरण में चित्रण किया गया है। तेरहवीं शताब्दी के काश्मीर निवासी 'जयद्रथ' रचित 'हर चरित चिन्तामणि' भगवान शंकर के नाना चरित्रों और लीलाओं का वर्णनात्मक काव्य है।[१] सोमेश्वर कवि के 'सुरथोत्सव काव्य' में दुर्गासप्तशती में उल्लिखित कथानकों का सुविस्तृत वर्णन है।[२] 'विद्यामाधव' ने 'पार्वती रुक्मणीय' नामक नवसर्गात्मक काव्य में पार्वती और रुकमणी के विवाह का विशद वर्णन किया है।

खण्डकाव्य

शैवकाव्य में खण्डकाव्यों का भी प्राचुर्य है। संस्कृत साहित्य में शैव खण्डकाव्यों का अभाव सा रहा है। शिव और पार्वती के विवाह आदि प्रसंगों के आधार पर हिन्दी साहित्य में खण्ड-काव्यों का निर्माण हुआ है। रामकृष्ण राय का शिवायन, रामेश्वर चक्रवती भट्टाचार्य का शिवसंकीर्तन, द्विज कालिदास का कालिका-विलास तथा माणिराय कृत[३] वैद्यनाथ मंगल इसी परम्परा में रखे जा सकते हैं। महाकवि तुलसीकृत 'पार्वती मंगल' सोलहवीं शताब्दी का खण्डकाव्य है। राजस्थानी साहित्य में भी खण्डकाव्यों का निर्माण हुआ है। कवि किसनउ[३] कृत 'महादेव पार्वती री वेलि' खण्डकाव्य है, जिसमें शिव के दो विवाहों का रोचक वर्णन है। इसी क्रम में राजस्थान के लोक साहित्य में प्रसिद्ध 'पार्वती मंगल' है। यह भक्ति रस का काव्य है किन्तु इसमें हास्य रस का सुन्दर पुट भी है। अठारहवीं शताब्दी के कवि रुस्तम कृत 'शिव व्यावला' भी खण्ड काव्य की परम्परा में आता है। इसका कथानक यद्यपि प्राचीन है तथापि कवि ने पार्वती विवाह के अवसर पर दो बरातों के आगमन की कल्पना कर नवीनता लाने का प्रयास किया है। शिव से सम्बद्ध महाकाव्य और खण्डकाव्य की यह परम्परा जन साधारण का रंजन तो करती ही है, उनकी भक्ति भावना को भी शिवोन्मुख करती है।

चम्पू काव्य

शैव साहित्य में चम्पूकाव्य की भी एक परम्परा रही है। तेरहवीं शताब्दी के कवि हरिहर कृत 'गिरिजा कल्याण' चम्पूकाव्य है। इसकी कथावस्तु शैव पौराणिक काव्यों में वर्णित शिव पार्वती विवाह है। गिरिजा के चित्र का चित्रण करने में

---

१. बलदेव उपाध्याय—संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० २६२।

२. वही, पृ० २६४।

३. डा० हिरण्मय—हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० १३८।

कवि ने विशेष रुचि दिखलाई है। सत्तरहवीं शताब्दी के षड्क्षर देव कृत 'राज-शेखर विलास, "वृषभेन्द्र विजय" भी चम्पू काव्य है।[1] इनमें पाण्डित्य और कविता का सुन्दर समन्वय है।

स्तोत्र काव्य

प्रबन्ध और चम्पू काव्य के अतिरिक्त शैव स्रोत्र काव्य दर्शन और साहित्य दोनों क्षेत्रों में अपना महत्त्व रखता है। संस्कृत स्रोत्र साहित्य में जगद्धरभट्ट कृत स्तुति कुसुमांजलि, शंकर कृत महिम्न स्तोत्र, उत्पल देव कृत शिवस्तोत्रावलि, नारायण पण्डिताचार्य कृत शिव स्तुति, दुर्वासा कृत ललिता-स्तवरत्न, त्रिपुर महिम्न स्तोत्र प्रसिद्ध हैं। लंकेश्वर की कृति 'शिवस्तुति' भी प्रसिद्ध है।[2] जिसमें भगवान शिव में ही ध्यान को केन्द्रित करने की अभिलाषा प्रकट की गयी है। राघव चैतन्य के 'महागणपति स्तोत्र' में शिव के पुत्र गणेश के सौन्दर्य, शक्ति आदि का वर्णन है। वक्रोक्ति पंचाशिका में शिव पार्वती की वन्दना की गयी है।

हिन्दी में मनियार सिंह कृत 'महिम्न भाषा' 'सौन्दर्य लहरी', शिव सहायदास कृत 'शिव चौपाई'[3] की गणना श्रेष्ठ स्तोत्र साहित्य में की गयी है। 'देवयाण' नामक काव्य में देवी की स्तुति है। त्रिपुर-सुन्दरी-री वेलि भी इसी प्रकार का स्तुति काव्य है।

स्तोत्र साहित्य के अन्तर्गत शतक, वचन, बानी और सलोका भी माने गये हैं।

स्तोत्र काव्य की परम्परा में शिव-पार्वती स्तुति से सम्बद्ध शतक काव्यों की भी रचना हुई। बाणभट्ट कृत 'चण्डी शतक' गोकुलनाथ कृत शिव शतक, हरिहर कृत पम्पाशतक, रक्षा शतक, इसी परम्परा के काव्य हैं। सोलहवीं शताब्दी से मग्गेय मायिदेव कृत शतक त्रय, चन्द्रकवि का गुरुमूर्ति शंकर शतक, वीर भद्रराज का पंचशतक, नामदेव कृत मल्लेश्वर शतक, चेन्न मल्लिकार्जुन का शिव महिमा शतक, शंकर देव का शंकर शतक एवं शान्तवृषमेष का[4] अनुभव शतक उल्लेखनीय है। इन शतकों में शैव सम्प्रदाय के तत्वों का निरूपण

---

१. डा० हिरण्मय-हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० १३८।

२. डा० रामसागर त्रिपाठी—मुक्तक काव्य परम्परा और बिहारी, पृ० १३८।

३. रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३७६।

४. डा० हिरण्मय—हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० १३५।

करते हुए भक्ति, ज्ञान और वैराग्य का उपदेश दिया गया है। शैव भक्तों ने स्तोत्र मुक्तक पदों के अतिरिक्त वचन साहित्य का भी सृजन किया है।

दक्षिण के वचन साहित्य में शैव सिद्धान्तों के विवेचन के साथ ही भक्त हृदय के भावों की भी अभिव्यक्ति हुई है। वचन साहित्य की परम्परा में सोलहवीं शताब्दी के मग्गेय मायिदेव के वचन, सत्तरहवीं शताब्दी के सर्वज्ञ कृत 'सर्वत्र वचन गलु, षटचक्रद वचन, वेडगिन वचन हैं। वस्तुतः वचन साहित्य बहुत विस्तृत है। अनेक शैव भक्तों के नाम पर 'वचन' साहित्य प्राप्त होता है। इनमें प्रभु देव के वचन, सकलेशमादरस के वचन, वसव के वचन, कालज्ञान वचन, चेन्नवसव वचन, सिद्धराम वचन, महादेवियक्क वचन, मल्लिकार्जुन पण्डिता वचन, मुख्य हैं।[१] कुछ शैव भक्तों के वचन 'वचन शास्त्र सार' के दो भागों में तथा 'वचन धर्मसार' में भी प्राप्त होते हैं।

वाणी साहित्य

शैव सन्तों के नाम पर भी वर्णन मुक्तकों के संग्रह प्राप्त होते हैं, जिनमें शैव सिद्धान्तों की व्याख्या और चित्त को शिव भक्ति में लीन करने का उपदेश है। इन मुक्तक संग्रहों में सत्रहवीं शताब्दी के संत किनाराम का विवेकसार, गीतावली, योगेश्वराचार्य कृत स्वरूप प्रकाश, टेकमनराम कृत भजन रत्नमाला, भक्त सुक्खु कृत आनन्द सुमिरनी, गुलावचन्द कृत आनन्द भण्डार, रामटहलराम कृत भजन रत्नमाला, आनन्द कृत तख्यलाते आनन्द मुख्य हैं। इनके समान ही निर्पक्ष वेदान्तरागसार, कर्ताराम-धवलराम चरित्र, आत्मनिर्गुण-ककहरा, जयमाल आदि काव्यों में शैव योग के सिद्धान्त पक्ष का भी विवेचन हुआ है। इन काव्यों की विस्तृत निधि में वोधिदास, मिनकराम, गोविन्दराम- टेकमनराम की वानियों के हस्तलिखित ग्रन्थ हैं।[२]

सलोका साहित्य

शैव स्तोत्र काव्य की परम्परा का एक स्वरूप 'सलोका साहित्य' के रूप में भी प्राप्त होता है। संस्कृत के 'श्लोक' शब्द से ही 'सलोका' 'सलोका' अथवा 'सिलोका' शब्द वना है। इनमें शिव स्तुति, प्रशंसा, कीर्ति और यशोगान मिलता है। इस सलोक साहित्य में पन्द्रहवीं शताब्दी के विनीत विमल रचित 'आदिनाथ सलोको' प्रसिद्ध है।

---

१. डा० हिरण्मय—हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन-परिशिष्ट, पृ० ३७९।

२. डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी–संतमत का सरभंग सम्प्रदाय, पृ० १२६, १२७, १२८, १३१।

चरित काव्य शैव सम्प्रदाय के आचार्यों के चरित्र भी शैव भक्तों की श्रद्धा के अंग होने के कारण काव्य की वस्तु बने हैं। यह चरित काव्य तीन प्रकार का प्राप्त होता है—एकार्थ चरित्र, चरित्र संकलन और खण्ड चरित्र।

भक्त की जीवन गाथा अभिव्यक्त करने वाले काव्य को एकार्थ चरित्र काव्य कहा गया है। राघवांक के हरिश्चन्द्र काव्य और सिद्धराम चरित्र 'एकार्थ चरित्र' काव्य हैं। हरिश्चन्द्र काव्य में 'हरिश्चन्द्र' को शिव भक्त के रूप में चित्रित किया गया है। सिद्धराम चरित्र में शिवभक्त सिद्धराम की जीवनी का विस्तार के साथ वर्णन किया गया हैं। 'सोमनाथ चरित्र' में सौराष्ट्र के शिव-भक्त 'आदय्या' का वर्णन है।[1]

कुछ ऐसे काव्य भी हैं जिनमें एक साथ अनेक भक्तों के चरित्र का संकलन हुआ है, इन्हें चरित्र संकलन काव्य भी कहा जा सकता है। माणिक वाचकर का 'परियपुराणम्' चरित्र संकलन काव्य है, जिसमें नायनमार भक्तों का जीवन वृत वर्णित है। चरित्र संकलन काव्यों में भीमकवि का 'वसव पुराण', मद्यमणांक का पद्मराज पुराण, वौम्भरस का 'सौंदर-पुराण', चतुर्मुख बोम्भरस का 'रेवणसिद्ध पुराण' और विरूपाक्ष का 'चेन्नवसव पुराण' आदि प्रसिद्ध पुराण हैं।

'वीरेश चरिते' को खण्ड चरित्र काव्य कहा जा सकता है। इसमें शिव के कोप से प्रसूत वीरभद्र का दक्षयज्ञ विध्वंश ही वर्णित है।

निष्कर्ष मध्यकालीन हिन्दी कविता पर शैवमत के प्रभाव की दिशा और दशा का अन्वेषण करने के लिए शैव साहित्य का अध्ययन अपेक्षित है। साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति ही नहीं, जीवन के प्रवाह में विकसित धर्म और दर्शन का अक्षय भण्डार है। साहित्य धर्म और दर्शन के क्रोड़ में पल्लवित भाव धारा का भी अक्षय स्रोत होता है। किसी भी युग का साहित्य, युग विशेष की प्रवृत्ति का परिणाम तो होता ही है, किन्तु वह अपने पूर्व और वाद के साहित्य की भी महत्त्वपूर्ण शृंखला होता है।

मध्ययुगीन हिन्दी कविता पर पूर्ववर्ती संस्कृत साहित्य और मध्यकाल के पूर्ववर्ती हिन्दी साहित्य का स्पष्ट प्रभाव है। मध्यकाल के पूर्ववर्ती संस्कृत

---

१. डा० हिरण्मय—हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० १३०।

साहित्य ने परवर्ती संस्कृत साहित्य को तो प्रभावित किया ही किन्तु उसका प्रभाव मध्यकालीन हिन्दी काव्य पर भी कम नहीं है। अतएव इस युग के साहित्य पर शैवमत के प्रभाव की गवेषणा में मध्यकाल से पूर्व निर्मित संस्कृत और हिन्दी साहित्य का अध्ययन भी अपेक्षित है।

मध्ययुग पर्यन्त शैव साहित्य दो प्रकार का है—सैद्धान्तिक एवं कलात्मक। इस युग के हिन्दी साहित्य पर इन दोनों का ही प्रभाव रहा है। साहित्यिक रचनाओं के अतिरिक्त धर्म और दर्शन का प्रभाव लोक-साहित्य पर भी रहा है। यह साहित्य समाज की भावनाओं के सरल प्रतिनिधित्व के कारण अधिक लोकप्रिय हुआ। इस युग के शैव साहित्य ने शैवोपासकों की रचनाओं के साथ ही शैवेत्तर उपासकों और उनकी साहित्यिक विधाओं को भी प्रभावित किया है।

———

अध्याय ४

मध्यकालीन हिन्दी कविता पर शैवमत के प्रभाव की दिशा और दशा

मध्यकाल तक शैवमत का पर्याप्त विकास हो चुका था। इस काल का साहित्य स्वयं उक्त तथ्य का प्रमाण है। शैवमत विभिन्न सम्प्रदायों और उप-सम्प्रदायों में विकसित हो रहा था। उसका एक अंग तांत्रिक भी था अतः उसमें वैदिक और तांत्रिक विचार धाराओं के समन्वय के साथ वैदिक दर्शन और तन्त्रों के साधना पक्ष का भी महत्त्व प्रतिपादित हुआ। शैवमत के सिद्धान्त पक्ष के निरूपण से यह स्पष्ट है कि इसमें दर्शन योग एवं भक्ति की विशिष्ट परम्परा है, जिसके आधार पर शैवाचार्यों और शिवभक्तों ने साहित्य का निर्माण किया।

इस साहित्य में शैव दर्शन के आध्यात्मिक विषय ब्रह्म, माया, जीव, जगत्, कर्म, और मोक्ष तथा योग के अष्टांगों, मानसिक एवं आध्यात्मिक भूमिकाओं का विशद् विश्लेषण हुआ है। इसके अतिरिक्त शैव साहित्य में शिव एवं उनके परिवार का उपास्य स्वरूप तथा पूजा के उपकरण और विधि तथा भक्ति द्वारा शिव और जीव की ऐक्यावस्था का भी वर्णन हुआ है। मध्यकालीन हिन्दी कविता पर शैवमत का प्रभाव वस्तुतः शैव साहित्य में वर्णित उक्त सिद्धान्तों के रूप में ही आया। अतः उन्हीं को इस युग के साहित्य पर शैव मत के प्रभाव की दिशा कहना उचित होगा। मध्ययुग की कविता पर शैवमत के प्रभाव को दर्शन, योग, भक्ति और शैव साहित्य की दिशा में सरलता से देखा जा सकता है।

अध्यात्म दर्शनः दिशा

मध्ययुगीन हिन्दी कविता में ब्रह्म का स्वरूप वेदान्त के ब्रह्म के सदृश नित्यदृकस्वरूप ही नहीं है, सक्रिय भी है। उसकी स्वतंत्र इच्छा शक्ति जगत् के निर्माण का हेतु है। इसी से उसे जगत् का निमित्त कारण भी कहा गया है। इस युग की कविता में शिव परब्रह्म, असीम और शाश्वत हैं। वे अपनी इच्छा से नाना प्रकार की भूमिका ग्रहण करते हैं।

मध्यकालीन हिन्दी कवियों ने अलख[1], निरंजन[2], शब्द[3] और शून्य[4] नाम से निराकार शिव को अभिहित किया है। ये शब्द शैव सम्प्रदाय में शिव के लिये प्रयुक्त हुए हैं। विवेचनीय युग की कविता में उक्त नामों की अवतारणा के साथ, शिव के गुणों का भी वर्णन हुआ है।

सन्त कवियों ने 'शिव' की सर्वव्यापकता को स्वीकार किया है। संत दरिया की बानी में कहा गया है,—"जल थल सपत पताल लहि, किमि करि करों वखान"[5]

मध्ययुग के हिन्दी कवियों ने आत्मा और शिव की एकता को भी माना है। गुलाल की वानी में कहा गया है—

"जीव पीव मंह पीव जीव मंह, बानी बोलत सोई
सोई समन मंह, हम सबहन मंह, बूझत बिरला कोई"[6]

मध्यकालीन कवियों ने शिव और शक्ति के अविच्छिन्न सम्बन्ध को अग्नि और अग्नितत्व तथा फूल और सुगन्ध के उदाहरण देकर चित्रित[7] किया है। इन कवियों ने शैव दर्शन की नाद और बिन्दु धारणा को भी अपने ढंग पर अपनाने का प्रयत्न किया है। भीखा साहब का कथन है—

"नाद बिन्दु के जोहु बदन में, मन माया तब मरे"[8]

---

१. कबीर ग्रन्थावली—पृ० २३०।
२. संतवानी संग्रह—गुरु नानक, भाग २, पृ० ५१।
३. परशुराम चतुर्वेदी—संतकाव्य संग्रह दादू साहब, पृ० १३९।
४. अखरावट, जायसी ग्रन्थावली, पृ० ३२४।
५. दरिया-दरिया सागर ज्ञानरत्न, पृ० ११०—०।
६. संतबानी संग्रह भाग २, पृ० २०३।
७. परशुराम चतुर्वेदी—संतकाव्य संग्रह, पृ० ४७२।
८. भीखा साहब की बानी, पृ० ७।

अतएव यह कहा जा सकता है कि मध्ययुगीन कविता में शैव दर्शन के प्रभाव के परिणामस्वरूप शिव-रूप-ब्रह्म को सच्चिदानन्द, सर्व-शक्तिमान, सर्वज्ञ माना है। इस युग के काव्य में माया को सत्य और मिथ्या माना है। इसको सद्रूपध्वनित करने के लिए सगुण भी कहा गया है। माया के सत्य रूप में विश्वास कर राजा मानसिंह अपनी वानी में कहते हैं—"माया ही ब्रह्म रूप यह जान, माया ब्रह्म भिन्न मति जान।"[1] माया के असत्य स्वरूप का वर्णन करते हुए संत आनन्द कहते हैं—"झूठे विधाता को सगरो ब्योहार।"[2]

मध्ययुगीन हिन्दी कविता में शैव दर्शन के प्रभाव से जीव की विभिन्न कोटियां, उसके शुद्ध आत्मस्वरूप तथा उसमें निहित अनात्म तत्त्व का भी वर्णन हुआ है। जीव और शिव का अंशांशी सम्बन्ध, द्वैताद्वैत, अद्वैत एवं विशिष्टाद्वैत सम्बन्ध भी काव्य का प्रिय विषय रहे हैं। इस विषय में संत रैदास, चरणदास आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। संत काव्य में 'निरंजन' की कल्पना शैव मत का प्रभाव कही जा सकती है। ब्रह्म को निरंजन शब्द से सम्बोधित करते हुए दरिया ने कहा है—"निरंजन ! धन्य तेरी दरबार"[3] संत किनाराम ने निरंजन का निवास निराकार में बतलाते हुए कहा है, "ज़ीवन सुनो निरंजन केरा, निराकार महं संतत खेरा[4]।"

आचार्य किनाराम ने जगत आत्मा और परमात्मा के अभेद की व्याख्या करते हुए कहा है, "मैं ही जीव हूँ, मैं ही ब्रह्म हूँ, मैं ही अकारण निर्मित जगत् हूँ, मैं ही निरंजन हूँ और मैं ही विकराल काल हूँ।[5] सुन्दरदास ने अपनी वानी में जगत् को ब्रह्म का अविकृत परिणाम माना है, जैसे घृत थीज के डरा सो बंधि जात पुनि, फेर पिघलें ते वह घृत ही रहतु है।[6]" संत कबीर ने समस्त जगत् को परमेश्वर का प्रतिबिम्ब[7] माना है। इस जगत् की अनेकता संशय के कारण है। संशय मिटने पर इस जगत् का अस्तित्व मिट जाता है। कबीर ने जगत् की असत्यता को भ्रमजन्य माना है।

---

१. रामगोपाल मोहता द्वारा सम्पादित, मान पद्य संग्रह, भाग १, पृ० ४७।
२. आनन्द–आनन्द भण्डार, पृ० १०८, १०९।
३. धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी–संतकवि दरिया : एक अनुशीलन, पृ० ७८।
४. किनाराम–विवेकसार, पृ० २०।
५. वही. पृ० २५।
६. परशुराम चतुर्वेदी-संतकाव्य संग्रह, पृ० १७०।
७. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ९३।

सृष्टि के तत्वों का विश्लेषण करते हुए आनन्द की बानी में कहा गया है—

"पांच तत्व का बना पींजरा, तामें तू लपटाया रे"[१]

मध्यकालीन कवियों में जगत् सम्बन्धी यह विचार-धारा शैव दर्शन के प्रभाव से आई जान पड़ती है।

कर्म के अमोघ परिणाम को सभी कवियों ने मान्यता प्रधान की है। उनके अनुसार इस लोक के सभी प्राणी कर्म के प्रवाह में बहे जा रहे हैं और कर्म के भोग को भोगते हैं। संत भीखा की वानी में कहा गया है,

"अपनी कपट कुचालों नाना दुख पावें
कर्म मरम बीच में, सिंह स्यार कहावें"[२]

कर्म का भोग और भोग का कर्म बनता है। यह परम्परा उस समय तक चलती रहती है, जब तक कि जीव मुक्त नहीं हो जाता। कर्म के निवृत्त होने पर जीव मुक्त स्वरूप हो जाता है। इस भाव को व्यक्त करते हुए पलटू साहब ने अपनी बानी में कहा है—कर्म मुक्ति सहज नहीं है, निष्काम कर्म से ही कर्म नाश होता है—"कर्म बन्धन सकल छूटे जीवन मुक्ति कहावन"[३] पाशों का वर्णन भी मध्ययुगीन कविता में शैवमत के प्रभाव से आया प्रतीत होता है। इन्द्रियों को मन के आधीन कर, काया से सब गुणों को त्याग कर, कर्म के बन्धन से मुक्त होकर जीव मोक्ष प्राप्त कर लेता है। निष्काम कर्म में खाना पीना बन्द हो जाता है या कर्म बन्द हो जाते हैं ऐसी बात नहीं है। बात इतनी सी है कि मन में इच्छाएं नहीं रहतीं, मन वृत्तिहीन हो जाता है। इसी अवस्था को निरंजन अवस्था कहते हैं। दादू ने कहा है:—

"जब मन मिर्तक ह्वै रहे, इन्द्री बल भागा
काया के सब गुण तजै, नीरंजन लागा।"[४]

मुक्ति की अवस्था में जीव द्वन्द्व रहित हो जाता है, और पाप पुण्य से परे हो जाता है। जीव सशरीर इस जगत् में ब्रह्मानन्द अनुभव करता है। कबीर साहब की बानी में भी कहा गया है:—

---

१. आनन्द—आनन्द भण्डार, पृ० २४।
२. भीखा साहब की बानी, पृ० ५७-५८।
३. पलटू साहब की बानी, पृ० ५७।
४. दादू दयाल की बानी, (बेलेवेडियर प्रेस), पृ० ११४।

"साधो भाई, जीवत ही करो वासा
जीवत समझे जीवत बूझे जीवत मुक्ति निवासा
तन छूटे जिव मिलन कहत है सो सब झूंठी आसा।"[1]

मध्यकालीन हिन्दी कविता में शैव दर्शन के आधार पर कवियों का लक्ष्य दुखान्त एवं चिदानन्द अवस्था तथा जीव और ब्रह्म सामरस्य का प्रतिपादन प्रतीत होता है।

शैवमत के अध्यात्म दर्शन का प्रभाव, इस युग की कविता में ब्रह्म[2] की सक्रियता, नाद विन्दु[3] पिण्ड ब्रह्माण्ड वर्णन, माया[4] की सद्रूपता, माया के विधा और अविधा भेद[5], जीव[6] की ब्रह्म रूपता, जीव की सत्यता, जीव के भेद वर्णन में तो है ही जगत्[7] की सत्यता, जगत् और ब्रह्म[8] के सम्वन्ध-अविकृत परिणाम एवं आभासवाद, कर्म सापेक्षता, और कर्मसन्यास[9] द्वारा दुखान्त तथा सामरस्य या आनन्दवाद[10] में भी उसका प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। शैव दर्शन मध्ययुग का प्रमुख दर्शन रहा है, इसका तत्कालीन काव्य धाराओं पर अक्षुण्ण प्रभाव है।

मध्ययुगीन हिन्दी कविता पर शैव मत के प्रभाव की दूसरी दिशा 'योग दर्शन' है। शैवयोग में साधना की तीन भूमिकाएं मान्य हैं। प्रथम भूमिका में साधक एक मात्र शारीरिक साधना द्वारा हठात् चितवृत्ति का निरोध करता है। उसकी साधना क्रमशः शरीर की भूमि से ऊपर उठकर भावना क्षेत्र में पहुँचती है और वह अपने हृदय में निहित आनन्द एवं मानसिक शान्ति की अनुभूति करता है। यही अनुभूति विकसित होकर अध्यात्मिक भूमिका में अलौकिक आनन्द में लीन होती है। इसी को ज्ञान की चरमावस्था भी कहा है।

---

१. हजारी प्रसाद द्विवेदी-कबीर (कबीर वाणी), पृ० २३२।
२. देखिए-इसी अभिलेख का द्वितीय अध्याय, पृ० ३३।
३. वही, पृ० ४२।
४. वही, पृ० ३८।
५. वही, पृ० ३९।
६. वही, पृ० ५०।
७. वही पृ० ४५।
८. वही, पृ० ४५।
९. वही, पृ० ५६।
१०. वही, पृ० ५४।

शैव–सिद्धान्त के प्रभाव की इस दिशा को इन विविध भूमिकाओं में देखा जा सकता है ।

मध्ययुगीन सुन्दरदास, मलूकदास, चरणदास आदि संतों की कविता में यम[१], नियम[२], आसन[३], प्राणायाम[४] और उसके अंग[५], षट्कर्म मुद्रा[६], नाड़ी विचार[७], चक्र वर्णन[८], प्रत्याहार[९] तथा उसके साधनों का वर्णन शैवयोग का प्रभाव है । शैव सिद्धान्त में चित्तवृति के नियंत्रण में ही उक्त तत्वों का महत्व माना गया है वस्तुतः इनके द्वारा अपने विशिष्ट लक्ष्य में चित्त को केन्द्रित करना ही इसका लक्ष्य है ।

धारणा[१०], ध्यान[११] और समाधि[१२] से ही चित्त की विशुद्धता, एकाग्रता प्राप्त होती है । मध्ययुगीन संत चरनदास, सहजोवाई, संत गुलाल आदि की वानियों में इसका तथा इसके भेदों का वर्णन भी शैव दर्शन में मान्य ग्रन्थों के आधार पर ही हुआ है, अनेक स्थलों पर इनका तात्विक विश्लेषण प्रस्तुत करते समय इनकी उक्तियों को भी उसी रूप में प्रस्तुत किया गया है ।

संत वानियों में त्रिवेणी-वाराणसी-भंवरगुफा में अमृतपान, सहस्रदल कमल में कैलास और शिव की कल्पना शैव योग का ही प्रभाव है । मध्य युग के संत कवीर, बुल्ला साहव, यारी साहव आदि की बानियों से ज्ञात होता है कि उनका लक्ष्य वाह्य आडम्बरों का विरोध कर आत्मा में निवास करने वाले शिव से एक्य प्राप्त करना था । मध्ययुग का अधिकांश काव्य जीव और शिवेक्य

---

१. देखिए इसी अभिलेख का द्वितीय अध्याय, पृ० ६८ ।
२. वही, पृ० ६८ ।
३. वही, पृ० ६९ ।
४. वही, पृ० ७० ।
५. वही, पृ० ७९ ।
६. वही, पृ० ७२ ।
७. वही, पृ० ७४ ।
८. वही, पृ० ७६ ।
९. वही, पृ० ७९ ।
१०. वही, पृ० ८३ ।
११. वही, पृ० ८४ ।
१२. वही, पृ० ८४ ।

का ही प्रतिपादन करता है। इस अवस्था को प्राप्त करने में गुरु के महत्त्व का भी वर्णन है।

शैव योग में जैसा कि अन्यत्र भी कहा जा चुका है. शिव को ही गुरु माना है। इसके अनुसार साधना की प्रथम भूमिका में ही लौकिक गुरु की आवश्यकता है उसके वाद आत्मस्थ गुरु ही उसके मार्ग निर्देशक होते हैं। शैव सिद्धान्त के प्रभाव की इस दिशा में, कहा जा सकता है कि मध्ययुगीन हिन्दी कविता में इसी आधार पर 'गुरु' के महत्व का प्रतिपादन तुलसी साहव, दयाबाई तथा यारी साहब आदि संतों ने किया है।

संक्षेप में कह सकते हैं कि मध्य युग के हिन्दी काव्य पर शैव योग का प्रचुर प्रभाव रहा। यही इस युगकी योग-प्रधान कविता का आधार है। अतः उक्त धारा के साहित्य का अध्ययन करते समय शैवयोग के महत्त्वपूर्ण प्रभाव की उपेक्षा कदापि नहीं की जा सकती। रामानन्द और उनके गुरु राघवानन्द पर इसका गहरा प्रभाव था। राघवानन्द कृत 'सिद्धान्त पंचमात्रा' इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। रामानन्द के प्रभाव से सूर और तुलसी ने भी तीक्ष्ण शब्दों में योग का वर्णन किया है।

भक्ति दिशा

शैव सिद्धान्त के तीसरे पक्ष "भक्ति दर्शन" का भी मध्यकालीन हिन्दी कविता पर स्पष्ट प्रभाव है। इसी अभिलेख के द्वितीय अध्याय में कहा जा चुका है कि भक्ति में उपासक, उपास्य और उपासना तीनों का महत्त्व है[1]।

मध्ययुग के संत कवि कवीर एवं जायसी आदि की प्रेम आख्यानक रचनाओं में उपासक, उसके लक्षण, वेशभूषा, आचार विचार का वर्णन है। इनके नैतिक दृष्टिकोण ने काव्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को प्रभावित किया है। संत कवीर, किनाराम, राजामानसिंह आदि ने सदाचरण को धर्म का प्राण और सर्वस्व वतलाकर, उसके आचरण को धर्म का मूल कहा है। भारतीय धर्म और साधना के समान, शैवों के सदाचार, वैराग्य, और विभिन्न संस्कारों ने, साहित्य में भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है। साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका पर इस प्रभाव को स्पष्ट देखा जा सकता है। इनके उपास्य भी भक्ति साहित्य में पूज्य पद प्राप्त किये हुए हैं।

शैवों के उपास्य शिव हैं। इनमें उपास्य शिव के समान ही पार्वती,

---

१. देखिए, इसी अभिलेख के द्वितीय अध्याय पृ० ५८।

गणेश और उनके वाहन भी पूज्य माने गए हैं। शिव और उनके परिवार की स्तुति, उनके स्वरूप का वर्णन और उनकी कथाओं का श्रवण, उपासकों का विशेष आधार है। स्तोत्र साहित्य में उनकी स्तुति है, तो अनेकों महाकाव्य उनकी कथाओं के विशद्ध और प्रभावोत्पादक चित्र प्रस्तुत करते हैं। शुद्ध शैव काव्य ही नहीं तुलसी, सेनापति, दयालनाथ आदि के साहित्य में भी शिव की महिमा का गान है। वे भक्ति का एक मात्र अवलम्ब हैं, उनकी कृपा से ही जीव आनन्द प्राप्त कर सकता है। इस युग की कविता में शिव सिद्धि–प्रदाता एवं मंगलकारी रूप में चित्रित हुए हैं। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि शिव भक्ति का अनिवार्य आधार रहे हैं और मध्यकालीन काव्यधारा पर शैव भक्ति का अक्षुण्ण प्रभाव है।

शिव भक्ति में तप, कर्म, जप, ध्यान और ज्ञान आदि पांच तत्वों के साथ आन्तरिक साधना पर विशेष वल दिया गया। मध्ययुग के अशैव भक्त तुलसीदास, हरिदास आदि ने शिव–भक्ति से आप्लावित हो, उनकी स्तुति में साहित्य का सृजन किया। भक्ति परम्परा में शैवमत का यह प्रभाव महत्त्व–पूर्ण है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि शैवमत के भक्ति पक्ष का मध्यकालीन हिन्दी कविता पर अक्षुण्ण प्रभाव है। शैव और शैवेतर स्तुतिपरक साहित्य इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

साहित्य दिशा

मध्ययुगीन हिन्दी कविता ने शैवमत के प्रभाव को साहित्य के अनेक क्षेत्रों में होकर लिया है। कहीं साहित्यिक अनुवाद हैं, कहीं कथा–प्रभाव हैं, कहीं भाव छाया है और कहीं सांकेतिक संदर्भ हैं। साहित्यिक प्रभाव के परिपार्श्व में काव्यशास्त्र भी अस्पष्ट नहीं रह जाता है जिसमें अभिनवगुप्त का रस–सिद्धान्त प्रथित है।

संस्कृत और हिन्दी में सैद्धान्तिक काव्य की टीकाओं और व्याख्याओं ने परवर्ती हिन्दी साहित्य में शैव सिद्धान्त तथा भक्ति मार्ग को प्रशस्त किया है। शैव पुराणों और शैव महाकाव्यों में वर्णित शिव की कथा हिन्दी साहित्य का प्रिय विषय वनी। मध्यकालीन कवियों ने इन कथाओं के अनेक स्थलों को रूपान्तर कर अपने साहित्य में स्थान दिया, जिसे भाव छाया कहा जा सकता है। विद्यापति की नचारियों में भाव छाया के रूप में शिव विवाह सम्वन्ध में पूर्ववर्ती साहित्य शिव पुराण के भाव को चित्रित किया गया है।

"हम नहिं आज रहव यहि आंगन, जो बुढ़ होएत जमाई।[१]"

शैवेतर काव्यों में शिव पार्वती सम्बन्धी कथाओं के संदर्भ का भी अभाव नहीं है। भूषण कवि ने अपने काव्य में कहा है।

"हरचो रूप इन मदन को, याते भो शिव नाम
लियो विरद सरजा सबल, अरि बाज दलि संग्राम[२]"

साहित्य शास्त्र से तात्पर्य पारिभाषिक शब्दावली, अलंकार और रस से है। मध्ययुगीन कविता पर शैव साहित्य के इस पक्ष का भी प्रचुर प्रभाव है। इस काल के कवियों ने चन्द, सूर्य, वंकनालि, पंचपियारियां, द्वादशगम, शून्य, गगन मण्डल आदि पारिभाषिक शब्दों की योजना शैव दर्शन के आधार पर की है।

अलंकार क्षेत्र में, मध्ययुगीन कवियों में, प्रतीक योजना, अन्योक्ति, समासोक्ति, विभावना आदि अभिव्यक्ति का मुख्य आधार रहे हैं। इन अलंकारों का पूर्ववर्ती शैव साहित्य से घनिष्ट सम्बन्ध है।

आचार्य अभिनवगुप्त का रस–सिद्धान्त मध्ययुगीन कवियों को विशेष मान्य रहा। उन्होंने इसके आधार पर हृदय की अद्वैतावस्था में प्राप्त आनन्द को रस कहा है। इस युग के कवियों ने चेतावनी और उपदेश प्रसंग में शान्त रस तथा ब्रह्म की कल्पना में अद्भुत रस का प्रयोग किया है। इनके साहित्य में हास्य एवं वीभत्स रस का भी प्रयोग हुआ है, तथापि शृंगार, शान्त और भक्ति रस का ही प्राधान्य है। अतः मध्यकालीन कविता पर शैव साहित्य के प्रभाव की दिशा स्पष्ट है।

निष्कर्ष

शैवमत में सिद्धान्त के–दर्शन, योग और भक्ति तीनों पक्ष महत्त्वपूर्ण हैं। यह न तो केवल ज्ञान तथा साधना मार्ग है और न केवल भक्ति मार्ग। इसमें दर्शन, साधना (योग) और भक्ति का मंजुल सामंजस्य हुआ है। शिवतत्त्व का ज्ञान ही साधक को साधना की ओर उन्मुख कर सकता है। इसी प्रकार इस मत की योग साधना में भी भक्ति मूलक सहज प्रेम को मान्यता प्राप्त हुई, तथा भक्ति का आराध्य "सुनि मंडलवासी" पुरुष ही है, उसे आदि पुरुष परमात्मा और आदि सनातन रूप भी कहा है। अतः इनकी योग साधना भी शुष्क अष्टांग योग

१. विद्यापति की पदावली—रामवृक्ष बेनीपुरी, पृ० ४०७।
२. भूषण ग्रंथावली, पृ० ६०।

ही नहीं है। भक्ति भी दर्शन और योग अर्थात् चित्त वृत्ति निरोध से ही सम्पन्न होती है। सारांशतः कहा जा सकता है कि शैवमत में इन (दर्शन, योग भक्ति) का सामंजस्य ही मान्य है। इसके विभिन्न सम्प्रदायों में किसी की एक प्रधानता के साथ शेष पक्षों का महत्व भी मान्य रहा है। मध्यकालीन हिन्दी कविता की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर इसका गहन प्रभाव रहा है।

प्रभाव के उक्त क्षेत्र के साथ ही इस युग की कविता में खण्डन मण्डन की प्रवृत्ति, समाज सुधार की भावना, वर्णाश्रम धर्म विरोध, वाह्याडम्बर विरोध तथा भगवान् की करुणा में अटूट विश्वास, प्रेम और आनन्द की आद्य अभिव्यक्ति, रहस्याभिव्यक्ति एवं मुक्त काव्य रूप की प्रवृत्ति भी काश्मीरी शैव, वीर शव और शुद्ध शैव सम्प्रदायों से आई। संत काव्य में वर्णित कुल-कुण्डलनी एवं नाद विन्दु साधना, मंत्र चैतन्य, माया माधुर्यवाद, गुह्यता, प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति भी पाशुपतों की तांत्रिक साधना का प्रभाव है। मध्ययुगीन हिन्दी कविता में शैवों के अन्य सिद्धान्तों को भी देखा जा सकता है। मध्यकालीन हिन्दी कविता पर अतएव शैवमत के प्रभाव की उक्त दिशाओं के स्वरूप को जानने के लिये मध्ययुगीन काव्यों का अध्ययन आवश्यक है।

अध्याय ५

मध्यकालीन हिन्दी कविता पर शैव सिद्धान्त का प्रभाव ।

शैवमत से हमारा तात्पर्य उन सिद्धान्तों से है जिनको शैव साहित्य में अध्यात्म, योग और भक्ति के परिपार्श्व में ग्रहण किया गया है। जब हम शैवमत की बात करते हैं तो उस साहित्य की भी उपेक्षा नहीं कर सकते जो शैवमत की अभिव्यंजना करता है। अतएव प्रभाव के अन्तर्गत जहां दर्शन की विवेचना होनी चाहिए, वहां साहित्य की विवेचना भी अपेक्षित है। विवेचन की सुविधा के लिए सैद्धान्तिक प्रभाव को एक अध्याय में आकलित कर, साहित्य के प्रभाव की विवेचना अन्य अध्याय में की गयी है।

दार्शनिक विवेचन के अन्तर्गत केवल अध्यात्म दर्शन का विश्लेषण पर्याप्त नहीं है। अतएव विवेचन को पूर्ण बनाने के लिए अध्यात्म दर्शन के साथ-साथ शैवों के योग और भक्ति से सम्बन्धित सिद्धान्तों का भी पृथक्-पृथक् विवेचन किया गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि दर्शन ने भारतीय साहित्य के विकास में प्रमुख योग दिया है। भारतीय दर्शन भारतीय जीवन में एक विशेष स्थान रखता है, यही कारण है कि उसका महत्व उसके स्वतन्त्र रूप में भी है और साहित्य गत रूप में भी।

किसी युग का भी साहित्य अपने युग की प्रतिध्वनि होता है, युग का प्रतिरूपण होता है। इस उक्ति की सिद्धि मध्ययुग के साहित्य से भलीभांति हो सकती है। मध्ययुगीन साहित्य से, हमारा तात्पर्य उस साहित्य से है जिसकी सृष्टि मध्ययुग में हुई और जिसकी सीमा रेखाओं को सं० १३७५ से सं० १९०० केबीच में आबद्ध किया जाता है।

इस युग में भारतीय जन जीवन विशेष दशा में आबद्ध था। युग की अनेक प्रवृत्तियाँ पंगु होकर, केवल धार्मिक प्रवृत्ति ही साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्ति पा रही थी। इसका परिणाम यह हुआ कि साहित्य ने धर्म से एक गहन सम्बन्ध स्थापित किया—उस धर्म से जिसमें धार्मिक संकीर्णता भी प्रवेश कर चुकी थी और जिससे मौलिक व्यापकता भी अक्षुण्ण थी। व्यापकता मध्य-युगीन धर्म की मूल प्रकृति थी, और संकीर्णता रूढ़ियों के रूप में विनिविष्ट हो चुकी थी, धर्म के ये दोनों स्वरूप मध्ययुग की हिन्दी कविता में दृष्टिगोचर होते हैं। यहाँ हमारा लक्ष्य धर्म की आलोचना करना नहीं है वरन् शैव धर्म के उस स्वरूप की गवेषणा करना है जिसने मध्य युग की हिन्दी कविता का अंग बनकर तत्कालीन जन जीवन को प्रेरणा दी। इसी संदर्भ में शैव दर्शन के भाव की गवेषणा अपेक्षित है।

(क) दर्शन का प्रभाव

शैवमत भारतीय दर्शन की ही नहीं साहित्य की भी सम्पति है, क्योंकि शैवमत को प्रतिपादित करने के लिए अनेक साहित्यिक रचनाएं निर्मित हुईं, जिनको हम शुद्ध साहित्यिक रचनाओं की संज्ञा तो नहीं दे सकते पर साहित्य की कोटि से उनको अलग भी नहीं कर सकते। भारतीय दर्शन भारतीय साहित्य का अभिन्न अंग है, जिसमें जीवन दर्शन के साथ-साथ अध्यात्म चिन्तन भी है। शैवमत के सम्बन्ध से जो साहित्य निर्मित हुआ है उसकी परम्परा प्राचीन है किन्तु उस परम्परा की मध्यकालीन कड़ियां भी बड़ी गौरवशालिनी हैं। यों तो मध्यकाल में संस्कृत की भी अनेक रचनाएं रची गयीं जिन पर पूर्वकालीन संस्कृत साहित्य के प्रभाव की गवेषणा की जा सकी, बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि मध्यकालीन हिन्दी काव्य पर पूर्ववर्ती संस्कृत और हिन्दी रचनाओं के प्रभाव की गवेषणा की जाती है।

यह ठीक है कि मध्यकालीन हिन्दी कविता पर पूर्ववर्ती हिन्दी रचनाओं का प्रभाव इतना स्पष्ट या बहुत नहीं दीख पड़ता जितना कि शैवमतीय संस्कृत साहित्य का। यह प्रभाव दो प्रकार का है—परोक्ष और अपरोक्ष, दार्शनिक और साहित्यिक। हमारा लक्ष्य मध्यकालीन हिन्दी कविता पर शैव साहित्य के प्रभाव की गवेषणा करना नहीं है वरन् शैवमत के सम्बन्ध से व्युतपन्न साहित्य के प्रभाव की गवेषणा करना है और उस गवेषणा के क्षेत्र से साहित्य भी विलग नहीं हो पाता। इसलिए शैवमत का प्रभाव खोजने के साथ-साथ शैवमत से सम्बन्धित साहित्य की चर्चा भी अपेक्षित समझी गयी है।

मध्यकाल में काव्य के अनेक रूप मिलते हैं, जिन पर शैवमत के अध्यात्म दर्शन का प्रचुर प्रभाव है। वैसे तो शैवों का आध्यात्म दर्शन औपनिषदिक आध्यात्म दर्शन से पृथक् नहीं है, फिर भी मतमतान्तरों के गर्भ में कुछ चैन्तनिक तत्व विकसित हुए ही हैं और इस काल की कविता पर उनका प्रभाव भी आया है।

शैवमत से सम्बन्धित मध्यकालीन हिन्दी कविता को एकदम आध्यात्मिक स्तर पर रखकर देखना अनुचित होगा क्योंकि इस काल में भक्ति का दोरदोरा अधिक रहा। इसलिए शैव दर्शन को भक्ति के परिपार्श्व में रख कर देखना ही अधिक समीचीन होगा, जिसमें योग दर्शन का भी पुट है।

भक्तिकाल की दार्शनिक परम्परा को पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने तीन पहलुओं से देखा है—संतकाव्य परम्परा, सूफी काव्य परम्परा और सगुण काव्य परम्परा। इन सभी परम्पराओं में शिव के दो रूप मान्य रहे हैं—एक तो उनका निराकार रूप है और दूसरा साकार।

निराकार शिव

इस युग की दार्शनिक पृष्ठभूमि ब्राह्मण धर्म की दो प्रमुख शाखाओं—वैष्णव और शैव से पुष्ट हो रही थी। वैष्णव धारा में राम और कृष्ण की सगुण भक्ति की प्रधानता थी। यद्यपि शैव धारा में शिव की सगुण भक्ति की कमी नहीं थी तथापि इसका दर्शन और योग से अधिक सम्बन्ध था। इसी कारण इस युग के सन्तों के दार्शनिक विचार और सत्यान्वेषण पर शैवमत का परोक्ष प्रभाव ही दिखलाई पड़ता है।

अलख

उपनिषदों ने परमात्मा को निराकार और साकार दोनों रूपों में निरूपित किया है। निराकार की मान्यता का प्रवाह पाशुपतों की गोरखपंथी शाखा में बड़े जोर से चला और फिर यह सन्तों में भी चला आया। जिस प्रकार गोरखनाथ ने निराकार को 'अलख,' संज्ञा से अभिहित किया उसी प्रकार कबीर आदि ने भी। गोरख ने अपनी बानी में कहा है :—

अलख बिनांणी दोई दीपक रचिले तीन भवन इक जोती।
तास बिचारत त्रिभुवन सूझै, चूंणिल्यो माँणिक मोती ॥[1]

कबीर की बानी में भी कहा गया है, 'मन की माला' तन की मेखला तथा भय की भस्म का अंदलेपन करनेवाले अवधूत को 'अलख' मिलते हैं[2]। एक अन्य स्थल पर कबीर कहते हैं—

---

१. गोरखबानी, पृ० ३।
२. संतबानी संग्रह—भाग १, कबीर—पृ० २९

'निराकार की आरसी, साधों ही की देह
लखा जो चाहे अलख को, इनही में लखि लेह ।।'

यह 'अलख' मुनियों के लिए भी अगम है, [१] उसके भेद को कोई नहीं जान पाता :—

'गण गंधर्व मुनि अन्त न पावा,
रह्यो 'अलख' जग धंधे लावा । [२]'

सन्त मलूकदास की वानी में कहा गया है—

'अलख पुरुष जिन ना लख्यो, छार परो तेहि नैन' [३]

दूलनदास भी 'अलख' पुरुष का वर्णन करते हुए कहते हैं कि सुसंगति और माया मोह के त्याग से, तथा गुरु की कृपा से ही 'अलख' के दर्शन होते है । [४] 'अलख' (शिव) का सान्निध्य सन्तों का लक्ष्य रहा है । उन्होंने 'अलख' को अपनी वानी में सर्वोपरि स्थान दिया है । संत चरनदास का प्रीतम भी यही 'अलख' है । इनकी वानी में कहा गया है :—

'भटकत भटकत जनमे हारी, चरन सखी गहे आय
सुकदेव साहिब किरपा करिके, दीन्हां अलख लखाय । [५]

सहजोवाई भी शिव का गुणगान करती हुई कहती हैं—

'कहा कहु कहा कहि सकूं, अचरज अलख अभेव' [६]

दयावाई ने 'अलख' (शिव) को अजर, अमर, अविनाशी, आनन्दमय और आनन्दप्रदाता कहा है । [७] यही 'अलख' संतों का 'शिव' है ।

संतों के परमेश्वर निराकार, गुणातीत और अगम्य हैं । संत भीखा साहव की वानी में कहा गया है—'अलख लखन किन पाए । [८], यह 'अलख' अविगत है । मन और बुद्धि से परे है ।

---

१. संतबानी संगह, भाग १ कबीर— पृ० २६ ।
२. श्याम सुन्दर दास द्वारा सम्पादित—कबीर ग्रंथावली, पृ० २३० ।
३. मलूकदास, संतबानी संग्रह, भाग १. पृ० १०१ ।
४. पूलनदास, संतबानी संग्रह, भाग २, पृ० १६० ।
५. चरनदास, संतबानी संगह भाग २ पृ० १८० ।
६. संतबानी संग्रह, भाग १, पृ० १६५ ।
७. दयाबाई, संतबानी संग्रह भाग १, पृ० १८० ।
अजर अमर अविगत अमित, अनुभय अलख अभंव ।
अविनासी आनन्दमय, अभय सो आनन्द देत ।
८. भीखा साहब, संतबानी संग्रह, भाग २, पृ० २१० ।

जिस प्रकार संतों ने परमात्मा को निराकार माना है और उसको शैवों के प्रभाव से अलख शब्द से अभिव्यक्त किया है उसी प्रकार प्रेम मार्गी सूफियों ने भी इस प्रभार को ग्रहण किया है। जायसी ने कहा है—

'अलख अरूप अबरन सो कर्त्ता, वह सब सों, जब ओहि सों वर्त्ता।'[1]

मध्यकालीन सगुण भक्त कवियों ने यद्यपि सगुण भक्ति को प्रधानता दी है फिर भी उन्हें निर्गुण भक्ति मान्य रही है। तुलसीदास ने निर्गुण परमेश्वर को अलख शब्द से सम्बोधित करते हुए कहा है—राम ब्रह्म परमारथ रूपा, अविगत अलख अनादि अनूपा।[2]

रीतिकालीन रीतिभुक्त एवं रीतिमुक्त कवियों को निराकार शिव अथवा परमेश्वर की अपेक्षा सगुण परमेश्वर अधिक आकर्षक रहे हैं। अतः उन पर शैव-दर्शन का प्रभाव नहीं के समान रहा है। हिन्दी काव्य में आने से पूर्व 'निरंजन' शब्द अनेक सम्प्रदायों में प्रचलित हो चुका था। उनमें से सिद्धों के सिद्धान्तों जैनों और शैवयोग में इसका प्रामुख्य था।

संत काव्य में प्रयुक्त 'निरंजन' शब्द भी निराकार शिव का वाचक है।

निरंजन

निरंजन ही ईश्वर है। गोरखनाथ ने 'निरंजन' शब्द का विस्तृत विश्लेषण किया है। उसकी वानी में कहा गया है—'नाथ निरंजन आरती गाऊं।'[3] ये निरंजन ब्रह्मरंध्र में विद्यमान हैं। निरंजन से सान्निध्य पांच तत्वों के आधीन करने पर ही हो सकता है—

"पंच तत्व सिघा मुडाया, तव भेटिले निरंजन निराकार।"[4]

मायोन्मुक्त जीव ही निरंजन प्रभु का शरीर है।[5] वस्तुतः निरंजन अमूर्त हैं, उनकी कला अनन्त है, जिसका पार कोई नहीं पा सकता। संतकाव्य में 'निरंजन' शब्द का प्रयोग उक्त परम्परा के प्रभाव का परिणाम है।

संत कबीर का 'निरंजन' सत्य स्वरूप है जिसकी परम्परा उनको नाथों से मिलती है। कबीर की बानी में 'निरंजन' को अलख और निराकार कहा है—'अलख निरंजन लखे न कोई, निरभै निराकार है सोई।"[6]

---

१. पदमावत, जायसी ग्रंथावली, पृ० ३।

२. रामचरित मानस—बालकाण्ड, पद २८५, पृ० २६५।

३. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, गोरखबानी, पृ० १५७।

४. वही, पृ० २७।

५. वही, पृ० १६।

६. कबीर ग्रन्थावली—श्यामसुन्दरदास द्वारा सम्पादित, पृ० २३०।

एक अन्य स्थल पर कबीर ने निराकार, निर्विकार एवं निर्लेप निरंजन का विशद चित्र प्रस्तुत किया है:—

"अलह अलख निरंजन देव, किहि विधि करों तुम्हारी सेव"[१]

कबीर 'निरंजन' को अखण्ड एवं व्यापक मानते हैं, उसकी गति शरीर और मन दोनों में है—"अलख निरंजन सकल शरीरा, तन मन सों मिल रह्या कबीरा।[२]"
कबीर का निरंजन जन्मदाता तथा विधाता भी है—

"कहे कबीर सरबस सुखदाता, अविगत अलख अभेद विधाता"[३]

यही उसकी विलक्षणता है, उसका 'अलख' स्वरूप आनन्दमय है। यह आनन्द पराश्रित नहीं है—

"तहां न ऊगे सूर न चंद, आदि निरंजन करे अनन्द"[४]

गुरु नानक ने निरंजन का वर्णन करते हुये कहा है—

"जिस राखे तिस कोइ न मारे, सो मूआ जिस मनों विसारे
तिस तजि अवर कहां को जाय, सब सिर एक निरंजन राय"[५]

निरंजन ही पूज्य हैं, उनकी शरण ही अभय प्रदान करती है। दादू का निरंजन सर्वव्यापी है, उसकी स्थिति मन में भी है—

"काठ हुतासन रह्या समाइ, त्यूं मन माँहि निरंजन राइ।"[६]

संत मलूकदास ने भी 'निरंजन' को निराकार और अविगत तथा अलख माना है।[७] गरीबदास के 'निरंजन' यम की यातनाओं को मिटाने वाले, निर्गुण परमेश्वर हैं। इनकी वानी में कहा गया है—

"निर्गुण नाम निरंजना, मेटत है जम दण्ड"[८]

१, श्यामसुन्दरदास द्वारा सम्पादित, कबीर ग्रन्थावली, पृ० १९९।
२. वही, पृ० १०४।
३. वही, पृ० ५०।
४. वही, पृ० १९९।
५. गुरु नानक-संतबानी संग्रह, भाग २, पृ० ५१।
६. संतबानी संग्रह भाग २, पृ० ५१।
७. "नमो निरंजन निरंकार, अविगत पुरुष अलेख"
मलूकदास, संतबानी संग्रह, भाग १, पृ० १०२।
८. गरीबदास, संतबानी संग्रह भाग १, पृ० १६५।

गरीबदास ने 'निरंजन' को 'पुरंजन' भी कहा है और इस नाम से उनके गुणों का भी विस्तृत वर्णन किया है। इनकी बानी में कहा गया है कि 'पुरंजन' का साक्षात्कार होने पर 'मन' की सब फौजें धंस जाती हैं, जीवात्मा मल रहित हो जाता है।[१]

शैवमत के अोघड़ सन्त कवियों ने 'निरंजन' को त्रिगुणात्मक जगत् और माया का स्वामी माना है, उसे काल निरंजन भी कहा है। संत नारायण दास ने अपने पदों में काल निरंजन का विशद वर्णन किया है। वे कहते हैं "काल निरंजन निरगुन राई, तीन लोक जेहि फिरे दोहाई।"[२] संत किनाराम ने 'निरंजन' को निर्भय, दुख सुख और कर्मविकार से परे तथा पूर्ण माना है।[३]

'निरंजन' शब्द का प्रयोग 'संज्ञा' के रूप में तो हुआ ही है, उसका विशेषण के रूप में भी प्रयोग मिलता है।[४] निरंजन की चर्चा समाप्त करने से पूर्व यह बतला देना आवश्यक प्रतीत होता है कि भारतीय दर्शन, शैव-मत के प्रभाव के कारण, इस शब्द से भलीभांति परिचित है और निराकार शिव के वाचक रूप में ही इसका प्रयोग उसमें होता रहा है। योग के ग्रन्थों में तो उसका प्रचुर प्रयोग हुआ है।

सगुण भक्त कवि तुलसीदास ने भी परमेश्वर के लिये निरंजन शब्द का प्रयोग किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि सगुण भक्त कवि भी शैवों की परंम्परा से प्रभावित रहे हैं। एक स्थान पर तुलसी ने कहा है—

"निर्मम निराकार निरमोहा, नित्य निरजन सुख संदोहा"[५]

भक्त मीरा भी परमेश्वर के निर्गुण रूप की उपासना में अपना विश्वास प्रकट करती हुई कहती हैं—

"जाको नाम निरंजण कहिये, ताको ध्यान धरुंगी"[६]

---

१. गरीबदास, सतबानी संग्रह भाग १, पृ० १९७।

२. नारायणदास–हस्तलिखित ग्रन्थ, पृ० १।

३. 'निर्मल नाम निरंजना निर्मल रूप अपार
निरभे में जंह नाहि ने दुख सुख कर्म विकार"
—किनाराम-रामगीता, पृ० ६–७।

४. 'एक निरंजन अलह मेरा' —कबीर ग्रन्थावली, पृ० २०२।

५. रामचरितमानस–उत्तरकाण्ड, पृ० १०४।

६. परशुराम चतुर्वेदी-मीराबाई की पदावली, पृ० ५३।

मीरा ने निरंजन परमेश्वर को 'जोगिया' शब्द से भी सम्बोन्धित किया है जिससे स्पष्ट है कि शैवमत का उन पर प्रभाव रहा है। मीरा का कथन है—

"जोगिया जी आओ ने या देश
नेणज देखूं नाथ मेरो, ध्याइ करूं आदेस।"[1]

केशवदास ने परमेश्वर को ज्योति स्वरूप निरीह और निरंजन मानते हुए कहा है—

"ज्योति निरीह निरंजन मानी"[2]

शून्य

सन्तों की बानी में ईश्वर 'निराकार' 'शून्य' अभिधा से भी व्यक्त किए गए हैं, जिसकी एक परम्परा है। 'शून्य' आकाश का बोधक है। आकाश को शिव-पद कहा गया है जिसे साहित्य और दर्शन दोनों स्वीकार करते हैं। सच तो यह है कि आकाश और निराकार शिव में कोई तात्विक भेद नहीं है, दोनों एक हैं। इसी शून्य में, जो शिव का वास है, शक्ति का समावेश होता है। अतएव शक्ति समन्वित शिव भी 'शून्य' से अभिन्न हैं। यह उक्ति कुछ नवीन नहीं है। कबीर भी ऐसी बात कह चुके थे—

"शक्ति अधेर जेवड़ी भ्रम चूका निहचल सिव घर बासा"[3]

इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि शिव और शक्ति का संयोग 'शून्य' में होता है। इस स्थिति में शिव और शक्ति का एक्य ही सिद्ध नहीं होता, वरन् उसकी शून्यता भी सिद्ध होती है।

आस्तिक दर्शनों[4] में यह सकल सत्ता का वाचक माना गया है। बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन ने शून्य पर बड़े विस्तार से विचार कर, उसका प्रयोग द्वैताद्वैत विलक्षण तत्त्व के रूप में किया है। गोरखनाथ[5] ने शून्य के अर्थ को और भी अधिक व्यापकता देकर उसका द्वैताद्वैत विलक्षण 'शब्द' के रूप में वर्णन किया है। वे उसे परमात्मा रूप भी मानते थे। इसलिए शून्य[6] को कर्त्ता,

१. परशुराम चतुर्वेदी—मीराबाई की पदावली, पृ० ४२।
२. केशवदास-रामचंद्रिका, पृ० २५।
३. कबीर ग्रन्थावली—परिशिष्ट, पृ० २९१।
४. बलदेव उपाध्याय-भारतीय दर्शन, पृ० १९६।
५. गोरखबानी, पृ० १।
६. वही, पृ० १९५।

भर्ता और संहर्ता कहा है। नाथ पंथ में शून्य की कल्पना बौद्धों की परम्परा से आयी ज्ञात होती है। सन्तों की शून्य सम्बन्धी धारणाएं बौद्धों और नाथों की पृष्ठभूमि पर, कुछ मौलिकता लिए हुए विकसित हुई हैं। संत कबीर कहते हैं—

"जैसे बहुकंचन के भूषन, ये कहि गालि तवांवहिगे
ऐसें हम लोक वेद के विछुरें, सुंनिहि मांहि समांवहिगे।"[1]

एक अन्य स्थल पर कबीर 'सुनि' का प्रयोग साध्य और साधक आत्मा के लिए एक साथ ही करते हैं—

"सुन्नहि सुन्न मिला समदर्शी पवन रूप हुई जावेंगे।"[2]

कबीर ब्रह्म को स्थूल और शून्य दोनों रूपों से रहित मान कर 'शून्य' शब्द में 'सूक्ष्म' अर्थ की प्रतिष्ठा करते हैं—

"वेद विवर्जित भेद विवर्जित, विवर्जित पापरु पुन्य
ग्यांन विवर्जित ध्यान विवर्जित, विवर्जित अस्थूल सुन्यं"[3]

शून्य को कर्ता, भर्ता और संहारकर्ता ध्वनित करते हुए संत दादू कहते हैं—

"सुंनहि मारग आईया, सुंनहि मारग जाई"[4]

एक अन्य स्थल पर 'सुन्न' की साधना में ही आत्मा को केन्द्रित होने का आदेश देते हुए दादू कहते हैं—

"सहज सुन्नि मन राखिए इन दून्यूं के मांहि
ले समाधि रस पीजिए, तहां काल भय नाहीं"[5]

संत गुलाल कहते हैं—"सुनहिं सकति समाइल शिव के पर शक्ति निवास।"[6]

सन्तों ने 'अलख', 'निरंजन', और शून्य का ब्रह्म वाचक रूप में प्रयोग कर शैवमत के प्रभाव को प्रमाणित किया है। इतना ही नहीं मध्यकालीन हिन्दी निर्गुण काव्यधारा के सन्त बुल्ला ने ब्रह्म के लिए 'शिव'[7] और सन्त

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १३७।
२. वही, पृ० २७१।
३. वही, पृ० १६२।
४. दादू साहब की बानी, पृ० ८६।
५. वही, पृ० ९०।
६. गुलाल साहब की बानी, पृ० ४६।
७. अनहद ताल दृग थेई थेई बाजे सकल भुवन को जोति बिराजे।
ब्रह्मा विष्णु खड़े शिव द्वारे, परम जोति सूँ करहि जुहारे॥
—बुल्ला साहब, संतबानी सग्रह भाग २, पृ० १७३।

पलटू ने 'सालिग्राम'[1] शब्द का प्रयोग कर इस प्रमाण की पुष्टि ही की है।

प्रेममार्गी सूफी कवि जायसी ने भी 'सुन्न' शब्द का प्रयोग निराकार परमेश्वर के लिये किया है। अखरावट से कहा गया है—

"सुन्नहि तें है सुन्न उपाती सुन्नहि तें उपजहि बहु भांति"[2]

शब्द .. इसके अतिरिक्त मध्यकालीन हिन्दी कविता में निराकार ब्रह्म की अभिव्यक्ति के लिए 'शब्द' का प्रयोग भी हुआ है। 'शब्द की प्रतिष्ठा उपनिषदों[3] में पाई जाती है। शब्द वाद की प्रतिष्ठा साधना के रूप में पतंजलि[4] के योग दर्शन में मिलती है। इस शब्दाद्वैत का प्रभाव आध्यात्मिक पक्ष पर मी पड़ा। इसका सम्यक् विकास और विस्तार नाथ पंथ[5] में दिखलाई पड़ता है। शैव शब्दाद्वैतवादियों के सदृश सन्तों[6] ने योग की भूमिका में 'शब्द' को सर्वस्व माना है और निराकार ब्रह्म-वाचक अन्य शब्दों के समानार्थ में ही शब्द का प्रयोग किया है।[7] कबीर शब्द की साधना में विश्वास करते हुए कहते हैं—

"साधो शब्द साधना कीजै।
जेहि शब्द से प्रकट भये सब, सोई शब्द गहि लीजै।।[8]

कबीर इस शब्द को सर्वत्र व्याप्त मानते हैं:—

"कबीर शब्द सरीर में, बिनि गुण बाजै तांति।
बाहरि भीतरि भरि रह्या, ताथे छूटि भरांति।।[9]"

---

१. जल पषान के पूजते, सरे न एको काम।
पलटू तन करु देहरा, मन करु सालिगराम।।
—पलटू साहब, संतबानी संग्रह भाग १, पृ० २२१।
२. जायसी ग्रन्थावली, अखरावट, पृ० ३२४।
३. कठोपनिषद १।२।१६, प्रश्नोपनिषद ८।२।
४. पातंजल योगसूत्र १।२७।
५. गोरखबानी, पृ० २०७।
६. दादू साहब की बानी, भाग १, पृ० १६६।
७. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ६३।
८. हजारीप्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ० २६८।
९. श्यामसुन्दर दास, कबीर ग्रन्थावली, पृ० ६३।

शब्द के ज्ञान से ही भ्रांति समाप्त हो जाती है। दादू की बानी में कहा गया है–

"सबदे बांध्या सब रहे, सबदे ही सब जाय।
सबदे ही सब उपजै, सबदे सबै समाय॥"[1]

इनके अनुसार 'सबद' से सब बंधे हैं। संत दरिया (बिहार वाले) शब्द रूप निराकार परमेश्वर की पुष्प में सुगन्ध के समान घट–घट में व्यापकता मानते हैं।[2] संत चरनदास 'अनहद नाद' के अभिधान से शब्द का वर्णन करते हुए कहते हैं—

"अनहद शब्द अपार दूर सूं दूर है
परमातम तेही मान, वही पर ब्रह्म है"[3]

उनका हृदय 'शब्द' रूप परमात्मा के आनन्द को प्राप्त कर चकित हो जाता है—"मतवारे ज्यों सबद समाये, अंतर भींज कनी"[4] संत रज्जब "शब्द" की अलौकिकता का वर्णन करते हुए कहते हैं:—

"सकल पसारा शब्द का, शब्द सकल घट मांहि।
रज्जब रचना राम की, शब्द सुन्यारी नांहि॥
षड्दर्शन खालिक खलक, सत्य शब्द के मांहि॥[5]

तुलसी साहब निर्गुण शब्द–औंकार का वर्णन करते हुए कहते हैं:—

"निर्गुण शब्द वेद बतलावे, सोहं काल ओंकार कहावे[6]"

हिन्दी की निर्गुण काव्य धारा में उपर्युक्त शब्द का वर्णन गोरखनाथ के द्वैताद्वैत विलक्षण शब्द ब्रह्म के अनुरूप है। 'शब्द' रूप परमेश्वर का वर्णन करते हुए गोरखनाथ की बानी में कहा गया है:—

"सबदे ताला सबदे कूंची सबदैं सबद जगाया
सबदे सबद सूं परचा भया, सजदे सबद समाया"[7]

---

१. परशुराम चतुर्वेदी, संतकाव्य-दादूसाहब, पृ० १३९।
२. दरिया साहब, संतबानी संग्रह, भाग १, पृ० १२२।
३. चरनदास–संतबानी संग्रह भाग १, पृ० १६६।
४. परशुराम चतुर्वेदी–चरनदास–संतकाव्य, पृ० २९६।
५. वही, रज्जब, पृ० ३८१।
६. तुलसीसाहब, संतबानी संग्रह भाग १, पृ० १७३।
७. गोरखबानी, पृ० ८।

हिन्दी साहित्य के मध्यकाल की दार्शनिक विचारधारा अनेक धार्मिक आन्दोलनों की प्रतिक्रियाओं का परिणाम है। सभी धर्मों में अपरिलक्षित रूप से चिन्तन क्षेत्र में भी आदान प्रदान हो रहा था। सगुणकाव्य के इधर उधर भी एक शैव वातावरण था और वे शब्द जो वैदिक काल से पाशुपतों, गोरख-पंथियों और संतों में निराकार के लिए चल रहे थे, सगुण कवियों में भी प्रवाहित रहे। सूर, तुलसी, मीरा आदि ने उपनिषद् की परम्परा के अनुकरण में ईश्वर के दोनों रूप (सगुण और निर्गुण) स्वीकार किए। परमेश्वर का रूप भक्ति की अक्षय सम्पत्ति रहा है किन्तु निर्गुण रूप भी मान्य रहा है, चाहे उसको व्यवहार की पुष्टि न मिली हो, जिसका विवेचन अन्यत्र भक्ति के प्रभाव के अन्तर्गत किया गया है। प्रभु के निर्गुण स्वरूप को व्यक्त करते हुए सूरदास कहते हैं—

"सब्दहि शब्द भयो उजियारो, सतगुरु भेद बतायो।[1]"

केशव ने भी कहा है कि ईश्वर सर्वत्र व्यापक है। भीतर बाहर सर्वत्र उसकी गति है। कुछ लोग उसे निर्गुण और कुछ उसे सगुण मानते हैं—

"निर्गुण एक तुम्हें जग जाने, एक सदा गुणवन्त बखाने"[2]

निर्गुण का गुणगान करते हुए इन्होंने कहा है:—

'तेज पुंज निर्गुण उजियारा
कह केसो सोइ कंत हमारा।[3]"

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मध्यकालीन हिन्दी कविता में निराकार-प्रभु-निर्गुण-शिव साधना में प्रतिपाद्य बने रहे। "अलख" 'निरंजन' 'शब्द' और 'शून्य' नाम से सन्तों ने निराकार की महिमा का गान किया है, उन्होंने शिव को शालिग्राम, सत्, जोति, निराकार और साधन नामों से भी सम्बोधित किया है। अतः यह कहा जा सकता है कि ब्रह्म वाचक संज्ञा और अन्य विशेषण निराकार शिव की महत्ता और व्यापकता को प्रगट करने के लिए प्रयुक्त हुए हैं। मध्ययुगीन हिन्दी कवियों ने शिव को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सक्रिय, गुणातीत, नित्य और निरंजन मान कर शैवमत के प्रभाव को ही स्वीकार नहीं किया है अपितु शिव की उद्भव शक्ति को भी स्वीकार किया है।

---

१. सूर विनय पत्रिका, पद २८५, पृ० २६५।
२. रामचन्द्रिका, २०—१५।
३. संतबानी संग्रह—भाग २, पृ० १७६।

शिव की शक्ति

शैव ग्रन्थों में शिव की बीज शक्ति का नाम माया कहा गया है। शिव की शक्ति माया शिव से भिन्न नहीं है।[1] इन दोनों का सम्बन्ध अग्नि और उसकी ज्वलन शक्ति जैसा ही घनिष्ट है।[2] मध्यकालीन कवियों ने भी शैवमत की इस परम्परा से प्रभावित हो माया को प्रभु की अभिन्न शक्ति कहा है। संत गुलाल साहब की बानी में शिव की माया का वर्णन करते हुए कहा गया है—

"प्रभु तेरी माया अगम अपार[3]"

चरनदास की बानी में भी शिव और माया के सम्बन्ध को मेंहदी और उसके रंग, पुष्प और उसकी सुगन्ध के समान माना है—

"मेंहदी में रंग, गन्ध फूलन में ऐसे ब्रह्मरु माया[4]"

माया और शिव की अभिन्नता मध्यकालीन दार्शनिक विचाराधारा का विवेचनीय विषय रही है, जिसका प्रभाव मध्यकालीन कवियों पर स्वाभाविक है।

शैवमत के अनुसार माया के दो भेद—परा और अपरा हैं।[5] परा को विद्या और अपरा को अविद्या कहा गया है। परा के प्रभाव से जीव मोक्ष प्राप्त करता है और अपरा के प्रभाव से वह भ्रमजाल में फंसता है।[6] संत कबीर ने भी माया के दो भेद स्वीकार किए हैं—

"माया दुइ भांतिकी, देखी ठोंक बजाय।
एक मिलावे नाम से, एक नरक ले जाय[7]"

---

१. न शिवः शक्ति रहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी
शिवः शक्तस्तथा भगवान् इच्छया कर्तु भीहते
शक्ति शक्ति मतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते।
—सोमानन्द–शिव दृष्टि–३।२।३।

२. सौर पुराण ३।१८–१९।

३. परशुराम चतुर्वेदी–संतकाव्य, पृ० ३७८।

४. परशुराम चतुर्वेदी–संतकाव्य संग्रह, पृ० ४७२।

५. (क) ईश्वर प्रत्यभिज्ञा ३।१।३।
(ख) शिवसूत्र

६. देखिये–इसी अभिलेख का द्वितीय अध्याय, पृ० ४२।

७. संतबानी संग्रह भाग १, पृ० ५८।

यहाँ कबीर का संकेत माया के दो भेद–परा तथा अपरा की ओर है। कबीर का सम्पर्क नाथ सम्प्रदाय से भी रहा है। बहुत कुछ सम्भव है कि कबीर को यह विचारधारा नाथों से प्राप्त हुई हो।

यह ठीक है कि सूफियों का सम्पर्क नाथपंथी योगियों से रहा था, जिससे इनके दर्शन में माया के नाम का प्रवेश तो हुआ किन्तु माया के दो रूपों को ये लोग न देख सके। इन्होंने माया के केवल आवरण रूप को देखा।

दर्शन के तात्विक आधार कुछ अन्तर के साथ सभी सम्प्रदायों में मान्य रहे हैं। तुलसीदास सीता को राम की शक्ति के रूप में (माया रूप में) ग्रहण करते हुए उद्भव, स्थिति, एवं संहरकारिणी मानते हैं।[1]

विद्या शक्ति जीवात्मा को शीतल छाया प्रदान करती है— "प्रभु प्रेरित व्यापे तेहि विद्या[2]" इसी विद्या के द्वारा भगवान् के पास पहुँचा जा सकता है।[3] केशवदास ने भी माया के विद्या स्वरूप को माना है—"अनु माया अक्षर सहित देखि,[4] "विद्या माया का सम्बन्ध अक्षर से रहता है। केशव की यह दार्शनिक विचारधारा शैवधर्म के अनुरूप है। अतः यह कहा जा सकता है कि केशव भी शैवमत से प्रभावित रहे होंगे।

माया का दूसरा भेद अपरा अथवा अविद्या है। इसकी दो शक्तियाँ हैं—आवरण तथा विक्षेप। आवरण का कार्य असली स्वरूप पर पर्दा डाल देना है तथा विक्षेप का कार्य उस पर दूसरी वस्तु का आरोप करना है। आवरण भ्रमोत्पादक है, जिससे जीवात्मा जड़ और चेतन के सत्य स्वरूप को भूल जाता है।[5] वह भ्रमजाल में फंस कर मोक्ष मार्ग से विमुख होता है। शैव दर्शन की इस मान्यता का प्रभाव सत्यान्वेषी सन्तों पर, नाथ पंथ के द्वारा आना स्वाभाविक था। मध्यकालीन हिन्दी काव्य में माया की आवरण और विक्षेप शक्ति का विशद वर्णन है।

संत कबीर कहते हैं कि माया ने सब को बांध रखा है। जीवात्मा

---

१. मानस–बालकाण्ड मंगलाचरण श्लोक।
२. मानस–सुन्दरकाण्ड १४७। ३,४।
३. विनयपत्रिका, पद ४१।
४. रामचन्द्रिका–१३–८१।
५. देखिए इसी अभिलेख का द्वितीय अध्याय पृ० ४६, ५८।

मायात्मक भ्रांतिज्ञान के कारण, माया के प्रसार को सत्य मान कर उसमें लिपट जाता है—

"दुनियां भांडा दुख का भरि"[1]

संसार का यह दुख मायाकृत है। माया में लिपटे रहने के कारण, दुख में पड़ा हुआ जीवात्मा उसे समझ नहीं पाता। वह इस दुख को ही सुख मानने लगता है—

"सुखिया सब संसार है खावे अरु सोवे।"[2]

अज्ञानात्मक आवरण हटने पर ही उसे समझा जा सकता है।

माया ही विषयवासनाओं को जन्म देती है। माया का दूसरा नाम अज्ञान भी है। दर्पण पर काई के समान आत्मा पर अज्ञान का आवरण पड़ जाता है, जिससे आत्मज्ञान दुर्लभ हो जाता है। कबीर कहते हैं कि माया की "झक" से सारा संसार जल रहा है—

"माया के झक जग जरे"[3]

माया के आवरण को स्वीकार कर दादू कहते हैं:—

"झूंठा सांचा करि लिया, विष अमृत जाना
दुख कों सुख सब को कहे, ऐसा जगत दीवाना[4]"

यह माया की आवरण और विक्षेप क्रिया का ही परिणाम है, जिससे जीव असत्य को सत्य मानकर, दुख को सुख समझकर अपना लेता है। जग-जीवन साहब कहते हैं—"माया रच्यो हिंडोलना, सब कोई झूल्यो आय।[5]" माया का आवरण इतना पुष्ट है कि सभी इसमें आत्मतत्व को भूल जाते हैं। मध्यकालीन संतों पर यह प्रभाव नाथ पंथ के द्वारा, शैवदर्शन से, आया प्रतीत होता है। शैव दर्शन में माया की आवरण और विक्षेप शक्ति को स्वीकार किया गया है।

---

१. कबीर ग्रन्थावली–पृ० २२।
२. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १०।
३. संतबानी संग्रह–भाग १, पृ० ५८।
४. वही, पृ० ६०।
५. वही, पृ० १०६।

माया की आवरण शक्ति को सूफियों ने भी स्वीकार किया है। जायसी ने कहा है—

"बालक दर्पण हाथ, मुख देखे, दूसर गने[१]"

जीवात्मा माया की आवरण विक्षेप शक्ति के कारण अपने को परमेश्वर से भिन्न समझता है। माया की आवरण शक्ति निर्गुण सत्ता के वास्तविक स्वरूप को छिपा लेती है और विक्षेप शक्ति उसके स्थान पर नाना रूप का आभास कराती है।

सूफी कवि नूर मुहम्मद ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि माया के आवरण से मनुष्य योग का त्याग कर देते हैं— "तासों माया के बस बहुत लोग। जोग न चाहे कीन्हों, चाहें भोग[२]"। पंचेन्द्रिय जनित भोग मनुष्य की बुद्धि को सब तरफ से घेरे रहता है। ये पांचों अपनी अपनी बार उसे नचाते हैं। उसमान ने कहा है—

"जोगी परा पांच बस सातें मा विकरार
पांचों नाच नचावहिं आपनी आपनी बार[३]"

सूफी काव्य में माया की शक्ति का यह वर्णन नाथ पंथ से आया प्रतीत होता है। प्रत्येक सूफी प्रेमाख्यान में शिव की प्रतिष्ठा है, जिससे उन पर शैव-मत का, कथा, प्रसंग और दर्शन का, प्रभाव प्रकट होता है।

विवेचनीय युग के भक्त कवियों ने अविद्या की आचरण और विक्षेप शक्ति को स्वीकार किया है। सूरदास का कहना है कि माया जीव पर आचरण का कार्य करती है—

"महामोहिनी मोहि आत्मा, अपमारग ह्री लगावै[४]"

तुलसी ने भी माया की आवरण शक्ति का विवेचन करते हुए कहा है कि माया सब जग को बनाती है, उसके चरित्र को कोई नहीं जान पाया है। वह नट के समान अनेक रूप धारण कर जीवों को मोहित करती है:—
"जथा अनेक वेष धरि नृत्य करे नट कोय[५]"

---

१. जायसी–अखरावट, पृ० ३३२।
२. नूरमुहम्मद–अनुराग बांसुरी।
३. उसमान–चित्रावली, पृ० १३१।
४. सूर विनय पत्रिका–पृ० ४८।
५. मानस–उत्तरकाण्ड, पृ० ७२।

माया की नट क्रिया से जीव असत्य को सत्य समझ लेता है। अविद्या के अज्ञानजन्य आवरण को सत्य मान कर जीव सुख और दुख अनुभव करता है।

केशव ने भी अविद्या को मोह की सहचरी कहा है। उनके अनुसार जीवात्मा में संभ्रम, विभ्रमादि इसी आवरण से उत्पन्न होते हैं। यही अविद्या जीव बन्धन का कार्य करती है।[1] मध्ययुगीन हिन्दी कविता की सन्त, सूफी और सगुण काव्य धारा में माया की आवरण और विक्षेप शक्ति के अनेक उदाहरण खोजे जा सकते हैं। इस युग की रीति प्रधान काव्य धारा का लक्ष्य आचार्यत्व एवं शृंगार वर्णन था अतएव रीतिकालीन कविता के दो रूप सामने आते हैं—रीतिमुक्त काव्य एवं रीतिभुक्त काव्य। रीतिमुक्त काव्य पर शैवमत के प्रभाव की गवेषणा करना व्यर्थ है। हाँ रीतिभुक्त काव्य पर शैवमत का प्रभाव अवश्य परिलक्षित होता है किन्तु निराकार शिव या माया सम्बन्धी चिन्तना का वहां भी अभाव है क्योंकि वहाँ सगुण शिव ही को सम्मान मिला है जिसके सम्बन्ध में प्रभाव की विवेचना भक्ति के अन्तर्गत की गयी है।

शिव, जीव और जगत्

अन्यत्र कहा गया है कि शैवों में जिस प्रकार अद्वैतमत की मान्यता है उसी प्रकार द्वैतमत की भी। विशिष्टाद्वैत में न तो अद्वैत की मान्यता है और न द्वैत की, वह दोनों के बीच का मत है। शैवों ने इसको भी माना है। इन सिद्धान्तों के अतिरिक्त उन्होंने द्वैताद्वैत को भी माना है। शैवों की दार्शनिक परम्परा नवीन नहीं है, एक प्राचीन चिन्तना है। अद्वैतवाद के अन्तर्गत आत्मा और शिव तथा शिव और जगत् का अभेद, दोनों पक्ष विवेचनीय हैं। जीवों की अनेकरूपता या वहुरूपता मिथ्या है। जगत् की पृथक् सता भी भ्रममात्र है। जीव और जगत् दोनों में शिव विद्यमान है। संत कवियों ने इसी अद्वैत सिद्धान्त को स्वीकार किया है। कबीर, दादू, मलूक आदि परमात्मा और जीवात्मा, परमात्मा और जगत् में भेद नहीं मानते।

"एकमेक रमिरह्या सबनि में[2]" कह कर कबीर जीवात्मा और पर—

---

१. रामचन्द्रिका—२५—२६।

२. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १०५।

अद्वैतवाद

मात्मा के अभेद को ही सिद्ध करते हैं। इस अभेद की सिद्धि के लिए संशय या भ्रम के मिटने की आवश्यकता है—"संसो मिथ्यो एक को एकै।[१]" शिव और जीव तथा शिव और जगत् के अभेद को मान कर कबीर की बानी में कहा गया है—"जेती देषों आत्मा, तेता सालिगराम।[२]" उनके अनुसार "जीव महल में शिव पहुँनवाँ[३]" है। शिव और जगत् की अद्वैत अवस्था को प्रगट करते हुए कबीर की बानी में कहा गया है कि समस्त जगत् में प्रभु ही विविध रूपों में भासित हैं—

"एकै पवन एक ही पानीं, एक जोति संसारा
एक ही खाक घड़े सब भांडे, एक ही सिरजनहारा
सब घट अन्तर तूही व्यापक, धरै सरूपै सोई"[४]

शिव और जीव की अद्वैत अवस्था का प्रतिपादन करते हुए दादू की बानी में कहा गया है—

"रोम रोम में रमि रह्या, सो जीवनि मेरा
जीव पीव न्यारा नहीं, सब संगि बसेरा"[५]

एक अन्य स्थल पर शिव और जगत् की एकता बतलाते हुए दादू कहते हैं कि यह जगत् शिव का अभिव्यक्त रूप है—

"दादू जल में गगन, गगन में जल है"[६]

संत रज्जब भी परमात्मा और जीव के अभेद में विश्वास करते हुए कहते हैं—

"रज्जब जीव ब्रह्म अंतर इता, जिता जिता अज्ञान"[७]

संत सुन्दरदास परमात्मा और जीव की अभिन्नता बतलाते हुए कहते हैं—

"जैसे महदाकाश तें घटाकाश नहीं भिन्न
यों आतम परमातम सुन्दर सदा प्रसन्न',[८]

---

१. कबीर गन्थावली पृ० १०५।
२. वही, पृ० ४४।
३. वही, पृ० ६३।
४. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ६३।
५. परशुराम चतुर्वेदी–संतकाव्य संग्रह दादूसाहब, पृ० २८६।
६. दादू दयाल की बानी भाग १, पृ० २४।
७. परशुराम चतुर्वेदी–संतकाव्य संग्रह–रज्जब, पृ० ३७९।
८. सुन्दर ग्रन्थावली भाग २, पृ० ८०५।

इनके अनुसार विश्व और शिव में कोई अन्तर नहीं है। सृष्टि परमात्मा का विलास है। परमात्मा सृष्टि का निमित्तकारण है। जीव अज्ञानवश अपने को अपने आप नहीं पहिचानता है।

"एकहि व्यापक वस्तु निरन्तर, विश्व नहीं यह ब्रह्म विलासे
ज्यों नट मंत्रनि सों दिठ बांधत है कछु औरई औरई भासे
ज्यों रजनि मँहि बूझि परे नहिं जो लगि सूरज नहिं प्रकाशे
त्यों यह आपुहि आपु न जानत सुन्दर ह्वै रह्यो सुन्दरदासे।[1]

संत भीखा साहब की वानी में परमात्मा और जीव की अभेद अवस्था का वर्णन करते हुए कहा गया है—

"भीखा केवल एक है, किरतम भयो अनन्त
एकै आतम सकल घट, यह गति जानहिं संत"[2]

परमात्मा और जगत् के अभेद को बतलाते हुए भीखा साहब कहते हैं—

"सब घट ब्रह्म बोलता आहि, दुनिया नाम कहों मैं काहि"[3]

संत पलटू का परमेश्वर भी घट घट में व्याप्त है, जगत् में तिल भर भी स्थान उससे खाली नहीं है। अतएव इनका कहना है कि प्रत्यक्ष जगत् को असत्य कैसे कहा जा सकता है। इनकी बानी में कहा गया हैं—

"आपुहि कारन, आपुहि कारज विस्व रूप दरसाया"[4]

इनका मानना है कि परमेश्वर ही माली है, वही चमन है, मेंहदी का पत्र भी वही है, उसमें व्याप्त लाली भी वही है। वही स्थूल, सूक्ष्म, जड़ और चेतन जगत् में व्याप्त है।[5]

संत चरनदास समस्त जगत् को परमात्मा का मन्दिर मान कर कहते हैं

"हमरा देवत परगट दीसै, बोले चाले खावे
जित देखों तित ठाकुर द्वारे, करों जहां नित सेवा"[6]

---

१. सुन्दर ग्रन्थावली भाग २, पृ० ५८१।
२. संतकाव्य संग्रह—भीखा साहब, पृ० ४६६।
३. भीखासाहब की बानी, पृ० ८।
४. पलटू साहब की बानी, पृ० ५।
५. वही, पृ० ५।
६. चरनदास की बानी, पृ० ७६।

संत दरिया कहते हैं कि अविनश्वर सत् पुरुष स्वांति की बूंद के समान इस विविध रूप जगत् का मूल है। उसी एक से अनन्त रूपों की सृष्टि हुई है, "सम में तें, तें ही में सम, जानु मरम कोई संत।"[१]

शैवदर्शन में शिव की दो अवस्थाएं मानी गयी हैं—लयावस्था और भोगावस्था, जिनको तिरोभाव और आविर्भाव भी[२] कहा गया है। उनकी अव्यक्त ही तिरोभाव अवस्था है और व्यक्त अवस्था ही आविर्भाव अवस्था है। शिव अपनी इच्छा से ही अपने में विश्व को अभिव्यक्त और तिरोभूत करते हैं।[३]

सन्त कवियों ने शैव दर्शन के इस सिद्धान्त को आकाश में वादलों के गमनागमन से भी सिद्ध किया है।

संत सुन्दरदास (छोटे) का कथन है कि जिस प्रकार आकाश में बादल का आविर्भाव और तिरोभाव होता है, उसी प्रकार परमात्मा के जगत् का आविर्भाव और तिरोभाव होता है।

"ब्रह्म मांहि यह जगत् देखियत्, व्योम माँहि घन यों ही
जगत् अभ्र उपजै अरु बिनसै, वे हैं ज्यों के त्यों ही"[४]

संत आनन्दघन ने भी इसी अभेद को मान कर कहा है—

"आपही बाजी आप ही बाजीगर, आप गुरु आप चेला
लोक अलोक बीच आप बिराजत, ज्ञान प्रकाश अकेला"[५]

संत किनाराम ने भी अद्वैत अवस्था को मान कर कहा है—

"सो सब में प्रभु रमि रह्यो, जड़ चेतन निज ठौर।"[६]

इन उदाहरणों से स्पष्टतः अद्वैतमत की सिद्धि होती है। संत काव्य में इस सिद्धान्त को एक परम्परा के रूप में देख सकते हैं, जो नाथों से कबीर आदि में होती हुई आगे वढ़ी चली गई। रामानन्द के शिष्य कबीर पर अद्वैत का प्रभाव सम्भवतः नाथों की परम्परा की स्वीकृति है।

---

१. दरिया साहब—ज्ञान स्वरोदय (संत दरिया, धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी), पृ० २३।
२. देखिए—इसी अभिलेख का द्वितीय अध्याय ३४।
३. "स्वेच्छया स्वमितो विश्वमुन्मीलयति" —प्रत्यभिज्ञा हृदय सूत्र २।
४. परशुराम चतुर्वेदी, संत काव्य संग्रह, पृ० ३८८।
५. परशुराम चतुर्वेदी, संतकाव्य संगह, पृ० ३३१।
६. किनाराम-विवेकसार, पृ० १२।

सूफी हिन्दी कवि भी शैवमत के अद्वैतवाद के प्रभाव से दूर नहीं रह सके हैं। शैवदर्शन या प्रतिबिम्बवाद दर्शन के क्षेत्र में इतना प्रसिद्ध और उपयुक्त हो गया था कि भारतीय दर्शन में आगे तक एक परम्परा बनती चली गयी, इस प्रभाव को न केवल संत कवियों पर ही देख सकते हैं वरन् सूफियों पर भी यह स्पस्टतः दिखाई पड़ता है। यद्यपि सूफियों की योग धारा में शैवमत की परम्परा के संकेत स्पष्ट हैं किन्तु उनके अध्यात्म चिन्तन में भी अद्वैत के सम्बन्ध से प्रतिबिम्बवाद में होकर शैवमत का प्रभाव परिलक्षित हो ही रहा है। इन्होंने परमात्मा और आत्मा तथा परमात्मा और जगत् के अद्वैत भाव को प्रकट करने के लिए शैव दर्शन का आश्रय लिया है। जायसी ने अखरावट में कहा है—

"हौं हौं करत सबै मति खोई, जे तु नांहि आहि सब कोई।
आपहि गुरु सो आपहि चेला, आपहि सब जो आप अकेला।"[1]

नूर मुहम्मद के अनुसार जगत् मन्दिर की भांति है जिसमें केवल एक ही मूर्ति है—'जगत देवहरा मूर्ति एक[2]'। सूफी कवि मझन ने भी कहा है कि इस सारे नाम रूपात्मक जगत् में उसका प्रसार है, वही 'एक' अनेक वेशों में प्रगट हो रहा है।[3] कवि उसमान ने भी अद्वैत भाव को स्वीकार करते हुए कहा है कि-

'सम वहि भीतर, वह सम मांहि,
सबै आप दूसर कोउ नांहि।'[4]

सूफी कवियों में शैव दर्शन की अद्वैतवाद की परम्परा या तो संतों से या नाथों से आई हुई प्रतीत होती है।

मध्ययुगीन हिन्दी काव्य धारा के सगुण भक्त कवि निर्गुण भक्त कवियों के समान तत्वतः दार्शनिक नहीं कहे जा सकते हैं और न उनका लक्ष्य दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन ही था। फिर भी शैव और वैष्णव भक्ति धारा में भावनाओं के आदान प्रदान के कारण सूर और तुलसी वैष्णव भक्तों पर भी शैवमत के अद्वैतवाद का प्रभाव प्रतीत होता है। सूर ने एक पद में

१. जायसी ग्रन्थावली, अखरावट, पृ० ३४०।
२. नूरमुहम्द-अनुराग बांसुरी-पृ० १६७।
३. 'एही रूप बुत अह्यो छिपाना, एही रूप अब सृष्टि समाना
एही रूप जल थल महि भाव अनेक देखावा आप कू आप जो देखे सो कछु देखे पाव'—मंझन मधुमालती।
४. उसमान-चित्रावली-पृ० २।

कहा है:—

'पहिले हां ही हों तब एक
अमल, अकल, अज, अभेद विवर्जित, सुनि विधि विमल विवेक
सो हों एक अनेक भांति करि, सोभित नाना भेष"[1]

सूर के इस कथन से अभिप्राय है कि परमेश्वर और आत्मा एक हैं।

तुलसी भी परमेश्वर और जीव तथा परमेश्वर और जगत् के अद्वैत सम्बन्ध को 'वारि और वीचियों' के समान मानते हैं।[2]

रीतिकालीन कवि काव्य कौशल एवं नायक नायिका के नख–शिख वर्णन में ही लीन रहे। उन्होंने भक्ति क्षेत्र में सगुणोपासना को ही प्रधानता दी। अतः उनके काव्य में दार्शनिक तत्त्वों के विवेचन का अभाव सा है।

परिणामवाद—अद्वैतवाद से अन्तर्गत दार्शनिकों ने विवर्तवाद परिणामवाद और प्रतिबिम्बवाद तीन सिद्धान्तों को प्रमुखतया अपनाया है। इनमें विवर्तवाद तो भ्रम से सम्बन्धित है, शैवों ने इसको नहीं अपनाया।

परिणामवाद के अन्तर्गत दो भेद स्वीकार किए गये हैं- विकृत परिणामवाद तथा अविकृत परिणामवाद। शैवों ने केवल अविकृत परिणाम को स्वीकार किया है और यह सिद्धान्त वीर शैवमत[3] में बहुत प्रसिद्ध रहा। इस मत को व्यक्त करने के लिए अनेक उदाहरण दिए जाते हैं। इनमें तीन बहुत प्रसिद्ध हैं—एक तो कंचन कुण्डल का उदाहरण, दूसरा जल हिम का उदाहरण तीसरा संकीर्ण और विस्तीर्ण कच्छप का।

मध्यकालीन कवियों की रचनाओं में इन उदाहरणों का अभाव नहीं है। सन्त कवियों ने इन्हीं उदाहरणों से अपने अद्वैतवाद की पुष्टि की है।

अद्वैत अवस्था को व्यक्त करने के लिए कबीर ने परिणामवाद के जल और हिम के उदाहरण का प्रयोग किया है:

'पाणीं ही तें हिम भया हिम ह्वै गया बिलाइ
जो कुछ था सोइ भया, अब कछू कह्या न जाई ॥[4]

---

१. सूर विनय पत्रिका, पृ० २६४।
२. मानस–उत्तरकाण्ड, पृ० १८६।
३. देखिये इसी अभिलेख का द्वितीय अध्याय, पृ० ४६।
४. कबीर ग्रंथावली–पृ० १३।

कबीर जीव और जगत् को परमात्मा का अविकृत परिणाम मानते हैं। आविर्भाव अवस्था में जीव और जगत् अस्तित्व में आते हैं, तिरोभाव अवस्था में ये परमात्मा में विलीन हो जाते हैं। इस अभेद को बतलाने के लिए कबीर ने शैवों के कचन कुण्डल के उदाहरण को अपनाया है।

'जैसे बहु कंचन के भूषन, एके गालि तवावंहिगे
जैसे जलहि तरंग तरंगनी, ऐसे हम दिखलावंहिगे।'[1]

संत सुन्दरदास परमेश्वर जीव और जगत् की अभेद स्थिति को परिणामवाद के सिद्धान्त से ही व्यक्त करते हैं। यद्यपि उनका उदाहरण मौलिक है किन्तु भाव उसी सिद्धान्त का प्रतिपादक है।

'जैसे घृत थींज के डरा सो बधि जात पुनि
फेर पिघलें तें वह घृत ही रहुत है
जैसे पानी जमि के पाषाण हू सो देखियत
सो पाषण फेरि पाणीं होय के वहतु है[2]

संत चरनदास ने भी परमेश्वर, जीव और जगत् की अद्वैत अवस्था बतलाते हुए शैवदर्शन के अविकृत परिणामवाद की संकीर्ण और विस्तीर्ण कच्छप की उक्ति को ज्यों का त्यों अपनी बानी में अपना लिया है।

'जैसे कछुआ सिमिट के आपुहि माँहि समाय
तैसे ज्ञानी श्वास में रहे सुरति लो लाय[3]

संत भीखा भी अविकृत परिणामवाद को स्वीकार करते हैं—

'नाम एक सोन अस गहना ह्वे द्वैतभास
कहूं खरा खोट रूप हेमहि अधार है'[4]

परमेश्वर के कार्य रूप में परिणत होने पर भी उसके मूल रूप में अन्तर नहीं आता। संत सिंगा ने परमेश्वर और जीव तथा परमेश्वर और जगत् का सम्बन्ध स्वर्ण और आभूषण, चन्द्रमा और चांदनी जैसा माना है।[3]

---

१. कबीर ग्रन्थावली पृ० १३७।
२. परशुराम चतुर्वेदी–सन्तकाव्य संग्रह, पृ० १७०।
३. परशुराम चतुर्वेदी-चरनदास, पृ० ४७९।
४. वही, भीखा साहब, पृ० ४९५।
५. वही, संत सिंगा, पृ० २६८।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि संतकाव्य में अद्वैत सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए अविकृत परिणामवाद के उदाहरणों का पर्याप्त उपयोग हुआ है। इससे उनकी दार्शनिक अभिव्यक्ति पर शैव-दर्शन का प्रत्यक्ष नहीं तो अप्रत्यक्ष प्रभाव तो सिद्ध ही है।

हिन्दी के प्रेममार्गी सूफी काव्य में प्रतिविम्ववाद ही स्वीकार किया गया है, परिणामवाद नहीं क्योंकि प्रतिबिम्बवाद, एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद दोनों में एक ही साथ फिट हो सकता है। परिणामवाद में रूपान्तर की विशेषता से वह सूफियों को मान्य नहीं रहा।

मध्यकालीन हिंन्दी की सगुण काव्य धारा में भक्ति का अजस्र प्रवाह रहा है, जिसमें परमेश्वर के परमानन्द स्वरूप सगुण रूप का विशद वर्णन है। सगुणोपासक कवि सूर और तुलसी के उपास्य कृष्ण और राम हैं, जिनका गुण गान उनके काव्य का विषय रहा है। अतः सगुणोपासक कवियों के काव्यों में शैवदर्शन के परिणामवाद का नितान्त अभाव है।

सगुणोपासक कवियों के समान रीतिकालीन कवियों में भी शैवदर्शन के परिणामवाद का कोई प्रभाव नहीं दीखता। इस युग के कवियों ने भक्ति क्षेत्र में सगुणोपासना को अपनाया है। उनके काव्य में दार्शनिक चिन्तन नहीं है।

अद्वैतवाद का प्रतिष्ठापक अन्य प्रमुख सिद्धान्त प्रतिबिम्बवाद है।

प्रतिबिम्बवाद

प्रत्यभिज्ञादर्शन में इसी सिद्धान्त की स्वीकृति हुई है। प्रतिबिम्बवाद के अनुसार सब रूपों में परमात्मा का प्रतिविम्ब है, जिस प्रकार अनेक जलपात्रों में एक ही सूर्य, चन्द्र का प्रतिबिम्ब दिखलाई पड़ता है उसी प्रकार अनेक रूपों में परमात्मा प्रतिबिम्बत है। प्रतिबिम्ब अनेक हैं किन्तु बिम्ब एक है। इस सिद्धान्त की छाया सन्तों और सूफियों दोनों पर मिलती है। कबीर, दादू और रज्जब आदि संत कवियों ने शैवों के प्रतिबिम्बवाद की उक्तियों को अपनाया है।

कबीर कहते हैं कि सब रूपों में परमात्मा का प्रतिबिम्ब है। जलपात्र के न होने पर अथवा जल और कुम्भ के विगलित हो जाने पर प्रतिविम्ब बिम्ब में ही समा जाता है। उसी प्रकार नश्वर रूप के विगलित होने पर प्रतिबिम्ब रूप जीव परमात्मा में समा जाता है:—

"ज्यूं बिंजहि प्रतिबिम्ब समाना, उदकि कुम्भ बिगराना"[1]

---

१. कबीर ग्रंथावली—पृ० १४८।

'कहे कबीर जानि भ्रम भागा, जीवहि जीव समाना'

एक अन्य स्थल पर कबीर में परमेश्वर और जीव के सम्बन्ध को प्रतिबिम्बवाद के द्वारा अभिव्यक्त किया है—

"आतम में परमातम दरसे, परमातम मध्ये झांई
झांई में परछांई दरसे, लखे कबीरा साई।"[1]

संत दादू ने परमात्मा और जीव के अभेद को प्रतिविम्बवाद के टकसाली उदाहरणों से ही प्रतिपादित किया है। दादू कहते हैं—

"ज्यों दरपन मुख देखिये, पानी में प्रतिबिम्ब
ऐसे आतमराम हैं दादू सब ही संग"[2]

संतों ने परमेश्वर और जीव तथा परमेश्वर और जगत् का अभेद प्रतिविम्बवाद के आधार पर प्रगट किया है। शैव दर्शन के सदृश ही उन्होंने बिम्ब के अभाव में प्रतिविम्ब की कल्पना, तथा अनेक प्रतिविम्बों में एक ही बिम्ब का अस्तित्व स्वीकार किया है। अतएव सन्तों पर शैवदर्शन के अद्वैतवाद का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

सूफी कवि जायसी प्रतिविम्बवाद के अनुकरण में लिखते हैं—

"गगरी सहस पचास जो कोउ पानी भरि धरै
सूरज दिपे अकास, मुहमद सब मंह देखिए"[3]

प्रतिविम्बवाद के अन्तर्गत दूसरा उदाहरण दर्पण और प्रतिविम्ब का दिया जाता है।[4] इसके अनुसार परमात्मा दर्पण है और परमात्मा ही दर्शक है। यह जगत् उसका प्रतिविम्ब है, जिसे स्वयं परमात्मा देखता है। जायसी ने पदमावत में कहा है—

"देखि एक कौतुक हों रहा, रहा अंतरपट पे नहिं अहा
सरवर देख एक में सोई, रहा पानि औ पान न हो
सरग आई धरती मंह छावा, रहा धरति पे धरत न आवा।"[5]

---

१. हजारी प्रसाद द्विवेदी—कबीर, पृ० २३६।
२. दादूदयाल की बानी, पृ० २४८।
३. जायसी ग्रन्थावली—अखरावट—पृ० ३३१।
४. अभिनवगुप्त—दर्पणबिम्बवत्
५. जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृ० २५८।

मंझन मधुमालती में प्रतिविम्बवाद को अपनाते हुए कहते हैं कि परमात्मा इस जगत् में सर्वत्र प्रतिविम्वत हो रहा है:—

एक अहें दूसर कोउ नाहीं–तही सब सृष्टि रूप मुख चांही।"[1]

इन उदाहरणों से यह अनुमान प्रमाणित हो जाता है कि सन्तों और सूफियों की हिन्दी कृतियों पर शैवों के अद्वैतिक परिणामवाद एवं प्रतिविम्ववाद का पर्याप्त प्रभाव है। संत काव्य पर इस प्रभाव के लिए एक तो शैवदर्शन की अविरल दार्शनिक धारा ही प्रेरक हो सकती है और दूसरी प्रेरणा नाथों के माध्यम से सन्तों को धरोहर के रूप में मिली। नाथों और सन्तों के दर्शन में बहुत भेद नहीं है। अतएव संतों ने नाथों के दर्शन का धरोहर के रूप में प्रयोग किया। सूफी काव्य पर यह प्रभाव नाथपंथी योगियों की दार्शनिक विचारधारा के सम्बन्ध से आया। योग की जो बातें सूफियों ने अपने रूपकों में व्यक्त की हैं उनसे उन पर नाथों का प्रभाव स्पष्ट है, किन्तु नाथों के अद्वैत दर्शन का प्रभाव भी सूफियों पर पड़ा है इसमें भी कोई सन्देह नहीं है। इसी प्रभाव के परिणाम-स्वरूप प्रतिविम्ववाद और परिणामवाद के प्रतिपादक अनेक उदाहरण सूफियों की दार्शनिक अभिव्यक्ति में आ समाये हैं।

सगुण भक्ति धारा के कवियों को परमेश्वर, जीव और जगत् का अभेद सम्बन्ध स्वीकार था। उन्होंने जीव और जगत् को परमेश्वर का प्रतिविम्ब भी माना है। सूरदास ने कहा है कि जैसे अनेक घड़ों में एक सूर्य का प्रतिविम्ब दिखायी पड़ता है, उसी प्रकार प्रत्येक शरीर में एक ही चेतन स्थित है—

"चेतन घट-घट है या माइ। ज्यों घट-घट रवि प्रभा लखाइ।"[2]

नंददास कहते हैं—

घट-घट विघट पूरि रह्यो सोई
ज्यों जल भरि बहु भाजन माहीं
इंदु एक सबही में छाहीं[3]

केशव ने भी एक स्थल पर परमेश्वर जीव और जगत् के बिम्ब प्रतिबिम्ब सम्बन्ध की ओर संकेत किया है—

---

१. मंझन–मधुमालती।
२. सूर विनय पत्रिका-पृ० २७२।
३. नंददास–रूपमंजरी, पृ० १।

"..................जग ब्रह्म नाम
तिनके अशेष प्रतिबिम्ब जान
तेह जीव जानि जग में कृपाल"[1]

उत्तर मध्यकाल की रीति मुक्त और रीति मुक्त काव्य धाराओं में दार्शनिक तत्त्वों के चिन्तन का अभाव सा रहा है। रीति मुक्त काव्य धारा में यद्यपि भक्ति का प्रवाह देखा जा सकता है किन्तु यह लौकिक सीमाओं में आबद्ध होने के कारण पूर्व मध्यकाल की चिन्तन परम्परा में मौलिक योग नहीं प्रदान कर सका है। रहीम ने जीव और जगत् को परमेश्वर का प्रतिविम्ब माना है।

"आदि रूप की परम दुति
घट–घट रही समाय[2]"

मध्यकालीन हिन्दी कविता के. शिव और जीव तथा शिव और जगत् सम्बन्धी, दार्शनिक चिन्तन पर शैवमत के अद्वैतवाद तथा उसमें प्रतिष्ठित परिणामवाद एवं प्रतिविम्ववाद का प्रभाव रहा है। इस युग के सत, सूफी सगुण तथा रीतिकालीन कवियों ने किसी न किसी रूप में शैवदर्शन के अद्वैत-वाद को अपना कर दार्शनिक विवेचन को एक गति ही प्रदान नहीं की है अपितु कर्म सन्यास एवं मोक्ष मार्ग को भी प्रशस्त किया है।

कर्म—शैव लोग कर्म का सम्बन्ध अविद्या से जोड़ते हैं। इसलिये कर्म को अविद्याजन्य माना गया है। अविद्या माया है।[3] यही जीव को विषय रत करती है और पल भर में सैकड़ों कर्म करवाती है।

"कोटि करम पल में करे यहू मन विषया स्वाद"[4]

तुलसी ने भी कर्म को माया जन्य माना है।

"तब विषम माया बस सुरासुर नाग नर अग जग हरे
भव पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे।"[5]

कर्म जीव का बन्धन है। यही उसके सुख-दुख और आवागमन का कारण है। जीव कर्म बन्धन से मुक्त होने पर मोक्ष प्राप्त होता है।

---

१. केशवदास–रामचन्द्रिका, पृ० २५।
२. रहीम
३. देखिये प्रस्तुत अभिलेख का अध्याय दूसरा, पृ० ५५।
४. कबीर ग्रन्थावली–पृ० १२।
५. मानस उत्तरकाण्ड, चौ० १२।२।

मध्यकालीन हिन्दी कवियों ने कर्म और कर्मफल का प्रचुर वर्णन किया है। भारतीय दर्शन के कर्म सिद्धान्त की विवेचना कुछ अन्तर के साथ सभी सम्प्रदायों में स्वीकृत हुई है। इन सिद्धान्तों के विवेचन की परम्परा आलोच्य-काल के कवियों के काव्य में देखी जा सकती है। इस युग के कवियों ने नाथ पंथ के स्वर में स्वर मिला कर कर्म को अविद्या जन्य कहा है।

कर्म अविद्याजन्य है—गोरखनाथ ने भी कर्म को माया जन्य माना है और जब तक जीव शरीर से बंधा रहता है तब तक कर्मरत रहता है।

"अवधू मन कलपत लागी माया, करम आचरे तहां लूं काया।[१]"

जीव अविद्या या अज्ञान के कारण लोभ-मोह-क्रोध-मद आदि से घिर कर अनेक कर्म करता है। कबीर आदि मध्यकालीन सन्त भी ऐसा ही मानते हैं। कबीर कहते हैं—

"कोटि करम लागे रहै एक क्रोध की लार[२]"

मलूकदास ने अज्ञान को मन की चंचलता का कारण माना है, जिससे वह मृग की भांति चारों ओर भटकता है तथा विभिन्न कर्मों में रत रहता है।

"मन मिरगा बिन मूड़ का चहुं दिसि चरने जाय।[३]"

संत दरिया साहब (बिहार वाले) मन की ममता को कर्मों का जनक मानते हैं—

"मन की ममता काल है, करम करावे जानि।"[४]

जगजीवन साहब ने कर्म को अविद्या जन्य मान कर कहा है—"कुमति कर्म कठोर काठहिं, नाम पावक दहै।"[५] कुमति के कारण जीव अनेक कर्मों की अग्नि में पड़ कर प्रभु के नाम को भूल जाता है। संत भीखा साहब कहते हैं कि प्राणी अपनी कुचाल से नाना प्रकार के कष्ट सहता है। वह भ्रमजनित कर्मों में उलझ कर सिंह होने पर भी सियार कहलाता है। वह भ्रमजन्य कर्म के कारण 'अलख' को नहीं देख पाता है।

---

१. गोरखबानी, पृ० २३०।
२. संतबानी संग्रह, भाग १, पृ० ५३।
३. वही, पृ० १०३।
४. वही, पृ० १२४।
५. संतबानी संग्रह, भाग २, पृ० १४४।

"अपनी कपट कुचाल तें नाना दुख पावै,
करम भरम बीच सिंह स्यार कहावे।
अलख का लखन कठिनाई, करम को मार मेखा है।[1]

उपर्युक्त उदाहरणों से यह प्रमाणित होता है कि नाथों के समान संत कवियों ने भी कर्म को अविद्याजन्य कहा है। मध्यकालीन संत कवियों ने जीव को कर्म से सजग रहने का आदेश दिया है।

मध्यकालीन हिन्दी के सूफी कवियों पर भारतीय दर्शन के कर्म-सिद्धान्त का विशेष प्रभाव दिखलाई नहीं देता। इन्होंने अच्छे और बुरे कर्म तो माने हैं परन्तु कर्म को बन्धन नहीं माना है, और न ही ये जीव के आवागमन या पुनर्जन्म सिद्धान्त को मानते हैं। इस सिद्धान्त की मान्यता के अभाव में सूफी काव्य में कर्म को सुख दुख का कारण भी नहीं माना गया है। कर्म के फल का एक ही स्वरूप इन्हें मान्य है—स्वर्ग (वहिश्त) या नरक (दोज़ख) की प्राप्ति।

मध्यकालीन सगुण कवियों ने भी कर्म को अविद्याजन्य कहा है। सूरदास कहते हैं कि अविद्या के कारण जीव विरुद्ध आचरण करता है। काम-क्रोध-लोभ-मद और मोह के कारण वह सत्यान्वेषी नहीं बन पाता।

"विषयासक्त, नटी के कपि ज्यों, जेहि-जेहि कह्यो कर्यौ।"[2]

यह अन्यत्र कहा जा चुका है कि भक्ति में कर्म को माना गया है और बंधन रूप में, किन्तु ईश्वर (राम-कृष्ण) की कृपा से सब बंधन कट जाते हैं।

"बिनु हरि भजन न भव तरिय, यह सिद्धान्त अमेल।"[3]

भक्ति क्षेत्र की यह मान्यता आगे भी चली गई। रीतिकालीन भक्त कवियों ने भी इसे ही स्वीकार किया।

"वह पर ऊपर ते तकत नीच्ये बसे यह नीच।
विधि वचये बचिहै बिहंग बयाध बाज के बीच।"[4]

फिर भी यह सब निरूपण तात्विक पृष्ठभूमि में नहीं हुआ, केवल प्रेम (भक्ति) के परिपार्श्व में हुआ है। रीति मुक्त कवियों ने लक्षण-लक्ष्य ग्रन्थों के

---

१. भीखा साहब की बानी, पृ० ५८।
२. सूर विनय पत्रिका, पृ० १९३।
३. तुलसीदास मानस' उत्तरकाण्ड, पृ० २१०।
४. भिखारीदास—'रस सारांश', पृ० १२३।

प्रणयन में ही रुचि दिखलाई, किन्तु "भव–बाध,"[1] के हरण के लिए प्रार्थना करते हुए कवियों ने "कर्म-बंधन" को ईश्वर–कृपा से कटवाने की ही बात कही। इससे कर्म के सम्बन्ध में उनकी मान्यता में कोई अन्तर नहीं आया।

शैव दर्शन में कर्म को बन्धन माना गया है। गोरखनाथ कहते हैं—

"बंध्या सोय जु करमहि बंध, मुकता सोई रहै निरदंद"[2]

कर्म बन्धन है

मध्यकालीन हिन्दी काव्य में शैवों के अनुरूप कर्म जीव का बन्धन माना गया है। ज्ञान के अभाव में जीव सत् और असत् कर्मों को पहिचान नहीं पाता। वह निरन्तर कर्मपाश में बंधा रहता है। कबीर कहते हैं—

"कोटि क्रम सिरि ले चल्या, चेत न देखे भ्रंम।"[3]

संत मूलक दास कहते हैं—

"किरिया करम आचार भरम है, यहि जगत्त का फंदा"[4]

कर्म जीव का बन्धन है। सत दूलनदास के अनुसार जीव कर्म में अटक कर अपने घर की खोज भी नहीं करता—

"निज घर का कोउ खोज न कीन्हा, करम मरम अटकानी"[5]

संत दादू कहते हैं—

"राहु गिले ज्यों चंद को, गहन गिले ज्यों सूर
कर्म गिले यों जीव को, नख शिख लागे पूर।"[6]

दयाबाई कहती हैं कि कर्म के बन्धन जीव को शिथिल कर देते हैं—

"कर्म फांस छूटे नहीं, चकित भयो बल मोर"[7]

संत गरीबदास कहते हैं कि मन अविद्याजन्य कर्म के कारण पांचों विषयों से बंधा है—

---

१. बिहारी—बिहारी सतसई, दोहा ५२५।
२. गोरखबानी, पृ० २२६।
३. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३८।
४. संतबानी संग्रह, भाग २, पृ० १०५।
५. संतबानी संग्रह भाग २, पृ० १५८।
६. वही, भाग १, पृ० ६७।
७. वही, भाग १, पृ० १७३।

"कमल फूल मन भंवर हैं, कांटा करम कुसंग
पांच विषय सूं बंधि रहा, कैसे लागे रंग।"[1]

कर्म के बन्धन के कारण ही जीव परमानन्द से विमुख रहता है। संत तुलसी साहब कहते हैं—

"बांधि करम के बस रखे, सके न सूरति पाय।"[2]

कर्म का बन्धन इतना आकर्षक है कि ऋषि मुनि भी इसके बन्धन में पड़ कर व्यथित होते हैं—

"काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, यह करत सबहिन बैर
सुर नर मुनि सब पचि-पचि हारे, परे करम के फेर"[3]

कर्म के बन्धन को सभी सन्तों ने स्वीकार किया है। उनका कथन है कि कर्म बन्धन दिन प्रतिदिन और उलझता ही जाता है।

"चित्र विचित्र करम को धागा, जन्म-जन्म अरुझाय रह्यो
काहे को कबहुं यह सुरझहि, दिन-दिन अधिक फंसाय रह्यो"[4]

संत भीखा साहब कहते हैं कि जीव कर्म में उलझा है जिसके कारण वह जगत् के आकर्षण में बंधा है :

"आतम जीव करम अरुझाना, जड़ चेतन बिलमाया"[5]

हिन्दी के सूफी कवियों के काव्य में कर्म को बन्धन मान कर, उसका वर्णन नहीं किया गया है। सम्भवतः शैव दर्शन की इस विचारधारा से वे अप्रभावित रहे।

कर्म का बन्धन भक्ति का अवरोधक है। अतः मध्यकालीन हिन्दी के सगुण कवियों ने अविद्याजन्य कर्म को जीव के बन्धन का हेतु मान कर उसकी अवहेलना भी की है। सूरदास कहते हैं—

"अवगुन मो पे अजहुं न छूटत, बहुत पच्यो अब तांहि"[6]

---

१. वही, भाग १, पृ० २०२।
२. वही, भाग १, पृ० २२७।
३. वही भाग २, (भीखा साहब), पृ० २१२।
४. संतबानी संग्रह, भाग २, (काष्ठ जिह्वा स्वामी) पृ० २५३।
५. भीखा साहब की बानी, पृ० १७।
६. सूर विनय पत्रिका, पृ० १७६।

कर्म का बन्धन बड़ा विकट है, अनेक प्रयास करने पर भी जीव उससे छूट नहीं पाता। सूरदास कहते हैं कि सभी जीव कर्म के वश में पड़े भटक रहे हैं, कर्म के बन्धन से निवृत होना बड़ा दुष्कर है।[१] तुलसी ने भी शैवों के अनुसार कर्म को बंधन कहा है—

"कर्म कीच गिय जानि, सानि चित चाहत कुटिल मलहि मल धोयो"[२]

कुटिल चित कर्म को कीचड़ जानते हुए भी इससे जीवगत मल को धोना चाहता है। फलतः कर्म के जाल में और फंस जाता है। ये कर्म ही उसका बन्धन बन जाते हैं। इससे प्रतीत होता है कि तुलसी पर भी कर्म सम्बन्धी विचारों पर शैवमत का प्रभाव रहा है। दार्शनिक विवेचन के अभाव में मध्यकाल के रीति-कालीन काव्य में कर्म और उसके बन्धन स्वरूप के चित्रण का अभाव है।

शैवों ने कर्म को दुख का कारण माना है—

'षांडतड़ी मांझो जनम बदीतां, चांवल सांबिन सारी जी।'[3]

कर्म-फल ओखली में कूटते हुए जन्म बीत गया फिर भी चावल संवारा सारा नहीं गया अर्थात् कर्मों के बन्धन में बंधा हुआ जीव दुखों से छुटकारा नहीं पा सका। नाथपंथियों का अनुसरण करते हुए कबीर कर्म को सुख-दुख का कारण मानते हुए कहते हैं—

'यह तन तो सब बन गाया, कर्म भए कुहाड़ि,
आप-आप कूं काटि है, कहे कबीर बिचारि'[४]

कर्म कुल्हाड़ा है जो शरीर रूपी वन को काटता रहता है। कर्म ही जीव के दुख का कारण है। दादू ने भी कबीर के कथन की पुनरावृति की है—

'कर्म कुहाड़ा अंग वन, काटत बारम्बार
अपने हाथों आप कों काटत है संसार'[५]

सहजो बाई कर्म को दुख रूप ही मानती है—

कर्मन् के फंटे किए जन्म-जन्म दुख होय।[६]

---

१. वही, पृ० २३५।
२. विनयपत्रिका—सम्पा० वियोगीहरि-पद २४५।
३. गोरखबानी, पृ० ९३।
४. कबीर ग्रंथावली, पृ० २५।
५. संतबानी संग्रह, भाग १, पृ०।
६. सहजोबाई की बानी, पृ० २२।

दया बाई कहती है—

'अन्ध कूप जग में पड़ी, दया करम बस आय।'[1]

संत चरनदास कहते हैं—

'पांचो चोर महादुखदाई, या जग में देई फंसाई
तन मन कूं बहु व्याधि लगावैं, कायक वाचक पाप चढावैं।'[2]

कर्म सुख दुख का कारण है, इसके कारण जीव पर अविद्या का आवरण बना रहता है। अविद्या कर्म पर आच्छादित रहती है। इसलिए सन्तों ने अविद्या और कर्म दोनों की निन्दा की है।

सूफी कवियों का कर्मफल भारतीय कर्म फल से भिन्न है। यद्यपि सूफियों ने पुण्य और पाप के सम्बन्ध से वहिश्त (स्वर्ग) और दोज़ख (नरक) की प्राप्ति होती बतलायी है किन्तु मुक्ति का प्रतिपादन उन्होंने नहीं किया, क्योंकि वहाँ मुक्ति का सिद्धान्त है ही नहीं अतएव सूफी काव्य में शैवदर्शन के प्रभाव को खोजना उचित भी नहीं है।

मध्ययुग के सगुण भक्त कवियों ने कर्म को सुख और दुख का कारण माना है। सूरदास ने कहा है—

'काम के बस जो पटे जमपुरी ताकों त्रास।'[3]

तुलसी कर्म को सुख-दुख का कारण मान कर कहते हैं—

'कर्म प्रधान विस्व करि राखा, जो जस करै सो तस फल चाखा।'[4]

कर्म ही जीव के सुख-दुख का कारण है।

मध्ययुग के रीतिकालीन काव्य में शृंगार वर्णन ही अधिक पाया जाता है। इस युग की भक्ति धारा चिन्तन क्षेत्र में पूर्व-मध्य काल की धारा से विशेष प्रभावित नहीं हुई है। विहारी ने एक स्थल पर कहा है—

'मन मरकट कें पग खुम्यो निपट निरादर सोम,
तदपि नचावत सठ हठी नीच कलंदर लोभ।'[5]

---

१. सतबानी संग्रह, भाग १, पृ० १६७।
२. चरनदास की बानी, पृ० २५।
३. सूर विनय पत्रिका, पृ० १०४।
४. मानस-अयोध्याकाण्ड पृ० २२०।
५. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र-बिहारी, पृ० २६१।

कर्म और आवागमन

शैव उपासकों ने कर्म को[1] आवागमन का कारण माना है। जब तक कर्म है तब तक आवागमन से मुक्ति नहीं होती। मध्यकालीन संत कवियों ने भी 'कर्म' को आवागमन का कारण माना है। कबीर कहते हैं—

"आंमण मरण विचारि करि, कूड़े काम निवारि।"[2]

जन्म मरण का कारण कर्म है। जन्म मरण से मुक्त होने के लिए उनसे मुक्त होना आवश्यक है। संत दादू कहते हैं—

'कर्म फिरावे जी कों[3]

चरनदासजी अपने कथन में इसी की पुष्टि करते हैं—

'फिर चौरासी माँहि फिरावै, जठर अगिन में ताहि तपावै।
जन्म मरन भारी दुख पावै, मनुष देहि का सवंस जावै॥[4]

संत तुलसी साहब कहते हैं—

"कर्म आस की बास में, जोनि जोनि समाय।"[5]

संतों ने आवागमन से मुक्त होने के लिए, उसके हेतु कर्म की निन्दा की है।

हिन्दी के सूफी काव्य में आवागमन के सिद्धान्त को मान्यता नहीं मिली है। अतएव इस काव्य में आवागमन सम्बन्धी प्रभाव का प्रश्न ही नहीं उठता।

विवेचनीय युग के सगुण भक्त कवियों ने कर्म की निरन्तरता को स्वीकार किया है। उनके अनुसार जीव कर्म के कारण अनेक जन्म लेता है, अपने कर्म के फल का भोग करता है। सूरदास कहते हैं—

"जिहि-जिहि जोनि फिरयो, संकट बस तिहि-तिहि यह कमायो"[6]

तुलसीदास कर्म के फल को स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—

आकर चारि लक्ष चौरासी, जोनि भ्रमत यह जीव अविनासी
फिरत सदा माया कर फेरा काल करम सुभाउ गुन घेरा।"[7]

---

१. आवागवण मरम का मारग—गोरखबानी, पृ० २१६।
२. कबीर ग्रन्थावली, पृ० २२।
३. संतबानी संग्रह, भाग १, पृ० ८५।
४. चरनदासजी की बानी, पृ० १७।
५. संतबानी संग्रह, भाग १, पृ० २३५।
६. सूर विनय पत्रिका—पृ० १५३।
७. मानस—उत्तरकाण्ड, ४३।

जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है रीतिकालीन काव्य में श्रृंगार और प्रेमभावना की साधना प्रधान रही है। इस युग के भक्ति काव्य में तात्विक विश्लेषण का अभाव है।

कर्म और मोक्ष— शैवदर्शन में कर्म सन्यास को मोक्ष माना है। कर्म के बन्धन से मुक्त होना ही जीवन्मुक्ति है।[1] संत दरिया साहब (बिहार वाले) कहते हैं कि कर्म से भोग के पश्चात् ही मोक्ष हो सकता है—

"करम काटि नर निजपुर, जाय बसे निजुधाम"[2]

संत चरनदास कहते हैं—

"करम भरम के बन्धन छूटे, दुविधा विपति हनी।"[3]

पलटू साहब भी कर्म बन्धन से मुक्त होने पर मुक्ति मानते हैं—

"कर्म बन्धन सकल छूटे जीवन मुक्ति कहावन"[4]

उपर्युक्त उदाहरणों से कहा जा सकता है कि संतों ने कर्म सन्यास को मुक्तावस्था मान कर नाथों के प्रभाव को प्रमाणित किया है। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि विवेच्य काल के संतों की कर्म सम्बन्धी धारणा पर शैव-दर्शन का अप्रत्यक्ष प्रभाव तो अवश्य रहा है।

हिन्दी के सूफी कवियों ने कर्म के कारण आवागमन और कर्म सन्यास से मोक्ष का प्रतिपादन नहीं किया है। इसका प्रमुख कारण सैद्धान्तिक भिन्नताएं हैं।

मध्यकालीन सगुण भक्तों ने कर्म बन्धन से मुक्त होने में परमात्मा की अनुकम्पा को ही प्रधान माना है। उनके अनुसार भगवान की कृपा से जीव बन्धन मुक्त होकर उनकी शरण प्राप्त करता है। मध्यकाल के रीतिकालीन साहित्य में आत्मा की अतुल जिज्ञासा और स्वतंत्र चिन्तन उपेक्षित रहा है, जिसके कारण इसमें कर्म और कर्म सन्यास के विश्लेषण का अभाव है। मध्य-कालीन हिन्दी कविता की चेन्तनिक पृष्ठभूमि हर शैवमत की कर्म सम्बन्धी दार्शनिक विचारधारा का महत्त्वपूर्ण प्रभाव रहा है।

---

१. गोरखबानी—२२९।
२. संतबानी संग्रह, भाग १, पृ० १२४।
३. वही, पृ० १८१।
४. पलटू साहब की बानी, पृ० ५७।

संत और सगुण कवियों ने कर्म को दुख और पुनर्जन्म का हेतु तो माना ही है साथ ही निष्काम कर्म और उससे प्राप्त कर्ममुक्त अवस्था को भी स्वीकार किया है। कर्ममुक्त अवस्था अथवा कर्म संन्यास को संत और सगुण भक्तों ने मोक्ष कहा है। मध्ययुगीन हिन्दी कवियों में यह विचारधारा नवीन नहीं हैं। शैवाचार्य श्रीकण्ठ[1] का भी कथन है कि फल की कामना का त्याग करके, कर्म करने से पाप का नाश होता है और पाप नाश से चित्तशुद्धि होती है, तभी बोध होता है। अतएव कर्म ज्ञान का हेतु है। ज्ञान और निष्काम कर्म का फल एक ही है। ज्ञान और कर्म के समुच्चय से मुक्ति होती है।

मोक्ष

शैवदर्शन में माया, कर्म और बिन्दु से बने शरीर के आधिपत्य से मुक्ति तथा परमशिव से साम्य प्राप्त करना ही मोक्ष माना गया है। इनके अनुसार मुक्त आत्मा का जब तक शरीर से सम्बन्ध है, वह सूर्य के प्रज्वलित प्रकाश में कपूर की लौ के समान अपना अस्तित्व[2] बनाए रखता है। वह सदेह ही ईश्वर के ऐश्वर्य में लीन रह कर आनन्द भोग करता है। शरीर से मुक्त होने पर आत्मा और परमात्मा की वास्तविक भिन्नता मिट जाती है। आत्मा प्राकृतिक भिन्नताओं और सीमाओं[3] से मुक्त हो परमात्मा में लीन हो जाती है। इस प्रकार शैवों में मोक्ष के दो रूप स्वीकार किए गए हैं—सदेह मोक्ष और विदेह मोक्ष।

सदेह–मुक्ति

जीवज्ञान के क्रमिक विकास तथा अविद्या जनित उपाधियों के बन्धन से निवृत हो इसी लोक में आध्यात्मिक जागृति के कारण मोक्ष का आनन्द प्राप्त करता है। उसे इस आनन्द के लिए कहीं आना जाना नहीं पड़ता। यही सदेह मुक्ति है। मध्यकालीन हिन्दी के कवियों में सदेह मुक्ति की मान्यता रही है।

कबीर ने कहा है—"परम पद पाया कहीं जाऊं नआऊं।"[4]

दादू ने कहा है—

"जीवत जनम सुफल करि जाना, दादू राम मिले मन माना।"[5]

---

१. रामदास गोड़–हिन्दुत्व, पृ० ७०१।

२. डा० के. सी. पाण्डेय–भास्करी भाग ३, पृ० CLLL VI

३. वही, पृ० CLLL II

४. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १५४।

५. दादूदयाल की बानी भाग २, पृ० २२।

ज्ञान द्वारा जीव और परमेश्वर का भेद मिटने पर अविद्या का नाश होता है। सुन्दरदास का कथन है कि मोक्ष इसी जीवन में प्राप्त किया जा सकता है—

"निज स्वरूप को जानि अखंडित ज्यों का त्यों रहिए
सुन्दर कहू ग्रहै नहिं त्यागै, वहै मुक्ति पद कहिए।"[१]

शैवदर्शन में सदेह मुक्ति अथवा जीवन्मुक्त अवस्था को मोक्ष कहा गया है।[२] इसके दो रूप माने गए हैं—दुखान्त तथा सामरस्य अथवा आनन्द।

दुखान्त का अर्थ आधिदेविक और आधिभौतिक दुखों की निवृति है।

दुःखान्त

इसमें अज्ञान भेदन करने वाली स्वशक्ति और क्रियाशक्ति का उन्मेष आवश्यक है।[3] इनके द्वारा जीव अज्ञान के आधिपत्य से मुक्त होता है। वह अविद्याजन्य दुख-सुख अनुभव नहीं करता। वह जल में कमल के पत्ते के समान निवास करता है। संतों में मोक्ष के सम्बन्ध में शैवों की इसी धारणा को अपनाया गया है, जो उन्हें सम्भवतः नाथ पथ से प्राप्त हुई है।

गोरखवानी में कहा गया है कि पंच तत्त्वों अथवा पंच ज्ञानेन्द्रियों के वहिः प्रसार का निवारण कर आत्म चिन्तन करने से मनुष्य की सब चिन्ताएं दूर हो जाती हैं।[४] यही दुख की आत्यन्तिक निवृत्ति की अवस्था है। एक अन्य स्थल पर गोरखनाथ कहते हैं—"काया में माया और आत्मा दोनों हैं। जल अथवा माया के रहित हो जाने पर, जीव के मुक्त हो जाने में कोई सन्देह नहीं रह जाता—

"अष्टकुल परबत जल बिन तिरिया।"[५]

कबीरदास माया जन्य 'मेरा' 'तेरा' से विमुक्त अवस्था को मुक्ति मानते हैं। यह 'मेरा' 'तेरा' ही जीव के दुख का कारण है। इससे निवृत्त होना ही मोक्ष है।

"मेर मिटी मुक्ता भया, पाया ब्रह्म बिसास"[६]

---

१. परशुराम चतुर्वेदी—संतकाव्य संग्रह, पृ० ३८७।
२. इसी अभिलेख का द्वितीय अध्याय, पृ० ५४।
३. बलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शन, पृ० ५८३।
४. गोरखबानी, पृ० २९।
५. वही, पृ० ९७।
६. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ५९।

दादू कहते हैं—

"मेरी तपति मिटी तुम देखता, सीतल भयो भारी
भव बन्धन मुक्ता भया........................."[१]

संत दरिया कहते हैं कि ईख के रस को उवाल कर उसका मेल काट कर पहले गुड़ बनता है, गुड़ से साफ चीनी और मिश्री, मिश्री से मिश्रीकन्द। इसी भांति जीव अनवरत आत्मशुद्धि की क्रिया में लगा रह कर दुख की आत्यन्तिक निवृति के साथ, जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त करता है—

"जीव साफ होय भयउ निनारा, बीज एक से भयउ निनारा
ऐसी सकल जाहि बनि आई, फेरि मुरचा नहि लागे भाई"[२]

मुक्ति के पश्चात् जगत् से भिन्न जीव का वैसा ही व्यक्तित्व हो जाता हैं जैसे सरसों से अलग हो जाने पर तेल का। वह दिव्य दृष्टि प्राप्त कर सत्पुरुष से सम्बन्ध स्थापित कर लेता है।[३] उनका कहना है—

"मन चीनहै तो होय निरदंदा
छूट जाय तब जमपुर फदा"[४]

गरीवदास कहते हैं कि आशा, तृष्णा से मुक्त होना ही मोक्ष है। मन का जीतना ही सबसे वड़ी जीत है—

"जीवत मुक्ता सो कहो, आसा तृष्ना खंड
मन के जीते जीत है, क्यूं भरमे ब्रह्मंड"[५]

यही जीव की विशुद्ध चैतन्यावस्था है। जिसे प्राप्त करना उसका लक्ष्य है। इस अवस्था पर पहुँचकर, दीपक के प्रकाश से अन्धकार के समान, जीव का अज्ञान दूर हो जाता है। वह सूर्य के प्रकाश में कपूर की लौ के समान रहता है।[६] संतों ने जहाँ जीवन्मुक्त अवस्था का वर्णन किया है उनका लक्ष्य इसी अवस्था पर रहता है। दुख से निवृत्त आत्मा परमेश्वर स्वरूप हो जाता है। संतों की

---

१. दादूदयाल की बानी, पृ० ४३।
२. दरिया-ज्ञान स्वरोदय (संत दरिया एक अनुशीलन) पृ० २४।
३. वही, पृ० ६१।
४. वही, पृ० ३८।
५. संतबानी संग्रह, भाग १, पृ० २०७।
६. इसी अभिलेख का द्वितीय अध्याय, पृ० ५६।

मोक्ष सम्बन्धी धारणा से भी यही स्पष्ट होता है कि शैवों की मुक्ति सम्बन्धी धारणा ने उसका वास्तविक स्वरूप संवारा है।

मध्ययुगीन सूफी कवियों के काव्य में दुख-सुख से निवृत्त जीवन्मुक्त अवस्था का विश्लेषण नहीं हुआ है। अतएव इनके काव्य से शैव दर्शन के इस प्रभाव की गवेषणा व्यर्थ है। मध्ययुग के सगुण भक्त कवियों ने भी जीवन्मुक्त अवस्था का वर्णन किया है। सगुण भक्तों ने मुक्ति के चार भेद (सालोक, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य) माने हैं। इनमें प्रथम तीन भेदों का सम्बन्ध सगुण भक्ति से हैं, जिसका विवेचन अन्यत्र किया गया है। ईश्वर के साथ एकीभाव को प्राप्त होना सायुज्य भक्ति है। इसके भी दो रूप माने गए हैं[1]— संसार के दुख से मुक्ति और नित्य सुख की प्राप्ति। संसार के दुख से निवृति शैवों की 'दुख की आत्यन्तिक निवृति' रूपा मुक्ति है। सूरदास अपनी आत्मानुभूति प्रगट करते हुए लिखते हैं—

"मोह-निसा को लेस रह्यो नहिं, भयो विवेक-विहान
आतम रूप सकल घट दरस्यो, उदय कियो रविज्ञान।"[2]

अज्ञान तम से निवृति और ज्ञानोदय ही जीवन्मुक्त अवस्था के गुण हैं। जीवन्मुक्त अवस्था में आत्मा के सत्य स्वरूप का ज्ञान तो होता ही है, जीव के भव बन्धन भी छूट जाते हैं। तुलसी ने जीवन्मुक्त अवस्था का वर्णन करते हुए कहा है—

"मुक्त भए छूटे भव बंधन।"[3]

एक अन्य स्थल पर भी उन्होंने कहा है—

"ग्यानवंत कोटिक मंह कोऊ, जीवनमुक्त सुकृत जन सोऊ"[4]

अज्ञान से निवृत्त, दुख-सुख से परे जीव ही मुक्त है।

मध्यकाल के सगुण काव्य में यद्यपि भगवान् के सान्निध्य से प्राप्त आनन्द का ही प्रचुर वर्णन मिलता है तथापि उन्होंने दुख से निवृति मोक्ष अवस्था का भी वर्णन किया है, जिसे शैव दर्शन का अपरिलक्षित प्रभाव कहा जा सकता है।

---

१. डा० हरवंशलाल शर्मा–सूर और उनका साहित्य, पृ० ५०।
२. सूरसागर–पद ३७६।
३. मानस–लंकाकाण्ड १४४।
४. वही, उत्तरकाण्ड–५३।२।

आलोच्य युग की रीतिकालीन काव्यधारा में तत्त्वचिन्तन अथवा ईश्वरोन्मुख भावना का चित्रण स्वतन्त्र रूप से नहीं हुआ है। इस युग के रीतिमुक्त कवियों के काव्य में भक्ति का चित्रण हुआ है, जिसमें प्रभु से सुख समृद्धि तथा इस जीवन के उपरान्त मुक्ति की आकांक्षा की गयी है। भिखारीदास कहते हैं—

'जानि यहै अनुमानि यहै मन मानि के दास भयों है सेवैया।
मुक्ति को धाम है भुक्ति का दाम है. रास को नाम है
कामद गैया।[1]'

अतएव इस युग के काव्य में मोक्ष सम्बन्धी धारणाओं के विशद विवेचन का अभाव ही रहा है, प्रभु की शरण एकमात्र भवसागर को पार करने का साधन रही है।

आनन्दवाद

दुख की आत्यन्तिक निवृति के अतिरिक्त, शैवों में सदेह मुक्ति के दूसरे स्वरूप 'आनन्दवाद' की प्रतिष्ठा भी रही है। साधना के उपरान्त जिस आनन्द की प्राप्ति होती है उसे समरस और उस अवस्था को सामरस्य कहा जाता है। यही जीव की स्वतंत्रावस्था है, विषमता की संकुचित अवस्था में सुख और दुख दोनों रहते हैं लेकिन समरसता की अवस्था में केवल आनन्द ही आनन्द शेष रहता है।[2]

शैवों की इस दार्शनिक विचारधारा का प्रभाव मध्यकालीन काव्य पर स्पष्ट दिखलाई देता है। इस युग के संतों ने मुक्ति को पूर्णानन्द अवस्था माना है, जिसे शैव दर्शन के प्रभाव का परिणाम कहना अधिक संगत होगा। कबीर पूर्णानन्द अवस्था का वर्णन करते हुए कहते हैं—

"दुखिया मूवा दुख कों, सुखिया सुख को झूरि
सदा अनंदी राम के, जिनि सुख दुख मेल्हे दूरि।"[3]

आनन्दावस्था में जीव को सुख-दुख के अस्तित्व का अनुभव नहीं होता। वह

---

१. काव्य निर्णय–पृ० २८०
२. देखिए इसी अभिलेख का द्वितीय अध्याय, पृ० ७४।
देखिए–प्रत्यभिज्ञा हृदयम् १६।
चिदानन्द लाभे देहादिषु चेत्यमानेष्वपि चिदेकात्म्यप्रति–पत्तिदार्ढ्यं जीवन्मुक्तिः।
३. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ५४।

इनसे निर्लिप्त रह कर पूर्ण आनन्द का अनुभव करता है। मन को प्रभु में लगा देने पर सुखसागर प्राप्त होता है। जीव अमर हो जाता है, उसके क्लेशों का अन्त हो जाता है।

"कहे कबीर मन मनहि मिलावा, अमर भये सुखसागर पावा"[1]

समरसता की अवस्था में 'मैं' 'तू' का भेद विलीन हो जाता है। जीव और परमेश्वर का भेद मिट जाता है। सर्वत्र परमेश्वर के दर्शन होने लगते हैं।[2] जीव तन मन की सुधि भूल कर आनन्द सागर में ही निमग्न रहता है—

"तन रंजित तब देखियत दोई,
प्रगट्यो ग्यांन वहां तहां सोई
लीन निरंतर बपु विसराया
कहै कबीर सुख सागर पाया।"[3]

संत दादू लिखते हैं कि प्रियतम की प्राप्ति हो गयी है, तन मन उसी में लीन हो रहा है। हृदय उस परम ज्योति में लीन होकर अतुल आनन्द प्राप्त करता है—

"परम तेज परगट भया, तंह मन रह्या समाइ
दादू खेले पीव सों, नहि आवे नहि जाइ
निराधार निज देखिए, नेनहु लागा बंद
तंह मन खेले पीव सों, दादू सदा अनंद।"[4]

परम ज्योति ही उसका घर, सुख सागर में ही उसका बसेरा हो जाता है—

"जग सों कहा हमारा, जब देख्या नूर तुम्हारा
परम तेज घर मेरा, सुख सागर मांहि बसेरा
झिलमिल अति आनंदा, पाया परमानंदा।"[5]

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ६१।
२. तूं तूं करता तूं हुआ मुझ में रही न हूं
जब आपा पर का मिटि गया, जित देखों तित तूं॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १०७।
३. वही, पृ० ११८।
४. दादू दयाल की बानी–भाग १, पृ० ५५।
५. वही, भाग २, पृ० ४३।

संत सुन्दरदास शैव दर्शन के आनन्दवाद को अपनाते हैं। वे आत्मा और परमात्मा के मिलन का वर्णन करते हुए कहते हैं—

"मुख तें कह्यो न जात है अनुभव को आनन्द
सुन्दर संमुझे आपु कों, जहाँ न कोई द्वन्द।"[1]

आनन्दवाद का प्रभाव संत चरदास पर भी स्पष्ट दिखलाई देता है। उन्होंने कहा है कि जीव दुख-सुख रहित अवस्था में आनन्द पद को प्राप्त कर लेता है—

"पांचो उतरें भूत जब ह्‌वे है ब्रह्म अरूप
आनंद पद को पाइ हो, जित है मुक्ति सरूप।"[2]

वे कहते हैं—"समझ भई आनन्द पाये, आतम आतम सूझा"

आत्मज्ञान होते पर सर्वत्र आनन्द ही दृष्टिगोचर होने लगता है—

"आदिहूं आनन्द, अन्त हुं आनन्द
मध्यहु आनन्द, ऐसे हिं जानों
अघहु आनन्द, मुक्ति हुं आनन्द
आनन्द ज्ञान, अज्ञान पिछानो
लोटेहु आनन्द, बैठहु आनन्द
डोलत आनन्द, आनन्द जानो
चरनदास विचारि, सबै कुछ आनन्द
आनन्द छाड़ि कैं, दुक्ख न ठानो"[3]

मध्यकालीन हिन्दी सन्त कवियों के काव्य के उपर्युक्त उदाहरणों से प्रमाणित होता है कि वे शैवों के आनन्दवाद से प्रभावित थे। शैवों से समान ही ब्रह्मानुभूति के द्वारा चिदानन्द लाभ करना इनका लक्ष्य था।

जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है हिन्दी के सूफी कवियों ने मोक्ष का सैद्धान्तिक विवेचन तो नहीं किया है पर इस जीवन से परमेश्वर की शरण प्राप्त कर, उसकी शीतल छाया से प्राप्त अलौकिक आनन्द का वर्णन इनके काव्य में मिलता है। सम्भवतः शैवों के प्रतिबिम्बवाद के साथ उन्होंने सदेह

---

१. सुन्दर ग्रन्थावली, भाग २, पृ० ७९६।
२. चरनदास की बानी, भाग १, पृ० २५।
३. चरनदास की बानी, भाग १, पृ० ४७।

मुक्ति अथवा परमानन्दवाद को भी स्वीकार किया हो। जायसी ने लिखा है "पथिक जो पहुँचै सहिके घामू, दुख विसरे सुख होई विसरामू।"[1]

मध्यकालीन सगुण भक्ति धारा के कवि भक्ति सरोवर में निमग्न रहना ही 'परमानन्द' समझते हैं। उनका भजनानन्द परमानन्द से बढ़ कर है।[2] सूरदास ने रासलीला के आनन्द को सब से बड़ी मुक्ति माना है। वे रास रस का वर्णन अपनी शक्ति के बाहर की वस्तु समझते हैं। तुलसी की सम्पत्ति में सगुणोपासक मोक्ष की अपेक्षा भक्ति को महत्त्व देते हैं—"सगुणोपासक मोक्ष न लेहीं"[3] भक्त की आत्मज्योति परमात्मज्योति के साथ एक और अचल हो जाती है।[4] उसी से आत्मानुभाव के सुख का सुन्दर प्रकाश होता है, जो भ्रम का विनाश करता है।[5] यही सदेह मोक्ष कहा जा सकता है। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि हिन्दी की भक्ति धारा के काव्य पर शैवों की मोक्ष धारणा का विशेष प्रभाव नहीं रहा है। वे भक्त हैं अतः उनके काव्य में प्रमुख जीवन्मुक्ति का स्वरूप भक्ति क्षेत्र में विवेचनीय हो सकता है।

विवेचनीय युग के रीतिकालीन काव्य में सदेह मुक्ति के वर्णन का अभाव है। युग विशेष की प्रवृत्तियों में जहाँ भक्ति विषयक कविताएं लिखी गयी हैं वहाँ सगुण उपासना को ही प्रधानता मिली है। जिसमें भगवान से मरणोपरान्त मुक्ति की माँग ही की गयी है।

विदेह मुक्ति

देह के सम्बन्ध से 'विदेहमुक्ति' भी शैव दर्शन में मान्य रही है, शैवाचार्यों के अनुसार शरीर के नष्ट होने पर वास्तविक भिन्नता मिट जाती है। जीव और परमेश्वर में नदी और समुद्र के पानी के समान कोई अन्तर नहीं रहता।[6] मध्यकालीन

---

१. पदमावत—२७।
२. भजनानन्द अलि हम प्यारो
ब्रह्मानन्द ब्रज को महत का पे बरनो जाय" —सूरसागर १११०।
३. मानस—लंकाकाण्ड—१३८।
४. सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुर्माह तुर्माह होइ जाइ।
—मानस—अयोध्याकाण्ड—१२८।
५. आतम अनुभव सुख सुप्रकासा। तब भव मूल भेद भ्रम नासा।
—मानस—उत्तरकाण्ड—२०२।
६. श्रीकरभाष्य—पृ० ८०५।

हिन्दी सन्त कवियों ने शैवों की मोक्ष सम्बन्धी इस धारणा को स्वीकार किया है। संत कबीर कहते हैं—

"बहुरि हम काहे को आर्वाहगे"
कहे कबीर स्वामी सुखसागर, हंसहि हंस मिलांवहिगे।[1]

संत चरनदास लिखते हैं कि निर्वाण पद के प्राप्त होने पर आवागमन नहीं होता। काल भी जीव को अपने बन्धन में नहीं बाँधता। वह शुद्ध-बुद्ध मुक्त स्वरूप हो जाता है—

"सो पावे निर्वान पद, आवागमन मिटाय
जनम मरन होवे नहिं, फिर काल न खाय"[2]

सहजो बाई ने कहा है कि जीव मुक्ति प्राप्त हो जाने पर द्वन्द्वातीत हो जाता है—पाप पुण्य से परे हो जाता है—

"पाप पुण्य दोनों छूटे हरिपुर पहुंचे जाई"[3]

उपर्युक्त उदाहरणों से प्रमाणित हो जाता है कि संत भी मृत्यु के उपरान्त जीव का परमेश्वर में विलय मानते हैं। इसे शैवदर्शन का अपरिलक्षित प्रभाव ही कहना अधिक संगत होगा। सूफी काव्य में मृत्यु के उपरान्त जीव की मोक्ष सम्बन्धी धारणा का प्रतिपादन नहीं हुआ है। अतएव इस सम्बन्ध में शैवमत का इन पर कोई प्रभाव दिखलाई नहीं देता।

मध्ययुगीन हिन्दी के सगुण भक्तों ने सदेह मुक्ति का ही अधिक वर्णन किया है तथापि उनके साहित्य में मरणोपरान्त मुक्ति की ओर भी संकेत किया गया है। उनके अनुसार जीव मरणोपरान्त मोक्ष प्राप्त करने पर आवागमम से मुक्त हो जाता है। सूरदास ने कहा है—

"ऐसो भक्त सुभक्त कहावे, सो बहुरयो भव जल नहिं आवे"।[4]

एक अन्य स्थल पर सूरदास कहते हैं—

---

१. कबीर ग्रन्थावली—पृ० ११८।
२. चरनदास की बानी, भाग२, पृ० १५६।
३. संतवानी संग्रह—भाग १, पृ० १६०।
४. सूर विनयपत्रिका—पृ० २७७।

"निष्कामी बैकुंठ सिधावै, जनम-मरन तिहि बहुरि न आवै"।[1]
निष्काम भक्त जन्म-मरण के चक्र में नहीं आता।

संत एवं सगुण भक्ति काव्य के अतिरिक्त हिन्दी के रीतिकालीन कवियों ने भी मरणोपरान्त मुक्ति की कामना की है। बिहारी कहते हैं—

"मोहू दीजे मोष, जो अनेक अधमनि दियौ"[2]

भिखारीदासजी राम नाम को मुक्ति का साधन मानते हैं—

"मुक्ति महीरुह के द्रुम हैं किधौं राम के नाम के आखर दोऊ"[3]

रीतिकालीन हिन्दी काव्य में तत्वविवेचन का अभाव सा रहा है। उसमें शैव-दर्शन के प्रभाव को खोजना व्यर्थ ही रहेगा।

कहने की आवश्यकता नहीं कि मध्ययुगीन हिन्दी कविता पर, शैवों के मोक्ष सम्बन्धी दृष्टिकोण का, प्रभाव रहा है। संत कवियों ने तो दुख से निवृति तथा अज्ञान के दूर होने पर आनन्द अवस्था को मोक्ष माना है, सगुण भक्त भी इस प्रभाव से अलग नहीं रह सके हैं। उनके काव्य में जीवन्मुक्त अवस्था का तथा सामरस्य अवस्था में प्राप्त आनन्द का वर्णन है जिसे शैवदर्शन का अपरि-लक्षित प्रभाव कहा जा सकता है।

निष्कर्ष

मध्ययुग के साहित्य पर शैव दर्शन के चिन्तन पक्ष का महत्त्वपूर्ण प्रभाव रहा है। चिन्तन का सम्बन्ध अध्यात्म पक्ष से है, जिसमें परमेश्वर, जीव और जगत् के सम्बन्ध का विवेचन रहा है। शैवदर्शन में शिव को प्रमुख पद प्राप्त हुआ है। वे अनेक गुण सम्पन्न हैं तथा अनादि काल से अनेकों नामों से अभिहित किए जाते रहे हैं। आलोच्य युग की कविता में निराकार शिव के अनेक नाम—"अलख, निरंजन, शून्य और शब्द" आए हैं। निर्गुण एवं सगुण सभी भक्त कवियों ने परमेश्वर की अनन्त महिमा का गान इन नामों से किया है, जिससे प्रमाणित हो जाता है कि निराकार शिव और उनके अनेक गुणों का गान इस युग के कवियों का प्रिय विषय रहा है। अतएव इसे शैवदर्शन का अप्रत्यक्ष प्रभाव कहा जा सकता है।

शिव की शक्ति माया के प्रभाव को भी मध्यकालीन कवियों ने स्वीकार

---

१. सूर विनय पत्रिका-पृ० २७८।
२. बिहारी रत्नाकर, दोहा ३७५।
३. काव्य निर्णय–पृ० २८०।

किया है। शैवदर्शन में माया की दो शक्तियां मानी गयी हैं—विद्या और अविद्या। माया की अविद्या शक्ति के प्रभाव में आत्मा में अज्ञान बना रहता है, परमात्मा का ज्योतिस्वरूप उससे ओझल रहता है। माया की विद्या शक्ति से ही यह व्यवधान समाप्त होता है। इसी से आत्मा और परमात्मा के भेद का ज्ञान मिट जाता है और साधक "काँकर पाथर ठीकरी भए आरसी मोहिं" की अवस्था को प्राप्त करता है। मध्यकालीन हिन्दी कविता में माया और माया के प्रभाव का प्रचुर वर्णन है, जिस पर शैव दर्शन के प्रभाव को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

आलोच्य युग की हिन्दी कविता में परमात्मा और आत्मा, परमात्मा और जगत् के अद्वैत सम्बन्ध का प्रतिपादन शैवदर्शन की मान्यताओं के आधार पर हुआ है। इस दर्शन में अद्वैत सम्बन्ध को अविकृत परिणामवाद तथा प्रतिबिम्बवाद के द्वारा स्पष्ट किया गया है। मध्यकाल के हिन्दी कवियों ने न केवल परिणामवाद तथा प्रतिबिम्बवाद के सिद्धान्तों को अपनाया है अपितु शैवों की उक्तियों का भी उसी रूप में प्रयोग किया है। इसे शैवों के अद्वैतवाद का प्रत्यक्ष प्रभाव ही कहना अधिक उचित होगा।

मध्यकाल की कविता पर शैवदर्शन के इन प्रभावों के अतिरिक्त कर्म, कर्मफल और कर्म सन्यास से सम्बद्ध धारणाओं के प्रभाव को भी भुलाया नहीं जा सकता। कर्म और कर्म सन्यास का सम्बद्ध मोक्ष से है। कर्म से विमुक्त जीवन्मुक्त अवस्था को मोक्ष कहा गया है। शैवों के पाशुपत सम्प्रदाय में दुख से निवृत्त होने पर ईश्वर के ऐश्वर्य के भोग को मोक्ष कहा गया है तथा काश्मीरी एवं वीर शैवों ने सामरस्य अवस्था में प्राप्त आनन्द को मोक्ष माना है। इस युग के कवियों को शैवों के उक्त दोनों दृष्टिकोण मान्य रहे हैं। उन्होंने उक्त धारणा के अन्तर्गत ही जीवन्मुक्त अवस्था का वर्णन किया है। अतएव यह स्पष्ट है कि मध्यकाल में शैवदर्शन भारतीय दर्शन का एक प्रमुख अंग था जिसने युग के चिन्तन और साहित्य को अनेक प्रकार से प्रभावित किया है।

(ख) योग दर्शन का प्रभाव

योग विद्या भारतीय मनीषियों की आध्यात्मिक चिन्तन का सारभूत तत्त्व है। योग केवल व्यावहारिक रूप में ही प्रतिष्ठित नहीं है प्रत्युत यह विद्या, शास्त्र और दर्शन है। योग के अभ्यास से मानस की ग्रंथियाँ खुलती हैं और वह उस स्तर पर पहुँचता है जहाँ अध्यात्म का मनन तथा चिन्तन सहज हो

जाता है। अतएव योग साधना और अध्यात्म–चिन्तन के रूप में सदैव मान्य रहा है। यद्यपि जन–श्रुतियों के अनुसार योग के प्रवर्त्तक आदिनाथ शिव माने गए हैं और शैवों ने योग को महत्ता दी है तथापि अन्य धर्माचार्यों ने भी इसे स्वीकार किया है। सभी धर्मों में योग के मूल तत्व एक ही हैं परन्तु विस्तार में अन्तर होने के कारण भिन्नता दृष्टिगत होती है।

शैवमत में योग साधना का प्रधान लक्ष्य आत्मस्थ शिव से ऐक्य स्थापित करना है। शैवयोगी योगाभ्यास से अपने हृदय में परमात्मा शिव का अनुसन्धान करता है। उसका साध्य शिव शक्ति सम्मिलिन है। कुण्डलिनी ही शक्ति है जो मूलाधार में सुषुप्तावस्था में पड़ी रहती है। साधक योग साधना द्वारा इसे जाग्रत कर ब्रह्मरन्ध्र में लीन करता है और वहाँ विद्यमान शिव के सान्निध्य से आनन्द प्राप्त करता है। ब्रह्मरन्ध्र में स्थित निराकार शिव का ध्यान ही श्रेष्ठ माना गया है। शैवों में ज्ञान को प्राधान्य प्राप्त हुआ है। वैष्णव सम्प्रदाय में भक्ति की प्रधानता है जिससे योग का सम्बन्ध है। वैष्णवों में भगवान् विष्णु के स्थूल रूप में धारणा तथा ध्यान लगाने का विधान है। मूर्तस्वरूप के ध्यान के पश्चात् अमूर्त स्वरूप की धारणा की जाती है। वैष्णव योग में प्रथम को "वैराज धारणा" और द्वितीय को "अंतर्यामि–धारणा[1]" कहा गया है। अतएव यह शैव योग से भिन्न है। वैष्णवों में भक्ति का प्राधान्य होने के कारण योग के साधन पक्ष को महत्त्व नहीं मिला है।

सिद्ध योग

सिद्धों की चिन्तना और साधना की मूलभित्ति "प्रज्ञा" तथा "उपाय" का युगनद्ध है। इसी प्रज्ञोपाय सिद्धान्त का विस्तार वज्र और खसम, कुलिश और कमल, मणि और पद्म, चन्द्र और सूर्य आदि रूपकों में हुआ है। सिद्धों में प्रज्ञा को[2] नारी और उपाय को पुरुष रूप में परिकल्पित किया गया है। उनमें "प्रज्ञा" को निष्क्रिय[3] तथा "उपाय" को सक्रियता का प्रतीक माना है। सिद्धों में समाधि का लक्ष्य "प्रज्ञोपाय" है जिससे आनन्द की सिद्ध होती है। शैव–योग सिद्धों की उक्त साधना से भिन्न है। शैवों में कुण्डलिनी को शक्ति कहा गया है, जो सक्रिय है और जाग्रत होने पर शिव में लीन होती है।

---

१. भागवत—११।१४।३६, ३७।
२. दास गुप्ता—एन इंट्रोडक्शन टु तांत्रिक बुद्धिज़्म —पृ० ११८।
३. वही, पृ० ११६।

शाक्त योग

शाक्त मत में शिव को परमतत्त्व तथा शक्ति को सृष्टि की जननी माना गया है। उसका शिव के साथ अनन्त विलास चलता रहता है, जिसका प्रतिफलन इस शरीर में नाड़ियों में भी चलता रहता है। कुण्डलिनी उसी अनन्त शक्ति के प्रतीक के रूप में मूलाधार में प्रसुप्त है और उद्‌बुद्ध होकर षट्‌चक्रों का भेदन कर ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचती है जहाँ शिव का वास है। शाक्त मत में शिव शक्ति[1] के सामरस्य को "पराशक्ति" कहा गया है। इसमें शक्ति तत्व को प्रधानता मिली है।

मध्ययुगीन संत एवं सूफी कवियों ने न तो वैष्णवों के मूर्त परमेश्वर में धारणा और ध्यान को स्वीकार किया है और न सिद्धों के "प्रज्ञोपाय" लक्ष्य को अपनाया है। उन्होंने शाक्तों के समान शक्ति को भी प्रधानता नहीं दी है। उनका लक्ष्य शरीरस्थ शिव से सामरस्य प्राप्त करना है जिसमें कुण्डलिनी (शक्ति) साधन है। वे ब्रह्मरन्ध्र में प्राप्त आनन्द में ही लीन रहना चाहते हैं। सन्तों ने शाक्तों के "दक्षिण" एवं "वाम" आचार का भी तिरस्कार किया है। संतकाव्य में योग के मूल तत्त्वों का विस्तार शैव योग के अनुरूप हुआ है। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि इस काव्य पर शैवयोग का प्रभाव है।

सगुणोपासक भक्त कवियों ने योग की दार्शनिक भूमिका की अवमानना नहीं की, किन्तु भक्त कवियों ने भक्ति के सामने योग को महत्त्व नहीं दिया। योग की बातों से भक्त कवि परिचित हैं। उनकी कृतियों में अष्टांगयोग की अनेक बातें आ गई हैं। पारिभाषिक शब्दों का भी प्रयोग हुआ है, किन्तु "योग ठगौरी[2]....बिकै है" आदि उक्तियों में भक्ति के समक्ष योग के प्रति अपेक्षा भाव ही व्यक्त हुआ है। इसकी पुष्टी

"भक्ति पंथ को जो अनुसरै, सो अष्टांग योग को करै"[3]

आदि उक्तियों से भी हो जाती है। तुलसीदास भी योग को विशेष आदर से नहीं देखते क्योंकि वे मूलतः भक्त हैं। उनके समय में संतों और सूफियों ने जिस योग को मान्यता दे रखी थी उस पर गोरखनाथ की पूरी छाप थी। तुलसीदास उस योग को भक्ति में सहायक न मानकर बाधक ही मानते थे। इसी से— उन्हें कहना पड़ा—

"गोरख जगायो जोग,
भगति भगायो लोग।"

---

१. बलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शन —पृ० ५६८।

२. सूरदास—भ्रमरगीतसार पद।२४।। पृ० १२।

३. सूरविनय पत्रिका—पृ० २८५।

फिर भी तुलसीदास योग की भाषा से परिचित थे जिसका प्रमाण विनय-पत्रिका है—

"सिद्ध सुर मनुज दनुजादि सेवत कठिन,
द्रवहिं हठयोग दिये भोग बलि प्रान की।"[1]

सच तो यह है कि शारीरिक क्रियाओं की सहायता से मन को निगृहीत कैसे किया जाय, इस प्रश्न का उत्तर केवल निर्गुण कवियों का ही विषय रहा है। विषय की गहराई में जितने संत कवि गए हैं उतने शायद सूफी भी नहीं गए।

अन्यत्र कहा जा चुका है कि योग साधना की तीन भूमिकाएं हैं[2]—कायिक, मानसिक और आध्यात्मिक। कायिक भूमिका में

कायिक भूमिका

साधक यम, नियम, आसन प्राणायाम और प्रत्याहार के द्वारा चित्तवृत्ति का निरोध करता है। शैवों ने चित्तवृत्ति निरोध पर विशेष बल दिया है। उन्होंने यम नियम आदि का महत्त्व स्वीकार किया है। सिद्धों ने मन की वृत्ति को सर्वथा निर्मूल कर वैराग्ययुक्त निवृत्तिमय साधना को नहीं अपनाया है। उन्होंने जीवन को उसी रूप में स्वीकार कर, राग के शुद्ध रूप को पहचानने का आग्रह कर राग को[3] राग द्वारा परिशमित करने का प्रयास किया है। सहजयान सम्प्रदाय में भी वैराग्य की अपेक्षा राग को विशेष महत्त्व दिया गया है।[4] उन्होंने जीवन का सहज रूप राग में ही देखा है।[5] वैष्णव योग साधना में "यम" "नियम" माने गए हैं परन्तु प्रत्येक के बारह भेद स्वीकार किए गए हैं।[6]

मध्ययुग के संत काव्य में वैराग्य को प्रमुखता मिली है। शारीरिक साधना में यम-नियम प्रधान माने गए हैं। सन्तों ने हठयोग-

यम–नियम

प्रदीपिका[7] के अनुकरण पर प्रत्येक की संख्या दस मानी है।

---

१. विनय पत्रिका, पृ० ४०६।
२. देखिए—इसी अभिलेख का द्वितीय अध्याय, पृ० ६३।
३. धर्मवीर भारती—सिद्ध साहित्य —पृ० १९५।
४. बलदेव उपाध्याय—बौद्ध दर्शन —पृ० ४४५।
५. दासगुप्ता—इंट्रोडक्शन टु तांत्रिक बुद्धिज्म —पृ० १७४।
६. श्री मद्भागवत—११।१६।३३।
७. "अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं क्षमा धृतिः
दया आर्जव मिताहारं शौचं यमा दश"
—हठयोग प्रदीपिका १।१७।

योग सूत्र में इनकी संख्या पाँच दी गयी है।[१] इस युग के संत काव्य में यमों की चर्चा व्यवस्थित रूप में मिलती है जिसे शैवों का प्रभाव कहा जा सकता है। सन्तों को यह परम्परा नाथों से प्राप्त हुई। नाथ सम्प्रदाय में कठोर ब्रह्मचर्य, वाक् संयम, शारीरिक शौच, मानसिक शुद्धता, ज्ञान के प्रति निष्ठा, बाह्य आचरणों के प्रति अनादर, आन्तरिक शुद्धि और मद्यमांसादि के पूर्ण बहिष्कार पर जोर दिया गया है।[२]

आलोच्य युग के कवि सुन्दरदास ने यमों का उल्लेख इस प्रकार किया है।—

"प्रथम अहिंसा सत्यहि जानि सोय सुन्यागं
ब्रह्मचर्य दृढ गहै क्षमा धृति सो अनुरागे
दया बड़ो गुन होइ. आज्जव हृदय सुजाने
मिताहार पुनि करे, शौच नीको विधि जाने[३]

संत मलूक ने भी 'यमों' के महत्त्व को स्वीकार किया है—

संत. अहिंसा ब्रह्मचर्य परधन तजब विकार
दया आर्जव छमा सौच पुनि संग्रह नित्याहार'[४]

चित की शुद्धि एवं एकाग्रता के लिए 'नियमों' को भी आवश्यक माना गया है।[५] हठयोग प्रदीपिका में नियम दस माने गए हैं।[६] संत सुन्दरदास कहते हैं—

'तप सन्तोषहि ग्रहै बुद्धि आस्तजय सुआनय
दान समुभि करि देह मानसी पूजा ठानय

---

१. अहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्या परिग्रहा यमाः —योगसूत्र २।३०।
२. "धन जोवन की करै न आस, चित न राखे कामनि पास"
—गोरखवानी, पृ० ७।
३. सुन्दर ग्रन्थावली–भाग २, पृ० ६५६।
४. मलूक दास की बानी–पृ० ७।
५. देखिए इसी अभिलेख का द्वितीय अध्याय, पृ० ६५।
६. तपः सन्तोष आस्तिक्य दानमीश्वरपुजनम्।
सिद्धान्तवाक्यश्रवणं ह्रीमती च तपो हुतम्।
नियमा दश सम्प्रोक्ता योगशास्त्रविशारदैः।
—हठयोग प्रदीपिका–१।७६।

वचन सिद्धान्त सुसुनय लाजमति दृढ करि राषय
आप करय मुख मौन तहां लग वचन न भाषय ।[१]

शिव संहिता में योग की सफलता के लिए चौरासी आसन माने गए हैं। इनमें सिद्धासन, पद्मासन, उग्रासन और स्वस्तिकासन को श्रेष्ठ माना गया है ।[२] घेरण्ड संहिता में भी इन आसनों को प्रमुख माना गया है ।[३] भागवत में केवल स्वास्तिकासन का उल्लेख हुआ है ।[४] मध्यकालीन संतों ने भी शैवों के आसनों का और उनकी उपयुक्तता का अपने काव्य में उल्लेख किया है।

आसन

आसन का नियमित अभ्यास शरीर को हल्का स्वस्थ और स्थिर बनाने में सहायक होता हैं । कबीर भी आसन की दृढता के लिए बार-बार सचेत करते हुए कहते हैं—

'सहज लछिन लै तजौ उपाधि,
आसण दिढ़ निद्रा पुनि साधि ।
पुहप पत्र जहाँ हीरा मणि कहै,
कबीर तहाँ त्रिभुवन धणीं ।[५]'

संत चरनदास कहते हैं—

'आसन जो सिद्ध करे, त्रिकुटी में ध्यान धरे ।[६]'

एक अन्य स्थल पर उन्होंने कहा है—

"सोधे मूलबंध दे राखे आसन सिद्ध करै ।"[७]

---

१. डा० दीक्षित—सुन्दर दर्शन, पृ० ३२ ।
२. 'चतुर शीत्यासनानि सन्ति नानाविभानि च ।
सिद्धासनं ततः पाद्मासनं योग्रं च स्वस्तिकम् ।'
—शिव संहिता, पृ० ८३ ।
३. 'सिद्धं पद्मं तथा भद्रं मुक्तं वज्रं च स्वस्तिकम्' ।
—घेरण्ड संहिता ।
४. शुचौ देशे प्रतिष्ठाय विजितासन आसनम् ।
तस्मिन् स्वस्ति समासीन ऋजुकायः समभ्यसेत् ।'
—भागवत् ३।२८।८
५. कबीर ग्रन्थावली—पृ० ३२४ ।
६. चरनदास की बानी, भाग १, पृ० ४० ।
७. चरनदास की बानी, भाग २, पृ० ६ ।

पलटू साहब कहते हैं—

"पदम आसन नाहिं छूटैं आठ पहर लगावनं
करैं संजम लेय ओगरा साध रहनी लच्छनं"[१]

दयाबाई ने कहा है—

'पद्मासन सूं बैठ करि, अंतर दृष्टि लगाव।"[२]

संत किनाराम कहते हैं कि सिद्धासन लगाकर मन को स्थिर करो तब अमरपुरी में हीरा झलकेगा।[३] संत सुन्दरदास सिद्धासन का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

"सरल शरीर दृढ़ इन्द्रिय संयम करि
अचल ऊरथ दृश्यम् के मध्य ठानिए
मोक्ष के कपाट को उघारत अवश्यमेव
सुन्दर कहत सिद्ध आसन वषानिये"[४]

सिद्धासन का ऐसा ही वर्णन शिव संहिता में मिलता है।[५] इस युग के सन्त कवियों ने, सम्भव है, शैवों से प्रभावित हो आसन की दृढ़ता और रक्षा की बात पर विशेष बल दिया है।

योगासनों को सूफी कवि भी जानते हैं। कासिमशाह ने हंस जवाहिर ग्रन्थ में योग साधना के अन्तर्गत आसन की दृढ़ता पर विशेष बल दिया है—

"जो तों चहहि जवाहिर लीन्हा, तू कर योग गुरु जस दीन्हा
कहूँ योग की योगाचारी, ठाढ किया आंखों दुख भारी
दृढ़ आसन दृढ़ निद्रा होऊ, दृढ़ हो क्षुधा दृढ़ काम न होहू
यह चारों का आसन मारयो ....[६]

अली मुराद ने पद्मासन का उल्लेख किया है—

"पद्मासन गहि होरी गावै, मद बिरहा की गारी"[७]

---

१. पलटू साहब की बानी, पृ० ५१।
२. संतबानी संग्रह, भाग २, पृ० १६९।
३. किनाराम—विवेकसार, पृ० ३०।
४. सुन्दर ग्रन्थावली—भाग १, पृ० ४८५।
५. ऊर्ध्वं निरीक्ष्य भ्रूमध्यं निश्चलः संयतेन्द्रियः
विशेषो वक्रकायश्च रहस्यद्वेगवर्जितः
एवत्सद्धासनं ज्ञेयं सिद्धानां सिद्धि दायकम् —शिवसंहिता, पृ० ८३।
६. कासिमशाह—हंस जवाहिर-पृ० ११६।
७. अलीमुराद—कुंवरावत

सूफी काव्य में योगसाधना से सम्बन्धित उक्त तत्त्वों का विश्लेपण नवीन नहीं है। जायसी ने भी आसन के महत्त्व को स्वीकार किया है—

"चौरासी आसन पर जोगी, खट रस बंधन चतुर सो भोगी।"[1]

सूफी कवियों का नाथ सम्प्रदाय से निकट सम्पर्क रहा है। सम्भवतः उनकी योग साधना से प्रभावित होकर सूफी कवियों ने अपने प्रेमाख्यानों में योग साधना को महत्त्व दिया है। सूफी काव्य पर भी शैव योग के प्रभाव को भुलाया नहीं जा सकता।

प्राणायाम

योग साधना में आसन के पश्चात् प्राणायाम का स्थान है। शास्त्रोक्त विधि से अपने स्वाभाविक श्वास प्रश्वास को रोक लेना प्राणायाम कहलाता है। इसे प्राणों का आयाम भी कहा गया है। संत कवियों ने प्राणायाम का संकेत मन पवन साधना के रूप में किया है। संत इस वर्णन में नाथ परम्परा से दूर नहीं गए दिखलाई देते। नाथ सम्प्रदाय में भी, पवन साधना पर विशेष बल दिया गया है।[2] गोरखबानी में "प्राण को" "अरध" और "उरध" विचपरी उठाई कह कर प्राणायाम की योग्यता व्यक्त की गई है।[3]

मध्यकाल के संत गुलाल साहब पवन साधना की ओर संकेत करते हुएं कहते हैं—मन पवना को संगम कोई नर पाइया।[4]" एक अन्य स्थल पर उन्होंने कहा है—"ऊर्ध्व पवन ले थरो गगन में बोध करो विश्राम।[5] प्राण साधना से ही प्राणायाम सफल हो सकता है। यारी साहब ने भी प्राण और अपान साधना को विशेष महत्त्व दिया है। उनका कहना है—"लेके प्राण अपान मिलावे वाही पवन में गगन गरजावे।[6]" बुल्ला साहब ने भी पवन को बांध

---

१. जायसी ग्रन्थावली (१६३५ संस्करण), पृ० १५८।

२. "छसे सहंस इकबीस मेला, नष सष पवन ले बन्धिवा मेला"
—गोरखबानी, पृ० १६०।

३. "अरध उरध बिचि धरी उठाई, भवि सुनि में बैठा जाई
मतवाला की संगति आई, कथत गोरषना परम गति पाई।"
—वही, पृ० २८।

४. गुलाल साहब की बानी, पृ० ७०।

५. वही, पृ० ७।

६. यारी साहब की बानी, पृ० ७।

कर गगन की साधना करने का उपदेश दिया है—" बांध पवनहि साथ गगनहि गरज-गरज सुनावहीं ।"[१]

यों तो प्राणायाम का वर्णन वैष्णवों और सिद्धों की योग धारा में भी मिलता है। भागवत में प्राणायाम को दो प्रकार का माना है—अगर्भ और सगर्भ। जप और ध्यान के विना प्राणायाम को अगर्भ और जप-ध्यान सहित प्राणायाम को सगर्भ कहा गया है।[२] शैवों में ऐसा कोई भेद नहीं है। सिद्धों ने प्राणायाम में ललना-रसना (वाम-दक्षिण) का मार्ग निरोध कर मध्यमार्ग अवधूती में प्राण-वायु की प्रवृत्ति मानी है। सिद्ध योगधारा में तत्त्वों के मूल समान होते हुए भी विस्तार में भिन्नता दिखलाई देती है। संत साहित्य में प्रस्तुत प्राणायाम शैवों की परम्परा से मिलता है जो उन्हें नाथों से मिली है।

मध्यकालीन सूफी कवि अलीमुराद ने "कुंवरावत" में प्राण निरोध की क्रिया का वर्णन किया है। श्वास प्रश्वास के क्रमशः निरोध द्वारा श्वास को शीर्षस्थान पर ले जाया जाता है। यहां पहुंचने पर साधक का शिव संगम सहज हो जाता है—

"सांसा का तुम सीस चढायो.
घड़ी घड़ी बाहर मितराओ
....
"सांसा ले चल सीस पर बैठा निर्गुण गाव"[३]

योग साधना में प्राणायाम के साथ षट्कर्म,[४] मुद्रा,[५] नाड़ी विचार,[६] कुण्डलिनी उत्थापन[७] और चक्र वर्णन[८] की भी मान्यता है।

---

१. बुल्ला साहब की बानी, पृ० २।
२. भागवत—११।२४।३४।
३. अलीमुराद—कुंवरावत।
४. "धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा।
कपालपातिश्चैतानिषट् कर्माणि प्रचक्षते।।" —हठयोगप्रदीपिका २।२२।
५. "महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी
जालन्धरो मूलबन्धो विपरीतकृतिस्तथा।" —शिवसंहिता ४।२२-२६।
६. शिवसंहिता, पटल ५।
७. शिव संहिता, ५।१९३।
८. वही, ५।९५-१५२।

षट्कर्म—शारीरिक शुद्धता के लिए षट्कर्म आवश्यक माने गए हैं। संत कवियों में इनका दर्शन परम्परा के रूप में हुआ है। संत कबीर सम्भवतः साधना के प्रथम चरण में षट्कर्मादि में विश्वास करते थे—

'धोती नेती बस्ती लाओ आसन पदम जुगति
करवाओ, पहले मूल सुधार हो सारा[1]'

एक अन्य स्थल पर कबीर ने कहा है—

'षट् नेम कर कोठड़ी बांधी वस्तु अनूप बीच पाई[2]'

षट्कर्म द्वारा देह की शुद्धि होने पर शरीर में ही अनुपम वस्तु प्राप्त होती है।

मुद्रा

वायु साधना के लिए जिस प्रकार षट्कर्म का उपयोग होता है उसी प्रकार वायु के नियंत्रण के लिए मुद्रा का महत्त्व भी मध्यकालीन संत काव्य में मान्य रहा है। संतों की मुद्रा सिद्धों की मुद्रा से भिन्न है। सिद्धों में मुद्रा चार प्रकार की मानी गयी है—कर्म मुद्रा, धर्म मुद्रा, ज्ञान मुद्रा और महामुद्रा[3]। 'ये मुद्रा मोद प्रदान करने वाली हैं। बौद्धों की यह अपनी व्याख्या है। सिद्धों ने इस व्याख्या से मुद्रा को नारी रूप में परिकल्पित किया है।[4] सत्यान्वेषी संतों ने इस विश्लेषण को नहीं अपनाया। उन्होने मुद्राओं का वर्णन हठयोग प्रदीपिका[5] और गोरक्ष-पद्धति[6] के अनुरूप किया है। सुन्दरदास कहते हैं—

सुनि महामुद्रा महाबन्धः महावेध च खेचरी
उडयान बन्ध सु मूल बन्धहि बन्ध जालन्धर करी
विपरीतकरणी मुनि वज्रोली शक्ति चालन कीजिए
हम होइ योगी अमर काया शशि कला नित पीजिए[7]'

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३२४।
२. वही, पृ० ३२४।
३. दास गुप्ता—इन्ट्रोडक्शन टु तान्त्रिक बुद्धिज्म, पृ० १६६।
४. धर्मवीर—सिद्ध साहित्य, पृ० २२०।
५. हठयोग प्रदीपिका ३।४०, ३।७६।
६. गोरक्ष पद्धति पृ० ३३, ३८।
७. सुन्दर ग्रन्थावली—भाग १, पृ० ८००।
तुलना कीजिए—महामुद्रा महाबंधो महावेधश्य खेचरी।
उडयान मूलबंधश्च बंधो जालंधराभिवः
करणी विपरीतास्था वाज्रोली शक्ति चालनम्।
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशम्।
—हठयोग प्रदीपिका ३।६,७।

संत दरिया साहब (मारवाड़ बाले) ने भी अनेक मुद्राओं का वर्णन किया है—

चारि नारी षोडस दल हैं चक्र छवो निखेद
पांच मुद्रा जुवित जानहिं जोगिया निजुभेद
महामुद्रा सुन्न में जाहां सुरति सुखमन घाट
सहस्त्र दल के खूलबे ताहां, मुक्ति को निज घाट'[1]

दरिया साहब कहते हैं कि मनोन्मनी मुद्रा में पाँच पचीस को अपने आधीन कर लेने पर आत्मा को आनन्द प्राप्त होता है—

'सो मन शिव संग को बिलासी।[2]'

संत गरीबदास कहते हैं—

'तिरकुटी तीर बहु नीर नदियां बहें, सिंध सरवर भरे हंस हाया
खेचरी, भूचरी, चाचरी, उनमुनी अकल अगोचरी नाद हेरा
सुन्नसत लोक कू गमन संसा किया, अगमपुर धाम महबूब मेरा[3]'

उनका कहना है कि उनमनी मुद्रा में ही मन स्थिरता प्राप्त करता है—

'उनमुनी रेख ध्रुव ध्यान निःचल भया
उनमुन की तारी लगी, जंह अजय जयंता[4]'

संत भीखा साहब भी उनमनी मुद्रा में विश्वास प्रगट करते हैं। उनका कहना है—'सेवा मन उनमुनी लाया[5]' पलटू साहब को उनमुनी मुद्रा में ध्यान लगाने वाला मोनी ही प्रिय है—

'उनमनी मुद्रा ध्यान लगावै, मन में उलट समावै
निरविकार निरबेर जगत से, सो मोनी मोहि भावै[6]'

चरनदास ने मुद्राओं का वर्णन करते हुए कहा है—

'मूलहिं बन्ध लगाय, जुवित सूं मूंदि दई नव नारी
आसन पद्म महादृढ कीन्हों, हिरदय चिबुक लगाई'
आपा बिसारि प्रेम सुख पायो उनमुन लागी तारी[7]'

---

१. संत दरिया—शब्द (दरिया एक अनुशीलन—धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी), पृ० ९७।
२. संत दरिया—शब्द—ज्ञान स्वरोदय, पृ० १९९।
३. परशुराम चतुर्वेदी—संतकाव्य संग्रह, पृ० ३१६।
४. वही, पृ० ४५५।
५. वही, पृ० ४९१।
६. पलटू साहब की बानी, पृ० ८१।
७. चरनदास की बानी, भाग २, पृ० ३७।

कहना अत्युक्ति न होगा कि संतकाव्य में मुद्राओं का वर्णन शैव-योग दर्शन के प्रभाव का परिणाम है। संतों ने मुद्राओं के महत्त्व को तो स्वीकार किया ही है साथ ही उनका वर्णन हठयोग प्रदीपिका के अनुरूप भी किया है।[१]

प्राणायाम के सतत् अभ्यास से शरीरस्थ वायु नाड़ियाँ सक्रिय होती हैं जिससे साधक में योगिक क्रियाओं का विकास होता है।

नाड़ी विचार यों तो सिद्धों में भी नाड़ी साधना पाई जाती है। उनके अनुसार नाड़ियों की संख्या बतीस हैं जिनमें[२] तीन प्रमुख हैं— ललना, रसना और अवधूती। ललना वाम नासापुट के समीप मानी गयी है, चन्द्र स्वभाव की है और प्रज्ञा रूप है। रसना दक्षिण नासापुट के समीप है, सूर्य स्वभाव की है और उपाय रूप है। अवधूती इन दोनों के बीच स्थित है। यह क्लेशों को घुनने वाली है। इसी से उसका नाम अवधूती है। योग क्षेम में प्रज्ञा और उपाय का नाड़ी-परक अर्थ भी लिया गया है।[३] प्रज्ञा और उपाय क्रमशः 'इड़ा' और 'पिंगला' के वाचक माने गए हैं। इन दोनों के मध्य स्थित अवधूती नाड़ी महासुख (युगनद्ध) का प्रतीक कही गयी है।[४] शैवों ने सुषुम्ना (अवधूती) को श्रेष्ठ तीर्थ अथवा नरमगति कहा है तथा 'इड़ा' और 'पिंगला' को सूर्य और चन्द्र माना है। सिद्ध और शैवों में अन्तर स्पष्ट है।

मध्ययुग के सन्तों ने नाड़ियों को 'इड़ा' 'पिंगला' और 'सुषुम्ना' अथवा सूर्य, चन्द्र और अग्नि या गंगा, यमुना और सरस्वती कहा है। शिव संहिता में नाड़ियाँ बहत्तर हज़ार मानी गयी हैं।[५] कबीर ने बहत्तर हजार नाड़ियों को 'बहत्तर अधारी[६]' कहा है तथा एक अन्य स्थल पर 'बहत्तर घर' कहा है—

'बहित्तर घर एक पुरुष समाया।[७]'

संत काव्य में पाँच प्रमुख नाड़ियों ('इंगला' (इड़ा), पिंगला, सुषुम्ना व्रजा और

---

१. 'इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता
महाक्लेशादयो दोषा, क्षायंते मरणादयः
महामुद्रां च तेनेव वदंति विबुधोतमा' —हठयोग प्रदीपिका ३।१३।
२. प्रबोध चन्द्र बारची—दोहाकोश, पृ० १५९।
३. दासगुप्ता—इन्ट्रोडक्शन टु तान्त्रिक बोद्धिज्म, पृ० ११८।
४. वही, पृ० ११८।
५. शिव संहिता—२।१३।
६. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३०८।
७. वही, पृ० २७३।

ब्रह्मनाड़ी) को पंच पियारी[१] और पंच सखी[२] कहा गया है। कबीर कहते हैं कि इड़ा और पिंगला दो स्तम्भ हैं जिनमें वंकनालि-सुषुम्ना की डोर है और उस पर पांच ज्ञानेन्द्रियां झूलती हैं—

'चंद सूर दोई खंभवा, बंक नालि की डोरि
झूलें पंच पियारियां, तहां झूले जिय मोर[३]'

संत चरनदास पांच नाड़ियों का वर्णन करते हुए कहते हैं—

'पांच सखी पच्चीस सहेली अनंद मंगल गाइया
सुमति सांझ की बेरिया आई, पांच पचीस मिली आरति गाई[४]'

एक अन्य स्थल पर चरनदास ने कहा है कि पाँच सखियाँ काया महल में सदैव साथ रह कर आत्मानन्द प्राप्त कराने में सहयोगी सिद्ध होती हैं—

"पांच सखी लेलार हेली काया महल पग धरिये
जोग जुक्ति डोला करी, हेली प्रान अपान कहार"[५]

भीखा साहब कहते हैं—

"गावहिं पांच पचीसो गुनी
सुनत मगन ह्वैं साधू मुनी"[६]

एक अन्य स्थल पर होली का रूपक बांध कर उन्होंने कहा है—

"सतगुरु ज्ञान अबीर रंगलै, हद मरि दमहिं चलाई
पांच पचीस सखी जंह चाचरि, गांवहि अनहद डंक बजाई"[७]

संत किनाराम भी इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना की शुद्धि में विश्वास करते हुए कहते हैं—

"इंगल पिंगल सुषमनि सोधि के, उनमुनी रहनी"[८]

संत योगेश्वराचार्य कहते हैं कि इड़ा और पिंगला का शोधन करके सुषुम्ना की डगर पकड़नी चाहिए तथा पाँच को मार कर, पचीस को वश कर, नौ की

---

१. चरनदास की बानी–भाग २, पृ० २५।
२. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १४२।
३. वही, पृ० ८४।
४. चरनदासजी की बानी, पृ० ४८।
५. चरनदास की बानी, पृ० १०।
६. भीखा साहब की बानी–पृ० ६४।
७. वही, पृ० ५४।
८. धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी–संतमत का सरभंग सम्प्रदाय, पृ० ८२।

नगरी को जीतना चाहिए।[1] भिनकराम का कहना है कि शरीर में 'इड़ा' 'पिंगला' नाम की दो नदियाँ बहती हैं, जिनमें सुन्दर जल की धारा प्रवाहित है–

"इंगला पिंगला शोधन करिके, पकड़ा सुखमन डगरी
पांच के मारि, पचीस वश किन्हा जीत लिए नौ नगरी"[2]

अघोर संत किनाराम कहते हैं—

"बाम इंगला बसे पिंगला रवि गृह जानो
मध्य सुषुम्ना रहे शब्द सतगुरु सम मानो"[3]

संत सुन्दरदास ने नाड़ियों का वर्णन करते हुए कहा है—

"नाड़ी कही अनेक विधि, है दश मुख विचार
इड़ा पिंगला सुषुम्ना, सब मंहि ये त्रय सार"[4]

एक अन्य स्थल पर उन्होंने कहा है—

"बाम इड़ा स्वर जांनि चन्द्र मुनि कहियत वाकों
दक्षिण स्वर पिंगला सूरमय जांनहु ताको
मध्य सुषुम्ना वहे ताहि जानत नहिं कोई
है यह अग्नि स्वरूप काज याही है होई"[5]

संत गुलाल साहब नाड़ियों के द्वारा प्राणवायु की साधना से शरीरस्थ त्रिकुटी में अलौकिक आनन्द प्राप्त करने की अभिलाषा प्रगट करते हैं—

"पैठि पताल सूर ससि बांधों, साधो त्रिकुटी द्वार
गंग जमुन के वार पार बिच, भुरतु है अभिय करार
इंगला पिंगला सुखमन सोधो, बहतसिखर मुख धार"[6]

संत दरिया भी प्राणधारा को प्रवाहित करने वाली इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना का चित्रण करते हुए कहते हैं—

"इंगला पिंगला सुखमनि नारी, सार भवन तंह करे पुकारी"[7]

---

१. वही, पृ० ८२।

२. भिनकराम–स्वरूप प्रकाश, पृ० १३।

३. किनाराम–रामगीता, पृ० १३।
तुलना कीजिए —इड़ा नाम्ना तु या नाड़ी बाम मार्गे व्यवस्थिता
सुषुम्णायां समाश्लिष्य दक्ष नासा पुटे गाता
—शिव संहिता, पृ० ४२।

४. सुन्दर ग्रन्थावली, भाग १, पृ० ५०।

५. वही, पृ० ४५।

६. संतबानी संग्रह–भाग २, पृ० २०२।

७. दरिया सागर–५, १७, ५, १८, ५, १६, ।

* * *

"इंगला पिंगला सुखमनि फेरे, लाय कपाट गगन गहि घेरे"[१]

संत काव्य में नाड़ी वर्णन नवीन नहीं है। ऐसा ही वर्णन शिव संहिता में मिलता है।

"पिंगला नाम या नाड़ी दक्ष मार्ग व्यवस्थिता
मध्य नाड़ी समाश्लिष्य वाम नासा पुटे गता
इड़ा पिंगलयोर्मध्ये सुषुम्णाय भवेतवलु
षट्स्थानेषु च षट शक्ति षट पदम योगिनो विदुः"[२]

गोरखनाथ ने भी इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना का वर्णन किया है—

"अवधू इड़ा मारग चन्द्र भणीजे, प्यंगुला मारग मांमं
सुषम्ना मारग वांणी बोलिये त्रिय मूल अस्थानं"[३]

गोरखनाथ ने इड़ा नाड़ी को चन्द्र, पिंगला को भानु और सुषुम्ना को अग्नि कहा है। ये तीनों ही मूलस्थान (ब्रह्मरंध्र) तक पहुँचाते हैं। अतएव शैव साहित्य तथा गोरखनाथ और संत साहित्य की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि संत साहित्य में वर्णित योग तत्व शैव योग दर्शन के प्रभाव का परिणाम है। योग साधना में चक्रों का वर्णन शैवों के अतिरिक्त सहजयानियों और सिद्धों के साहित्य में भी मिलता हैं।

सहजयानियों ने शरीर में केवल तीन चक्र माने हैं। नाभि कमल पहला चक्र है उसे निर्माण काय का प्रतिरूप माना है। दूसरा चक्र हृदय में माना है, इसे धर्मकाय का वाचक कहा है। तीसरा चक्र कण्ठ के समीप माना है जो सहजकाय का द्योतक कहा गया है।[४] इन तीनों के ऊपर 'उष्णीश' कमल माना गया है। इसे महासुख कमल भी कहा गया है।[५]

चक्र वर्णन

सिद्धों ने चार चक्र माने हैं, जिनकी स्थिति मेरुदण्ड में है। ये क्रमशः नाभिकमल, हृत्कमल, सम्भोग चक्र तथा महासुख चक्र हैं। उन्होंने मेरुदण्ड को सुमेरू पर्वत के रूप में परिकल्पित करते हुए उसके शिखर पर महासुख चक्र या 'उष्णीश' कमल में 'नैरात्मा' का वास माना है। इसके मूल में नाभि चक्र है

---

१. वही–(धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी), पृ० ३९, ४०।
२. शिव संहिता–पृ० ४२।
३. गोरखबानी, पृ० ३३।
४, डा० एस. बी. गुप्ता–आब्सक्योर रिलीजस कल्टस, पृ० १०६।
५. विन्टरनिट्ज—इण्डियन लिटरेचर-भाग २, पृ० ३८८।

जिसमें बोधिचित्त शुक्र रूप में वास करता है। इसके बीच में दो चक्र और हृदयप्रदेश तथा कण्ठ के समीप हैं। इन चारों चक्रों में बुद्ध की चार कायाओं का वास माना गया है। इन चक्रों में क्रमशः चौसठ, बत्तीस, सोलह व छः पंखुरी[1] मानी गयी हैं।

शैवों ने छः चक्र माने हैं[2]—मूलाधार स्वाधिष्ठान, मणि-पूरक, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा चक्र। इनके अतिरिक्त सहस्रार कमल के अस्तित्व को भी स्वीकार किया है।

संत कवियों ने सहजयानियों की तरह न तो शरीर में तीन चक्र माने हैं और न सिद्धों की तरह चार चक्र। उन्होंने शैवों के अनुसार षटचक्र और सहस्रदल कमल की स्थिति शरीर में मानी है। अतः सन्त कवियों पर शैवों का प्रभाव परिलक्षित होता है।

संत कबीर ने षट्चक्र भेदने की वात कही है।

"षट्चक्र केवल बेधा, जारि उजारा कीन्हा।"[3]

इन चक्रों का भेदन पवन को उलटने पर एवं सुषुम्ना में वायु के प्रविष्ट होने पर होता है—

"उलटे पवन चक्र षटवेधा, मेर डंडसर पूर"[4]

संत दरिया विभिन्न चक्रों का वर्णन करते हुए कहते हैं—

"त्रिवेनी त्रिकुटी भंवर गोंफा में द्वादस उलटि चलावंता
छव चक्र भेद प्रगट है, सुखमनि सुरति जगावंता
अष्टदल कंवल भंवर तेहि भीतर अनमुनि प्रेम लगावंता"[5]

प्रथमचक्र मूलाधार चक्र के महत्त्व की ओर संकेत करते हुए उन्होंने कहा है—

"छव चक्र खोजि करो निवास
मूल चक्र मंह जिव को वास"[6]

---

१. दास गुप्ता—इन्ट्रोडक्शन टु तान्त्रिक बुद्धिज्म, पृ० १६३।
२. देखिए—इसी अभिलेख का द्वितीय अध्याय।
३. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १५९।
४. वही, पृ० ९०।
५. दरिया-शब्द (संत दरिया एक अनुशीलन–धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी), पृ० १०८।
६. वही, पृ० १०९।

संत दरिया साहब ने यह बात नई नहीं कही है। उनसे पहले संत कबीर ने 'मूलाधार' का वर्णन किया है—

"अरध उरध गंगा जमुना, मूल कंवल को घाट।"[1]

संत भिनकराम भी कहते हैं कि मूल चक्र की शुद्धि करो—

"मूल चक्र विमल होय सोधो
त्रिकुटी के श्वासा धरल।"[2]

संत रामस्वरूप राम लिखते हैं कि जीवात्मा का मूल निवास मूलचक्र पर है—

"मूल चक्र पर तुम्हारो वासा, चार दल ताहां कमल प्रकासा।
खटदल में ब्रह्म रहै समाई, जहां कमलनाल सोहाई
अष्टदल कमल विष्णु के बासा, ताहां सोहंग करे निवासा
छाडस खोडस सुरति समावै, शिव शक्ति के दर्शन पावे"[3]

संत काव्य में षट्चक्र वर्णन नावों की परम्परा का विकसित रूप है। सन्तों ने चक्र वर्णन में गोरखनाथ का अनुकरण किया प्रतीत होता है। गोरखबानी में कहा गया है कि संन्यासी वही है जो प्राण वायु को उलट कर छहों चक्रों को वेध लेता है और चन्द्रमा व सूर्य को सुषुम्ना में निमज्जित कर देता है।[4]

संतों ने दूसरे चक्र स्वाधिष्ठान के छः दल बतलाये हैं। कबीर ने परमेश्वर को षट्दल निवासी कहा है "षट्दल कंवल निवासिया।" तीसरा चक्र मणिपूरक माना गया है। चौथा चक्र 'अनाहत' चक्र है जिसको हृदय चक्र भी कहा गया है। इसके विषय में कबीर ने कहा है—

"अष्ट कंवल दल भीतरा, तहां श्री रंग केलि कराई रे।"[5]

पलटू साहब कहते हैं—

"अष्ट दल कंवल फूले, ध्यान केमठ लगावनं।"[6]

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८४।
२. भिनकराम—पद १७।
३. उलटिया पवन षटचक्र बेधिया, ताते लोहे सोषिया पांणी
चंद सूर दोऊ निज धरि राख्या, ऐसा अलख बिनांणी॥
—गोरखबानी, पृ० ३६।
४. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८८।
५. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८८।
६. पलटू साहब की बानी, पृ० ४४।

दरिया साहब भी इस चक्र के महत्त्व को स्वीकार करते हैं—

"अष्ट दल कवल झरोखा,[1] तहवा विमल रस योगी"

यारी साहब इस चक्र का वर्णन करते हुए कहते हैं—

"अष्ट दल के कमल भीतर, बोलता हुआ एक सुआ"[2]

पांचवा विशुद्ध चक्र है। संत कबीर इसके सोलह दलों की ओर संकेत करते हुए कहते हैं—

"षोडस कंवल जब चेतिया, तब मिलि है श्री बनवारि रे।"[3]

संत काव्य में आज्ञा चक्र का छठा स्थान है। इस चक्र का ध्यान और समाधि से अत्यधिक सम्बन्ध है। यही 'प्रणव' का निवास स्थान माना जाता है।[4] इसे ही वाराणसी माना गया है। इसमें स्नान का[5] विशेष महत्त्व है जिसका वर्णन आध्यात्मिक भूमिका में किया गया है। सहस्रार चक्र को अधोमुखी कहा गया है।[6] यहीं पर कैलास माना गया है, इसी में शिव विराजमान हैं।[7] इस चक्र को 'शून्य' एवं ब्रह्मरन्ध्र' भी कहा गया है।[8] साधक साधना की चरमावस्था पर पहुंच कर इस चक्र के आनन्द को प्राप्त करता है।

सूफियों के नक्शबन्दी[9] सम्प्रदाय के शेख अहमद ने मनुष्य के शरीर में छः अवस्थान बतलाये हैं—नफ्स, कल्ब, रुह, सिर्र, खफी और अल्फा। नफ्स नाभि के नीचे, कल्ब छाती की बायीं ओर, रुह छाती में बायीं ओर, सिर्र छाती के बीचोंबीच, खफी ललाट में और अल्फा मस्तिक में माने गए हैं। नाथों की षट्चक्र परम्परा से इनकी तुलना करने पर प्रतीत होता है कि नाथों का मूलाधार चक्र 'मेरु' के मूल में स्थित माना गया है जब कि सूफियों के प्रथम चक्र की स्थिति नाभि के पास मानी गयी है जहां नाथों का तीसरा चक्र मणिपुर

---

१. दरिया साहब के चुने हुए पद, पृ० ३२।
२. यारी साहब की रत्नावली, पृ० ३।
३. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८८।
४. देखिए—इसी अभिलेख का दूसरा अध्याय।
५. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८८।
६. शिव संहिता—५।१६०, १८०।
७. देखिए—इसी अभिलेख का द्वितीय अध्याय।
८. वही, पृ० १०८।
९. धर्मवीर भारती—सिद्ध साहित्य—पृ० ३९६।

माना गया है। नाथ परम्परा में हृदय के समीप केवल एक 'अनहद' चक्र है जब कि सूफी परम्परा में तीन (कल्ब, रुह, सिर्र) चक्रों की स्थिति हृदय में ही मानी गयी है। जायसी ने चार चक्रों का उल्लेख किया है—

"चारिहुं चक्र फिरे मन खोजत, दंड न रहे न थिर मार"[१]

ऐसा प्रतीत होता है कि 'कल्ब' 'रुह' और 'सिर्र' को एक ही चक्र के तीन दल मान कर जायसी ने स्तर की दृष्टि से चार ही खण्ड माने हैं—नाभि में नफ्स हृदय में कल्ब, रुह, सिर्र तथा ललाट में सफी और मस्तिष्क में अलफा। अतएव यह अनुमान किया जा सकता है कि सूफी नाथों की चक्र योजना से परिचित रहे होंगे।

इस विवेचन के आधार पर यह अनुमान कर लेना कि संत और सूफी काव्य पर शैव योग परम्परा का प्रभाव चला आया है अनुचित न होगा। प्रभाव की परम्परा नाथों से सन्तों और सूफियों को मिली है। यह अनुमान भी असिद्ध नहीं है। कुछ नाम बदले हुए हैं कुछ विस्तार भिन्न है किन्तु तात्विक भूमिका में कोई अन्तर नहीं हैं।

इन्द्रियों को चित्त के आधीन करना प्रत्याहार है। गोरक्षपद्धति में इन्द्रियों को विषय से अलग करना प्रत्याहार कहा गया है।[२]

प्रत्याहार

वैष्णव सम्प्रदाय में इन्द्रियों को विषय से विमुख करना प्रत्याहार माना गया है। सिद्धों में वाह्य रूपादि में अप्रवृति तथा बुद्ध विम्ब दर्शन को प्रत्याहार कहा गया है।[३]

शिव संहिता[४] तथा हठयोग-प्रदीपिका[५] में प्रत्याहार के साधनों का वर्णन है। ये साधन पद्मासन से बैठकर कुम्भक के द्वारा श्वासोच्छ्वास की गति अवरुद्ध करना, सिद्धासन से बैठकर त्रिकुटी अथवा नासिकाग्र पर विमेषोन्मेष रहित दृष्टि स्थित करना, मूर्छा प्राणायाम का अभ्यास, प्रणव जप एवं विपरीत-करणी मुद्रा के अभ्यास से मनोवृत्ति को श्वासोच्छ्वास के लयोद्भव स्थान में स्थिर करना है। पातंजल योगसूत्र में इन साधनों का उल्लेख नहीं हुआ है।[६]

---

१. जायसी ग्रन्थावली—पद्मावत (सं० २०१७), पृ० ७२।
२. देखिए—इसी अभिलेख का द्वितीय अध्याय।
३. डा० धर्मवीर भारती—सिद्ध साहित्य, पृ० २१०।
४. शिव संहिता २।१७-२०।
५. हठयोग प्रदीपिका—३।७६।
६. पातंजल योगदर्शन।

वैष्णव सम्प्रदाय में योग भक्ति का साधन है अतः वहां भी इनका अभाव है। सिद्धों में ऐसा विस्तृत विवेचन नहीं हुआ है। इन साधनों का सम्बन्ध विशेषतः शैवों से रहा है।

संतों ने शैवों के प्रत्याहार के प्रायः सभी साधनों को अपनाया है। सन्त सुन्दरदास ने प्रत्याहार के अन्तर्गत इन्द्रियों के निग्रह पर विशेष बल दिया है। उनका कहना है कि जिस प्रकार कछुवा अपने हाथ पैर और सिर अन्दर कर लेता है उसी प्रकार साधक को अपनी इन्द्रियों को अन्तर्मुखी कर लेना चाहिये—

"श्रवण शब्द कों गहत हैं नयन ग्रह हैं रूप
गंध ग्रहत हैं नासिका रसना रस की चूप
* * *
कूर्म अंग्रहि ग्रहै प्रभा रवि कर्षय द्रवणं"
इम करि प्रत्याहार विषय शब्दादिक श्रवणं"[1]

पद्मासन में बैठकर कुम्भक के द्वारा श्वासोच्छ्वास की गति अवरुद्ध करने का आदेश संत कवियों ने दिया है। पलटू साहब के अनुसार योगी का कर्तव्य है कि वह सदाचार पूर्वक साधु जीवन व्यतीत करते हुए, आठों पहर पद्मासन से बैठा रहे तथा दसों द्वार वन्द कर श्वासोच्छ्वास की गति रोके।[2] संत चरनदास ने सिद्धासन में बैठ कर त्रिकुटी पर ध्यान लगाने का आदेश दिया है।[3] दया बाई ने "नासा आगे दृष्टी धरि श्वांसा में मन राखि"[4] द्वारा प्रत्याहार की ओर संकेत किया है।

प्रत्याहार का 'प्रणव' जाप भी एक साधन है। प्रणव जप को सोऽहं जप भी कहा गया है। सोऽहं शब्द कुण्डलिनी की साम्यावस्था है, जिसकी

---

१. डा० दीक्षित—सुन्दर दर्शन, पृ० ४६।
२. पलटू साहब की बानी, भाग ३, पृ० ५१।
३. चरनदास की बानी, भाग २, पृ० ६।
तुलना कीजिए—
ऊं आसण करि पदम आसण बंधि, पिछले आसण पवनां संधि।
मन मुछावें लावे ताली, गगन सिषर में होइ उजाली
प्रथमि बैंसि बाई दर बंधि, पवनां षेले चौसठ संधि
नव दरवाजा देवे ताली, दसवां मधे होइ उजासी
मन पवन ले उनमनि रहे, तो काया जगजे गोरष कहै।
—गोरखबानी, पृ० १७४।
४. दयाबाई की बानी, पृ० १०।

अनुभूति आज्ञाचक्र में होती है। यही अनहद ध्वनि है जो पहले अव्यक्त रूप से आज्ञा चक्र में मनोनभूत होती है और अनाहत चक्र में श्रवेणन्द्रिय का द्योतक होती है। योग की प्रक्रिया में 'सोऽहं' का जप आवश्यक है। मन की एकाग्रता और प्राणायाम की साधना 'अजपाजप' की प्रथम सीढ़ी है। जीव के श्वास[1] प्रश्वास के साथ यह जाप चलता रहता है। नाथ सम्प्रदाय में 'सोऽहं' मंत्र की प्रधानता रही है।[2]

यों तो सिद्धों की पद्धति में श्वास का निरोध कर चण्डाग्नि प्रज्वलित की जाती है 'एवं' बीजाक्षर को ध्यान में लाकर इस प्रकार साधना की जाती है जिससे यह शब्द प्रत्येक श्वास-प्रश्वास से स्वतः निकलने लग जाय।

संत कवियों ने सिद्धों के 'एवं' शब्द को न अपनाकर नाथों के 'सोऽहं' शब्द को अपनाया है। नाम स्मरण अथवा 'अजपाजप' की यह क्रिया परम्परा के रूप में सन्तों को नाथों से प्राप्त हुई। संतों पर नाथ सम्प्रदाय का अपरिलक्षित प्रभाव कहा जा सकता है। कबीर कहते हैं कि मन के अन्तर्मुख होने पर, अजपाजाप में मस्त होने पर, मुख से बोलने का अवकाश नहीं रहता। प्रार्थनात्मक मनोवृत्ति की चरम सीमा पर पहुँच कर 'ओठों वाला' जप छूट जाता है, जीवन का जाप प्रारम्भ होता है—

'बिनहीं मुख के जप करो, नहिं जीभ डुलावो'[3]

एक अन्य स्थल पर कबीर कहते हैं—

"जागन में सोवन करै, सोवन में लो लाय,
सुरति डोर लागी रहै, तार टूट नहिं जाय"[4]

श्वास-प्रश्वास की डोरी पर 'हंस' मंत्र का जप चलता रहता है—

"गगन मंडल के बीच में, जहां सोहंगम डोरि
सबद अनाहद होत है.... ....[5]

---

१. हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः
हंसहंसेत्यमुं, मंत्रं जीवो जपति सर्वदा।'

२. 'अपरा निरमल पाप न पुंनि, सत रज विवरजित सुंनि
सोहं हंसा सुमिरे सबद, तिहि मरमारथ अनंत सिव'।
—गोरखबानी, पृ० १७

३. संतबानी संग्रह, भाग ३ (कबीर साहब), पृ० २।

४. संतबानी संग्रह, भाग १. पृ० ६०।

५. वही, पृ० ७।

संत मलूकदास ने भी ऐसे जप को महत्त्व दिया है ।

"सुमिरन ऐसा कीजिये, दूजा लखे न कोय
ओंठ न फरकत देखिए, प्रेम राखिए गोए
माला जपों न कर जपों, जिभ्या कहों न राम
सुमिरन मेरा हरि करै, मैं पाया बिसराम"[१]

संत जगजीवन साहब कहते हैं कि 'अजपा' के लिए साधक को मैं, तें नष्ट कर, चित्त में सुरति की माला द्वारा निरन्तर जप में लीन रहना पड़ता है—

"भारि में तें लाय डोरि, पवन थाम्हे रहै
चित्त कर तहै सुमति साधु, सुरति माला गहै"[२]

दरिया साहब (विहार वाले) 'सुमिरत' माला का वर्णन करते हुए कहते हैं—

"सुमिरन" माला भेष नहिं, नहि भसी को अंक
संत सुकृत दृढ लाइ कै, तब तोरे गढ़ बंक ।"[३]

संत चरनदास कहते हैं कि 'सोऽहं' की माला द्वारा ही आत्मा का दर्पण उज्जवल हो सकता है । माला का जप मन ही मन आवश्यक है—

"नाम उठाकर नाभि सूं गगन मांहि ले जाय
मन ही मन में जाप करि, दरपन उज्जवल होय"[४]

सहजोबाई 'अजपाजप' का वर्णन करती हुई कहती हैं—

"हक्कारे अठि नाम सूं, सक्कारे होय लीन
सहजो अजपाजप यह, चरनदास कहि दीन
सब घट अजपाजप है, हंसा सोहं पुर्ष
सुरत हिय ठहराय के, सहजो या विधि निर्ख"[५]

"रोम रोम परकास है, देंही अजपाजाप,"[६] कह कर संत गरीबदास 'अजपाजप' के महत्त्व को बतलाते हैं । साधक 'अजपा' में अपने को लीन कर देता है । भीखा साहब ने कहा है—

---

१. वही, पृ० १०० ।
२. वही, भाग २, पृ० १४४ ।
३. संतबानी संग्रह, भाग १, पृ० १२२ ।
४. चरनदास की बानी, भाग १, पृ० ३२ ।
५. संतबानी संग्रह भाग १, पृ० १६२ ।
६. वही, पृ० १८१ ।

'अजपाजाप अकथ को कथनो, अलख लखन किनपाए"[1]

संत किनाराम अजपाजप के लिए कहते हैं—

"सो शिव तोहिं कहत हों अबहीं, सोहम् मंत्र न संशय कवहीं
सहज मुखाकार मंत्र कहावे, जाहि जपे तें बहुरि न आवे
सहज प्रकास निरास अमानी, रहनि कहों यह अजपाजानि
जहां तहां यह मंत्र विचारे, काम क्रोध की गरदन मारे"[2]

संत अलखानन्द ने 'सोऽहं' की विधि का विश्लेषण करते हुए कहा है कि अन्दर जाने वाला श्वास 'सो-सो' की ध्वनि करता हुआ त्रिकुटी की ओर जाता है और 'हं-हं' करता हुआ बाहर निकलता है। 'सो' शक्ति का प्रतीक है और 'हं' महादेव का और 'सोऽहं' शब्द शिव-शक्ति के संयोग का प्रतीक है।[3] 'अजपाजप' के लिए स्थिरता पूर्वक ध्यान लगाना और आत्म तत्त्व तथा परमात्म तत्त्व में[4] अभेद स्थापित करना आवश्यक है 'अजपाजप' एक साधना है। संत कवियों ने इसे नाथों से लिया प्रतीत होता है। गोरक्षपद्धति[5] में 'अजपाजप' का उल्लेख है। शैवों में इसके समान दूसरा जप नहीं है।

प्रत्याहार का प्रणव जाप के अतिरिक्त एक और साधन विपरीतकरणी मुद्रा है, जिसके अभ्यास से मनोवृति को श्वासोच्छ्वास के लयोद्भव स्थान में स्थिर करना है। इस मुद्रा के द्वारा योगी शरीरस्थ सूर्य को ऊपर कर देते हैं और चन्द्र को नीचे कर देते हैं[6] जिससे सूर्य चन्द्र से झरने वाले अमृत को सुखा

---

१. वही, भाग २, पृ० २०८।

२. किनाराम—विवेकसार, पृ० २४–२५।

३. स्वासे स्वासे सो सो करता त्रिकुटी को धावता
हं हं करते स्वासे स्वासे बाहरि को आवता
सो सो सो सो शक्ति मानो हं हं महादेवता,
शक्ति शिव सबको घट में बाहरि क्यों धावता।
अलखानन्द—निर्पक्ष वेदान्त राम सागर, पृ० ३३।

४. बेदी पे दृढ़ गहि करे, जपे सो अजपाजाप
आपु विचारे आपु में आपु आपु मंह होइ
आपु निरन्तर रमि रहैं, यह पद पावे सोइ"
किनाराम–विवेकसार–पृ० २३।

५. गोरक्षपद्धति, पृ० २२–२३।

६. ऊर्ध्वनाभेरधस्तालोरुर्ध्वंभानुरधः शशी
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते। —हठयोगप्रदीपिका ३।७९।

नहीं पाता ।[१] मूलाधार चक्र से उर्ध्वोन्मुख कुण्डलिनी इस महारस का पान करने में समर्थ होती है । कबीर का कथन है—

"उलटि गंग संमुद्रहि सोखे, ससिहर सूर गरासे
धरती उलटि अकासहि ग्रासै, यहु पुरिसां की बांणी"[२]

संत यारीसाहब ने लिखा है—

"ऐन इनायत हरि की पढै चन्द उतारै सूरज चढ़ै ।"[३]

संत कवियों ने विपरीतकरणी मुद्रा का वर्णन करते हुए सहस्रार को श्वासोच्छ्वास का लयोद्भव स्थान माना है ।[४] इस सहस्रार में ही मनोवृत्ति को स्थिर करना पड़ता है । संतों ने सुरति को मनोवृत्ति रूप में चित्रित कर उसे सहस्रार में लीन करने की अभिलाषा व्यक्त की है । उस दशा में सुरति योग को प्रत्याहार का साधन मानना अधिक उपयुक्त होगा ।

सुरति योग में अजपा का भी महत्त्वपूर्ण योग है । अजपा की ध्यानमयी स्थिति सुरति–दशा में रहती है किन्तु जब निरति दशा में ध्यान भी विलीन हो जाता है तो साधक निरालम्ब दशा निमग्न हो जाता है । अजपा की ध्यान स्थिति भी सुरति के समान निरालंब या शून्य दशा में विलीन होती है ।[५]

सन्तों के शब्द–सुरति योग को समझने के लिए औपनिषदिक एवं नाथ परम्पराओं को ध्यान में रखना पड़ेगा । कठोपनिषद्[६] में कहा गया है कि जीव बाह्य विषयों को देखता है अन्तरात्मा को नहीं । वहिर्मुखी वृत्तियों को अन्तर्मुखी कर लेने पर ही आत्मा के दर्शन होते हैं । नाथ पंथ में भी सुरति को बहुत महत्त्व मिला है । सुरति को चित्तवृत्ति अथवा मन की वृत्ति माना है ।[७] अतः यह कहा जा सकता है कि सन्तों ने सुरति शब्द का प्रयोग प्रायः

---

१. शिव संहिता, २।१७।२० ।
२. कबीर ग्रंथावली, पृ० १२३ ।
३. यारी साहब की बानी, पृ० ११ ।
४. डा० त्रिगुणायत, हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृ० ४९० ।
५. डा० सरनामसिंह शर्मा, कबीर एक विवेचन, पृ० ५४६ ।
६. कठोपनिषद्, १।१।१ ।
७. अवधू सुरति मुषि बैठी सुरति मुषि चलै ।
सुरति मुषि बोलै सुरति मुषि मिलै ।। —गोरखबानी—पृ० १९६ ।

परपंरागत ग्रथों में ही किया है। वे इसको प्रत्याहार का साधन भी मानते रहे होंगें। कबीर कहते हैं—

"जाप मरै अजपा मरै, अनहद भी मरि जाय
सुरत समानी सब्द में, ताहि काल नहिं खाय[१]"

संत दादू कहते हैं—

"सुरति अपूठी फेरि करि, आतम माहैं आण।[२]"

संत गरीबदास ने सुरति का वर्णन करते हुए कहा है—

"सुरत लगे अरु मन लगे, लगे निरत घुन ध्यान
चार जुगन की बंदगी, एक हलक परमान[३]"

संत तुलसी साहब कहते हैं कि सुरति की शरण में रहकर जीव सभी उपाधियों से निवृत होता है।[४] एक अन्य स्थल पर उन्होंने कहा है—

"सुरत डोर सतगुरु गहै, रहै चरन के मांहि
सुन्न सुरत मिल सबदही, डोरिहि डोरि समाय"[५]

इस युग के सूफी काव्य में योग साधना की ओर संकेत तो अवश्य रहा है, किन्तु ये योग तत्त्वों के विस्तार में नहीं गए प्रतीत होते हैं। इनके काव्य में अनहद नाद श्रवण का उल्लेख तो हुआ है परन्तु प्रत्याहार के विभिन्न साधनों के विश्लेषण का अभाव है।

भारतीय योग दर्शन की एक परम्परा रही है शैव, शाक्त, वैष्णव और सिद्ध सम्प्रदाय सभी ने योग को न्यूनाधिक रूप में अपनाया है। शैवों में योग के तत्त्वों का विश्लेषण और विस्तार अधिक एवं गहराई के साथ हुआ है। संतों ने योग की कायिक भूमिका का विश्लेषण कर यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार आदि तत्त्वों के विस्तार में शैव योग परम्परा को अपनाया है।

मानसिक भूमिका—योग की कायिक भूमिका पर साधक चित्तवृत्ति का का निरोध, शारीरिक दृढ़ता और चित्त की निर्मलता प्राप्त करता है। मानसिक भूमिका में साधक चित्त की शुद्धता, धारणा और ध्यान द्वारा समाधि प्राप्त करता है।

---

१. संतबानी संग्रह, भाग १, पृ० ७
२. वही, पृ० ८२।
३. संतबानी संग्रह, भाग १, पृ० १८७।
४. संतबानी संग्रह, भाग १, पृ० २२७।
५. संतबानी संग्रह, पृ० २३२।

सभी सम्प्रदायों में चित्त की शुद्धता, धारणा और ध्यान का महत्त्व रहा है। सगुण भक्ति धारा में चित्त की निर्मलता तो भक्ति के लिए अनिवार्य मानी गयी है तथापि इसकी प्राप्ति के लिए योग साधना का सगुण भक्ति धारा में अभाव रहा है। सिद्धों में भी चित्तशुद्धि के लिए 'प्रज्ञोपाय' की धारणा और ध्यान को महत्त्व मिला है।[1] शैवों ने चित्त की निर्मलता के लिए 'शून्य' में ध्यान, धारणा पर बल दिया है। संत कवियों ने शैवों के 'शून्य' में ध्यान, धारणा को अपनाया है। सम्भवतः उन पर शैवों का भी प्रभाव रहा। चित्त को लक्ष्य कर संत किनाराम कहते हैं कि—

चित्त—चंचल मन का प्रभुत्व सभी में व्याप्त है,[2] इसका नियंत्रण कर लोक कल्याण करने से ही मोक्ष मिलता है।[3] मन के वश में होकर जीव लोभ के समुद्र में डूबते उतराते रहते हैं। रातदिन विकल होकर हाय हाय करते हैं—

"चिन्ता के समुद्र साचि अहमित तरंगतोम
होत हो मगन यासों कहत हों जनाय के
रामकिना दीन दिल बालक तिहारो अहे
एसे ही बितेहों कि चिते हो चित लाय के"[4]

संत आनन्द कहते हैं कि काम, क्रोध और लोभ फकीरों की गिजा है, यह विषय-वासना में लिप्त मनुष्य के लिए विष है।[5] विषय वासनाओं से रहित चित्त एक रूप हो जाता है। दादू चित्त की एकाग्रता से प्राप्त आनन्द का वर्णन करते हैं—

"सहज रूप मन का भया, जब द्वै द्वै मिटी तरंग
ताता सीला सम भया, तब दादू एकै अंग"[6]

---

१. धर्मवीर भारती, सिद्ध साहित्य, पृ० २०७।

२. मन चंचल गुरु कही दिखाइ
जाकी सकल लोक प्रभुताई। —किनाराम, विवेकसार, पृ० १३।

३. मन के हाथ सकल अधिकारा
जो हित करै तो पावै पारा। —वही, पृ० ११।

४. किनाराम, गीतावाली, पृ० १६।

५. "काम और क्रोध लोभ रोजा है फकीरों का
शाहों से जहर यह कभी खाया न जायगा"
तख्यलाते आनन्द—पृ० २२।

६. संतबानी संग्रह, भाग १, पृ० ८६।

इन्द्रियो और उनके राजा मन को वश में करना अनिवार्य है। मन का निरोध ही मनोजय है मन को जीत कर योगी धारणा और ध्यान के सहारे उसे सहस्रार में स्थित करता है।

धारणा व ध्यान चित्त को एक देश विशेष में स्थिर करना धारणा है और धारणा की भूमि पर चित्तवृत्ति का अखण्ड प्रवाह ध्यान है।[1] भागवत में 'प्रत्यय' की एकतानता को ध्यान कहा है। धारणा और ध्यान के लिए भागवत में कहा गया है कि 'हृदय' में भगवान् के स्वरूप को धारण कर, भगवान् के प्रत्येक अंग का ध्यान करना चाहिये[2]। ध्यान तीन प्रकार का माना गया है—स्थूल ध्यान, ज्योतिरध्यान, सूक्ष्मध्यान।[3] शैवयोग साधना में अन्तिम दो ही मान्य हैं। संत कवियों ने ज्योतिरध्यान और सूक्ष्मध्यान को अपनाया है स्थूल ध्यान को नहीं। रूपातीत ज्ञान का वर्णन करते हुए सुन्दरदास कहते हैं—

> यह रूपातीत जु शून्य ध्यान, कुछु रूप न रेष न है निदान
> तहां अष्ट प्रहर लों चित्त लीन, पुनि सावधान ह्वै अतिप्रवीन
> ईहि शून्य सम और नाहि, उत्कृष्ट ध्यान सबध्यान मांही।[4]

ज्योतिरध्यान की ओर संकेत करते हुए दयाबाई ने कहा है—

> "दया ध्यान त्रिपुटी धरै परमातम दरशाय"[5]

यारी साहब ने—"त्रिपुटी संगम ज्योति है रे तहं देखि लेवै गुरु ग्यान सेती[6]" तथा बुल्ला साहब ने—"झिलमिल झिलमिल त्रिपुटी ध्यान"[7] कह कर ज्योतिरध्यान की ओर ही संकेत किया है।

शून्य नाद—संतों की बानियों में सूक्ष्म ध्यान का वर्णन 'नाद' और 'शून्य' नाम से मिलता है। संत यारी साहब कहते हैं—

> "नाद बरन जो लावे ध्यान, सो जोगी जुग जुग परमान"[8]

---

१. देखिए—इसी अभिलेख का द्वितीय अध्याय।
२. भागवत, ३।२८।११।
३. देखिए—इसी अभिलेख का द्वितीय अध्याय।
४. डा० दीक्षित, सुन्दर दर्शन, पृ० ४६।
५. दयाबाई की बानी, पृ० १०।
६. यारी साहब की बानी, पृ० २०।
७. बुल्ला साहब की रत्नावली, पृ० २८।
८. यारी साहब की रत्नावली, पृ० ६।

'शून्य ध्यान का वर्णन प्रायः सभी सन्तों ने किया है। कबीर भी 'शून्य' में ध्यान लगाते हैं—

गंग जमुन उर उतरे, सहज सुंनि ल्यो घाट
तहां कबीरे मठ रच्या, मुनि जन जोवे बाट।[1]

संत रेदास कहते हैं—

सुन्न महल में मेरा वासा, ताते जीव में रहों उदासा।[2]

संत हरिदास निरंजनी ने भी शून्य में ध्यान लगाने का उल्लेख किया है—

सुनि मंडल में देसि सांच सूं सुरति लगावे।[3]

यारी साहब ने लिखा है—

सुन्न तें नित तारी लावो, सूझि है निर्गुण।[4]

संत काव्य में 'नाद' और 'शून्य' में ध्यान की एकाग्रता का वर्णन है। नाथों ने भी 'नाद' और 'शून्य'[5] में ध्यान केन्द्रित करना अपना लक्ष्य माना है। अतः संत काव्य पर नाथों के प्रभाव के आभास का अनुमान लगाया जा सकता है।

ध्यान के बाद समाधि का स्थान है। यही योग मार्ग की अन्तिम सीमा है। यह ज्ञाता और ज्ञेय तथा ध्याता और ध्येय की एकात्मकता है।[6] संतों ने समाधि को आत्मा की सहजावस्था कहा है। 'सहज' शब्द का प्रयोग समाधि के विशेषण के रूप में किया है। यह परम्परा नाथ योगियों से संतों में ज्यों की त्यों चली आई है।[7]

कबीर के मत में यह वह स्थिति है जिससे भक्त को सहज ही भगवान[8] मिल जाते हैं। इस अवस्था में मनोवृत्तियां, जो बन्धन का कारण हैं

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १८।
२. परशुराम चतुर्वेदी, संतकाव्य, पृ० २१६।
३. वही, पृ० ३२७।
४. यारी की रत्नावली, पृ० ६।
५. "सहज सुंनि मन तन थिर रहे"—गोरखबानी, पृ० १९५।
६. देखिए इसी अभिलेख का द्वितीय अध्याय।
७. हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ० ७२।
८. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ४२।
"जिन सहजें हरिजी मिले सहज कहीजे सोई"

नष्ट हो जाती हैं और समरसता आ जाती है। उस समय न कोई मित्र रहता है और न शत्रु। विषयों से इन्द्रिय सम्पर्क होने पर भी मन में कोई विक्षोभ नहीं हो पाता।[1] काम क्रोध लोभ मोहादि स्वतः नष्ट हो जाते हैं। साधक और साध्य एक हो जाते हैं।[2] समाधिस्थ योगी अतुल आनन्द का अनुभव करता है—

"आत्मा अनन्दी जोगी, पीवे महारस अमृत भोगी
ब्रह्म अगिनी काया परजारी ......
त्रिकूट कोट में आसण मांढे, सहज समाधि विषै सब छांड़ि"[3]

दादू के मत से यह अवस्था उस समय प्राप्त होती है जब प्राण और मन एक दूसरे में विलीन हो जाते हैं।

"सहज रूप मन का भया, जब द्वै द्वै मिटी तरंग
ताता सीला सम भया, तब दादू एके अंग"[4]

नानक इसे वह अवस्था मानते हैं जब दशम द्वार खुल जाता है और शशिगृह (ब्रह्मरन्ध्र) में निवास हो जाता है।[5] संत रज्जब इस अवस्था का वर्णन करते हुए कहते हैं—

"संतों मगन भया मन मेरा
अहनिशि सदा एक रस लागा, दिया दरीबे डेरा
जाति पांति समझों नाहीं, किसकूं करें परेरा
रस की प्यास आस नहीं जीरा, इति मन किया बसेरा"[6]

यारी साहब इसे मन की निर्मल अवस्था कहते हैं —

"रिमझिम रिमझिम बरसै मोती, भयो प्रकाश निरंतर जोति
निरमल निरमल निरमल नामा, कह यारी तंह लियो विश्रामा"[7]

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ४२।
"पांचू राखे परसती, सहज कहीं जे सोई"
२. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ४२।
"एकमेकह्वै मिलि रह्या, दास कबीरा राम"
३. वही, पृ० १५८।
४. संतबानी, संग्रह, भाग १, पृ० ८९।
५. प्राण संगली–पृ० ६५।
६. परशुराम चतुर्वेदी, संतकाव्य संग्रह, पृ० ३७३।
७. भीखा साहब की बानी, पृ० ६६।

भीखा साहब इसे आत्मा की वह अवस्था मानते हैं जिसमें परमात्मा और आत्मा का मिलन छिपा नहीं रहता—

"नेन सेज निज पिय पोढ़ाई, सो सुख भीजे दिलहि जनाई
बोलता ब्रह्म आतमा एकै, भाव मिलन को सके दुराई"[1]

सहजोबाई कहती हैं—

"सहजो सावन के मिले, मन भयो हरि के रूप
चाह गयी थिरता भई, रंक लख्यो सोइ भूप"[2]

समाधि के दो भेद माने गए हैं—सविकल्प[3] और निर्विकल्प[4]। संतों ने निर्विकल्प समाधि का ही वर्णन किया है जो संकल्प विकल्प रहित पूर्ण आत्मज्ञान की अवस्था है। जिसे पूर्ण ब्रह्मानन्द की अवस्था भी कहा गया है। संतों ने नई बात नहीं कही है अपितु गोरखनाथ[5] के शब्दों में ही अपने भावों को अभिव्यक्त किया प्रतीत होता है। अतः संत कवि समाधि के वर्णन में नाथ परम्परा से दूर नहीं गए दीख पड़ते।

योग की आध्यात्मिक भूमिका को आनन्द दशा भी कहा जा सकता है।

आध्यात्मिक भूमिका

शैवों के अनुसार इस भूमिका पर साधक 'त्रिवेणी' और 'वाराणसी' में स्नान करता है। 'अनहद नाद' श्रवण कर सहस्र दल कमल में शिव के सान्निध्य से आनन्द प्राप्त करता है और अमृत[6] का पान करता है। संत एवं सूफी कवियों ने इसी परम्परा को अपनाया है, सिद्धों की परम्परा उन्हें अमान्य रही है। यद्यपि सिद्धों ने भी 'सहस्रार कमल' के समान 'महासुख चक्र' का स्थान कपाल या मस्तिष्क में माना है परन्तु सिद्धों ने उसमें 'नैरात्मा' की स्थिति मानी है जिसे वे 'सहज सुन्दरी'[7] की संज्ञा भी देते हैं जो सन्तों ने स्वीकार नहीं की है। उन्होंने सहस्रदल कमल में शिव का निवास माना है।

---

१. संतबानी संग्रह, भाग १, पृ० १५८।
२. संतबानी संगह, भाग १, पृ० १५८।
३. देखिऐ इसी अभिलेख का द्वितीय अध्याय।
४. वही, पृ० ११५।
५. घटहि रहिया मन न जाई दूर, अहनिसि पीवे जोगी वारुणि सूर।
स्वाद विस्वाद बाइका लछीन, तब जाणिबा जोगी वट का लछीण।
—गोरखबानी, पृ० २३।
६. देखिए इसी अभिलेख का द्वितीय अध्याय।
७. प्रबोधचन्द्र बागची, दोहाकोश, पृ० ३०।

मूलाधार चक्र से प्रारम्भ होकर 'इड़ा' और 'पिंगला' 'सुषुम्ना' के दांये बांये होती हुई 'आज्ञा चक्र' में 'सुषुम्ना' में प्रवेश पाती हैं। इसी स्थल को 'त्रिवेणी'[१] नाम से अभिहित किया गया है। आज्ञा चक्र को वाराणसी[२] अथवा काशी तथा त्रिकुटी भी कहा जाता है। मध्यकालीन संत काव्य में 'त्रिवेणी'[३] अथवा 'वाराणसी'[४] के वर्णन में संत कवि शिव संहिता से दूर नहीं गए हैं।

त्रिवेणी

जिस प्रकार धार्मिक लोग त्रिवेणी स्थान का महात्म्य बतलाते हैं इसी प्रकार सन्त लोग भी शरीरस्थ त्रिवेणी में आध्यात्मिक स्नान करते हैं। कबीर के शब्दों में इस स्नान का माहात्म्य देखिये—

"त्रिवेणी मनाह न्हवाए, सुरति मिलै जो हाथिरे"[५]

संत वेणी कहते हैं—

"इड़ा पिंगला अउर सुषुम्ना, तीन बसहि इक ठाई
वेणी संगम तंह पिरागु, मन भजनु करै तिथाई"[६]

संत शिव नारायण का कथन है—

"घट में ही गंगा घट ही में जमुना, तेहि विच पैपि नहैये"[७]

संत रामचरन ने भी 'त्रिवेणी' स्नान के महत्त्व को स्वीकार किया है—"त्रिकुटी संगम किया स्नान"[८] बुल्ला साहब भी त्रिवेणी के महत्त्व को स्वीकार करते हैं—

तिरवेनी तिरघाट संवारो, जगमगि जगमगि मनि उजियारो"[९]

---

१. इडा गंगा पुरा प्रोक्ता पिंगला चार्कपुत्रिका
मध्या सरस्वती प्रोक्ता तासां संगोति दुर्लभः
—शिव संहिता ५।१६५।

२. इडा हि पिंगला ख्याता वरणासीति होच्यते
वाराणसी तयोर्मध्ये विश्वनाथो व भाषितः। —वही, ५।१२६।

३. "त्रिकुटी संधि त्रिवेणी रहता" –प्राण संगली, पृ० ११२।

४. "काया कासी खोजै बास" –कबीर ग्रन्थावली, पृ० २१३।

५. "कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८८।

६. परशुराम चतुर्वेदी, संतकाव्य संग्रह, पृ० १३९।

७. वही, पृ० ४८२।

८. वही, पृ० ५०९।

९. बुल्ला साहब की बानी–पृ० १६।

संत काव्य में त्रिवेणी को 'त्रिकुटी संगम'[1] त्रिकुटी संधि,[2] तीर्थराज[3] संज्ञाएं भी प्रदान की गयी हैं। दरिया साहब मारवाड़ वाले कहते हैं—'त्रिकुटी सुखमन चुवत छीर, बिन बादल बरखै मुक्ति नीर।'[4] संत दूलन दास ने कहा है कि त्रिकुटी के स्नान से ही मन का मैल दूर हो सकता है

"त्रिकुटी तीर्थ प्रेम जल निर्मल, सुरत नहीं अन्हवायारे"[5]

बुल्ला साहब का कथन है—'तीर त्रिवेणी होरी खेलो।'[6] संत दरिया 'त्रिकुटी' में अनन्त सुख मान कर वर्णन करते हैं—'त्रिकुटी मांही सुख घना है, नाहीं दुख का लेस।'[7] संत दयाबाई ने कहा है—'दया ध्यान त्रिकुटी धरै, परमातम दरसाय[8]' दरिया साहब (मारवाड़ वाले) की मान्यता है कि मेरु को पार कर 'त्रिकुटी' में पहुंचने पर दुख की समाप्ति होकर सुख प्राप्त होता है—

"दरिया मेरु उलंघि करि, पहुंचा त्रिकुटी संघ
दुख भाजा सुख ऊपजा, मिटा भर्म का धुंध"[9]

संत धरनीदास का कहना है–'धरनी ध्यान तहां धरो त्रिकुटी कुटी मंझार।'[10]

कबीर ने 'त्रिकुटी' में ज्योतिस्वरूप परमेश्वर का प्रकाश माना है—

"काया कासी खोंजे बास, तहां ज्योति सरूप भयो परकास"[11]

बुल्ला साहब भी यहीं झिलमिल नूर का आभास पाते हैं—

"हाजिर हजूर त्रिवेनी संगम, झिलमिल नूर जो आप"[12]

संत रामचरन ने भी परमज्योति को यहीं अनुभव किया—

"जहां निरंजन तख्त विराजे, ज्योतिप्रकाश अतन छवि राजै"[13]

---

१. 'त्रिवेणी संगम बाट'—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ९४।
२. 'जब लग त्रिकुटी संधि न जानें'—वही, पृ० १५७।
३. 'तीरथराज गंग तट वासी", कबीर ग्रन्थावली, पृ० १४५।
४. संतबानी संग्रह, भाग २, पृ० १५५।
५. वही, पृ० १६०।
६. वही, पृ० १७५।
७. परशुराम चतुर्वेदी, संतकाव्य संग्रह, पृ० ४५४।
८. संतबानी संग्रह, भाग १, पृ० १६९।
९. वही, पृ० १३०।
१०. वही, पृ० ११३।
११. कबीर ग्रन्थावली, पृ० २१३।
१२. संतबानी संग्रह, भाग २, पृ० १७४।
१३. परशुराम चतुर्वेदी, संतकाव्य संग्रह, पृ० ५०९।

त्रिवेणी की चर्चा संत साहित्य में नाथों की परम्परा से आई है। गोरखनाथ ने भी त्रिवेणी का वर्णन करते हुए लिखा है कि त्रिवेणी में स्नान कर पाप और पुण्य दोनों दान करो।[1]

अनहद-नाद

कबीर की मान्यता है कि 'अजपाजप' के निरंतर जप के वाद त्रिवेणी संगम पर अनहद नाद स्वयं सुनाई देने लगता है—"अनहद उपजै आपहि आप"[2] ऐसा ही वर्णन गोरखनाथ ने किया है।[3] कवीर के अनुसार यह अनहदनाद 'चन्द्र' और 'सूर्य' के मिलन पर ही सुनाई देता है—

"ससि हर सूर मिलावा, तब अनहद बेनु बजावा।"[4]

संत बुल्ला साहब भी गंगा-यमुना-सरस्वती त्रिवेणी संगम में अनहद नाद श्रवण करते हैं—

"गंग जमुना मिलि सरसुती, उमंगि सिखर बहाव
लवकंति बिजुली दामिनी, अनहद गरज सुनाव"[5]

संत सिंगाजी कहते हैं—

"त्रिकुटी महल में अनहद बाजे, होत सब्द झनकारा।"[6]

संत बीरू साहब ने भी यहीं 'अनहद' नाद को श्रवण किया है—

"यमुना ते और गंग अनहद सुर तान संग।"[7]

संत दया बाई कहती हैं—

"सुनत नाद अनहद दया, आठो जाम अभंग।"[8]

संत चरनदास ने 'अनहद' नाद के लिए कहा है—

"गगन मध्य जो पदुम है, बाजत अनहद तूर"[9]

---

१. "त्रिवेणी करो स्नान, पाप पुनि दोउ देउ दान।
—गोरखबानी, पृ० १८१।

२. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १२४।

३. (क) अनहद भौंरी भवें त्रिवेणी के घाट, गोरखबानी, १५५।
(ख) 'अनहद नाद गगन में गाजे', वही, पृ० १२४।

४. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १४६।

५. संतबानी संग्रह, भाग २, पृ० १७४।

६, परशुराम चतुर्वेदी, संतकाव्य, पृ० २७०।

७. वही, पृ० ३१६।

८. संतबानी संग्रह भाग १, पृ० १६६।

९. वही, पृ० १४४।

मध्यकाल के हिन्दी सूफी कवि भी 'अनहद' नाद का वर्णन करने में नाथों की परम्परा से प्रभावित ज्ञात होते हैं। कवि निसार ने[1] नाद के दस प्रकारों का उल्लेख किया है जो केवल संकेत मात्र हैं। उसमें नाद के विभिन्न प्रकारों का नामकरण एवं विशेष विवरण नहीं है। इस नाद-संख्या पर संभवतः शैवयोग का प्रभाव है। हठयोग प्रदीपिका[2] में दस नादों का उल्लेख मिलता है।

"सुने वचन सब कोऊ, अनहद दस प्रकार
ताकर रूप न देखें, कारन कवन विचार"[3]

कवि मंझन ने भी अनहद का उल्लेख किया है—

"दरसन लाग इह सब कीन्हेसि, मग गोरख जा जाग
कर दरसन स्यों ले उपरानी, सहज अनाहत कंकरी बाजी"[4]

अलीमुराद का कहना है—

"त्रिकुटी बीच में डेरा डारो, बड़े भूत हैं पांचों भारों
अनहद से में ध्यान लगाऊं..........."[5]

सूफी कवि जायसी ने भी 'अनहद' का वर्णन किया है—

"जोगी होइ नाद सो सुना, जेहि सुनि काय जरे चौगुना"[6]

मध्यकाल के संत और सूफी कवियों ने शैव योग के सिद्धान्तों को स्वीकार ही नहीं किया है अपितु इसके पारिभाषिक शब्द 'त्रिकुटी' तथा अनहद को भी ज्यों का त्यों अपने साहित्य में प्रयोग किया है। अतएव यह कहना असंगत न होगा कि उन पर एक परम्परा का प्रभाव अवश्य रहा है जो शैव-परम्परा से भिन्न नहीं है।

---

१. हठयोग प्रदीपिका में नाद के दस प्रकारों का उल्लेख है।—हठयोग, ४।

२. आदौ जलविजीभूत पेरीझर्झर संभवाः।
मध्येमंदलशंखोत्था घंटाकाहलजास्तथा।
अंतेतु किंकिणी वंशवीणाभ्रमनिःस्वनाः
इति नाना विधा नादाः श्रूयंते देहमध्यगाः
—हठयोगप्रदीपिका ४।८५-८६।

३. कवि निसार, यूसुफजुलेखां।

४. मंझन, मधुमालती।

५. अलीमुराद, कुंवरावत।

६. जायसी ग्रन्थावली—पद्मावत (२०१७), पृ० १२५।

'अनहद नाद' श्रवण करने के उपरान्त साधक सहस्रदल कमल के आनन्द का अनुभव करता है। सहस्रदल कमल को ही

सहस्रदल कमल

ब्रह्मरन्ध्र[1] कहा गया है। सहस्रार चक्र के लिए सुंनि मण्डल[2], शून्य[3], गगनमण्डल[4], भंवरगुफा[5], शिवलोक[6] और कैलास[7] संज्ञाओं का प्रयोग नाथों में हुआ है। संत और सूफी कवियों ने इन सभी शब्दों का सहस्रार चक्र के लिए प्रयोग किया है।

सन्तों ने सहस्रार दल को, शिवलोक, अगमपुर, अमरपुर और कैलास भी कहा है तथा उसी लोक में निवास करने की अभिलाषा प्रकट की है। संत कबीर शिवलोक को अपना घर मानते हैं—

"शिव नगरी घर मेरा"[8]

संत भीखम राम कहते हैं—

हंसा करना नेवास अमरपुर में
गगन ना गरजे, चुए न पानी
अमृत जलवा सहज भरि आनी।[9]

संत जगजीवन साहब 'गगन' को अपना गांव मानते हैं—

"नाहिं रत उत जात मनुवां, गगन बासा गांउ"[10]

संत गुलाल साहब कहते हैं—

"गइली अनंदपुर मइली अगमसूर
जितली मेदनवां नेजवा गाड़ल हो सजनी"[11]

---

१. क० ग्रं०, पृ० १२२।
२. देखे ये तत 'सून्य' अकास। —गोरखबानी, पृ० ११०।
३. "सहज सुंनि में रहनि हमारी" वही पृ० १३४।
४. गगन मण्डल में षोजो अवधू असत् अगोचर मूर —वही, पृ० १६७।
५. "भ्रमर गुफा महि जोति प्रकाश" —वही, पृ० १२४।
६. "तन मन लेकर शिवपुर मेला" —वही, पृ० २४२।
७. गोरखबानी, पृ० ११०।
८. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १५४।
९. श्री दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह, भोजपुरी के कवि और काव्य, पृ० ११६।
१०. संतबानी संग्रह, भाग १।
११. वही भाग २, पृ० २०२।

संत गरीब दास कहते हैं—

अगम पुरी में गमकरी, उतरे औघट घाट"[1]

सूफी प्रेमाख्यानों में नायिका के निवास स्थान की चर्चा करते समय कवियों ने 'कविलास' या कैलास शब्द का प्रयोग किया है। सूफी कवि जायसी कहते हैं—

बाजन बाजे कोटि पचासा, मा आनन्द सगरों कैलासा
सात खण्ड ऊपर कविलास् तहवा नारि सेज सुख बासू।[2]

नूरमुहम्मद आगमपुर का वर्णन करते हुए कहते हैं—

"आगमपुर कविलास मझारा, फागुन आई अनन्द पसारा"[3]

कासिमशाह ने भी कैलास का वर्णन किया है—

"लये सो गामिनी दुलहकां, गई मांझ कैलास
बरनू का कैलास अनूपा, अचरज रैन मांझ जनु धूपा"[4]

संत कवियों ने आनन्द लोक की भूमिका में पहुँच कर सहस्रार चक्र में स्थित चन्द्र से स्रवित अमृत के पान का भी उल्लेख किया है। कबीर का कथन है—

"बंकनालि के अंतरे, पछिम दिशा की बाट
नीझर झरे रस पीजिए, तहाँ भँवर गुफा के घाट"[5]

यह अमृत सुलभ नहीं है। समान व्यक्तियों को उसका ज्ञान नहीं होता। अमृत इड़ा नाड़ी के द्वारा मूलाधार में स्थित सूर्य में पहुँच कर भस्म होता रहता है, जिससे देह की ज़रा ग्रस लेती है।[6] योगी उसका रहस्य जानते हैं। वे भंवर-

---

१. वही, भाग १, पृ० १८२।
२. जायसी, पदमावत पृ० १३०।
३. नूर मुहम्मद, इन्द्रावति, पृ० ३४।
४. कासिमशाह, हंस जवाहिर, पृ० १६५।
५. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८८।
६. पीयूषरश्मिनिर्यासं धातश्च ग्रसति ध्रुवम्
समीर मण्डले सूर्यो भ्रमते सर्वविग्रहे
एषा सूर्यपरा मूर्तिनिर्वाणं दक्षिणे पथि
वहते लग्नयोगेन सृष्टिसंहारकारकः।
—शिवसंहिता २।११-१२।

गुफा में अमृत का पान कर जन्म मरण से मुक्त हो जाते हैं। कबीर ने कहा है–

"जुरा मरण भ्रम भाजिया, पुनरपि जनम निवारि रे"[१]

संत किनाराम कहते हैं—

"मन मोर अजरा झरे, इड़ा सुखंमृत पान।"[२]

मध्यकालीन संत और सूफी काव्य में सहस्रार-चक्र में शिव का निवास माना है और इस चक्र को कैलास की संज्ञा दी है। अतएव उन पर शैव योग[३] का प्रत्यक्ष प्रभाव परिलक्षित होता है। उनकी साधना का लक्ष्य कैलास में विद्यमान शिव से एकता प्राप्त करना है। य वर्णन शैवयोग का आभार लिए हुए हैं। शैवों की जो योगिक परम्परा नाथों में प्रचलित रही वह सन्तों में भी प्रचलित रही यद्यपि सन्तों ने कुछ मौलिक परिवर्तन करके शारीरिक प्रक्रियाओं को मानसिक रूप दे दिया किन्तु प्रक्रिया का स्वरूप वही है।

शैवयोगियों की वेशभूषा

अधिकतर शैव योगी अरवंद–लंगोट बांधे रहते हैं। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं पहिनते तथा अपने सारे शरीर पर भस्म लगाये रहते हैं।[४] कुछ शैवयोगी सफेद तथा कुछ गेरुए रंग के वस्त्र पहनते हैं, सिर पर सफेद पट्टी बांधते हैं अथवा सफेद टोपी रखते हैं। कुछ योगी नाना प्रकार के कपड़ों से बना चोला और गुदड़ी पहिनते हैं और ऐसी ही टोपी सिर पर लगाते हैं।[५] शैवयोगियों की सज्जा के आभूषण मेखला, शृंगी, कर्णमुद्रा, कंथा, धंधारी,

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८८।

२. किनाराम, राम गीता, पृ० १३।

३. (क) अत ऊर्ध्वं दिव्य रूपम् सहस्रारं सरोरुहम्

....

कैलासो नाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति

अकुलाख्यो विनाशी च क्षय वृद्धि विवर्जितः

—शिव संहिता ५।१८६, १८७।

(ख) तस्माद्गलित पीयूषं पिबेयोगी निरन्तरम्

मृत्योमृत्युं विवायाशु कुलं जित्वा सरोरुहे। वही ५।१९२।

४. ब्रिग्स, गोरखनाथ एण्ड दी कनफटा योगीस, पृ० १२।

५. ब्रिग्स, गोरखनाथ एण्ड दी कनफटा योगीस, पृ० ६३।

किंगरी, रुद्राक्ष, खप्पर, दण्ड, तिलक, अघारी आदि हैं।[1] उनका आध्यात्मिक महत्त्व भी है। कायिक भूमिका में शैवयोगी उन्हें अनिवार्य रूप से धारण करते हैं।

मध्ययुगीन हिन्दी कविता में शैवयोगियों की वेशभूषा एवं उनके आभूषणों का जो वर्णन मिलता है वह शैव परम्परा से भिन्न नहीं है। यद्यपि मध्ययुगीन कवियों ने इन उपकरणों का उल्लेख अलग-अलग न कर प्रसंगवश थोड़ा-थोड़ा किया है, फिर भी प्रभाव को अवश्य खोजा जा सकता है।

मध्यकालीन संत कवियों ने योगियों की वेशभूषा का जो चित्रण किया है, उससे प्रतीत होता है कि उन्होंने उसे वाह्य आडम्बर माना। वे वाहरी वेशभूषा को तो स्वीकार नहीं करते किन्तु उसके मानसी स्वरूप से भी उनका अंतर असंपृक्त नहीं है। संतों पर यह प्रभाव धार्मिक सम्बन्ध से न होकर सम्पर्कजन्य ही रहा होगा। संत कवीर का योगी 'जंत्र' बजाता है, वटुआ और मेखला रखता हुआ भस्म भी लगाता है। उसके हृदय में सिंगी रहती[2] है। कवीर के योगी का रूप नीचे देखिये—

"जोगिया तन को जंत्र बजाइ, ज्यूं तेरा आवागमन मिटाई
चित्त करि वटुआ तुचा मेखली, भसमैं भसम चढ़ाई
हिरदै सींगी ग्यान गुणि बांधो, खोज निरजन साचा"[3]

कवीर का योगा मुद्रा-युक्त, निद्रा-रहित, आसनारूढ़, अजपा में लीन, खपरा, सींगी लेकर 'वेन' बजाता है—

"सो जोगी जाके मन में मुद्रा, रात दिवस ना करई निद्रा
मन में आसन मन में रहना, मन जप तप मन सूं करना
मन में खपरा, मन में सींगी, अनहद वेन बजावे रंगी
पंच परजारि भसम करि मूका, कबीर से लहसे लंका"[4]

कवीर ने योगी के कंथा और अघारी अन्य योगियों के से नहीं हैं, फिर मी नाम वही है। अतएव योग के मार्ग से शैवमत की परम्परा का कितना आग्रह कवीर

---

१. भण्डारकर-शैविज्म वैष्णविज्म एण्ड अदर माइनर रिलीजियन्स आफ इण्डिया, पृ० १२३।
२. ब्रिग्स-गोरखनाथ एण्ड दी कनफटा योगीस, पृ० १७-१८।
३. कबीर ग्रन्थावली-पृ० १५९।
४. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १३६।

वाणी में रहा है, यही यहाँ द्रष्टव्य है—

"प्रकट कंथा गुप्त अधारी, तामें मूरति जीवनि प्यारी"[१]

कबीर ने यह बात नई नहीं कही है उनसे पूर्व गोरखनाथ ने भी कहा है कि मन जोगी है और काया उसकी गुदड़ी।[२]

संत पलटू शैवयोगी की वेशभूषा के सूक्ष्म रूप को स्वीकार करते हुए वर्णन करते हैं—

"प्रेम बान जोगी मारल हो कसके हिया मोर
हमरी सरुख चुनरिया हो दूनो भये तूल
जोगिया के लेउ मिर्गछलवा हो आपन पट चीर
दूनों के सियब गुदरिया हो, होइ जावे फकीर
गगन में सिंगिया बजाइन्हि हो ताकिन्हि मोरी ओर"[३]

नानक वाणी में भी योगी का रूप अक्षुण्ण है, किन्तु वही सन्तों की परम्परा के अनुरूप—

"अलख निरंजन नानक आया, नेकी कारण अच्छा है
माया झोली निरगुण सेली, नाम माला जपता है
सम की टोपी, दम की कफनी, त्रिगुन बभूत चढ़ाई है
जीव शीव दोनों कुण्डल पहने, अन्हद टिपरी बजावत है
काम क्रोध की गर्दन मारी, बोध खंडा झलकता है।[४]

संत शिवदिन केसरी के शब्दों में योगी का रूप कुछ भिन्न नहीं है—

"आदेस कहना जी आदि पुरुष लखना जी
सिर पर टोपी कानों में कुण्डल गले रुद्राक्ष माला
तिलक भाल पर चंद्र कोर है
सेली सिंगी पुंगी तुंगी और भभूत का मेला
अनहद किन्नर नाद सुनाव अलख निरंजन झोला।"[५]

---

१. वही, पृ० १३६।

२. तुलना कीजिये—"काया कंथा, मन जोगोटा"

—गोरखबानी, पृ० ९६।

३. परशुराम चतुर्वेदी—हिन्दी संत काव्य संग्रह, पृ० २०८।

४. डा० विनय मोहन शर्मा, हिन्दी को मराठी संतों की देन, पृ० २९२।

५. वही, पृ० २०३।

संत कवियों ने योगी की वेशभूषा की मखोल भले ही बनाई हो, किन्तु वे योगी के वेश से पूर्ण परिचित थे। उसके वेश में क्या क्या होता है यह वे भली भाँति जानते थे। योगी की मानसी वेश-भूषा में एक तीव्र उपहास के साथ प्रभाव की मुद्रा भी व्यक्त है। चाहे योगी ब्रह्मरन्ध्र में ही मधुकरी मांगे परन्तु मांगता अवश्य है—

.... । दसवैं द्वारि अवधू मधुकरी मांगे।
सहजें षपरा सुषमनि डंडा। पांच संगती मिली षैलें नव षंडा।"[1]

संत काव्य में योगियों की वेशभूषा के सम्वन्ध में प्रतिक्रियात्मक प्रभाव भी देखा जा सकता है। संत जसनाथ का कथन है—

"मूखा मरड़ा कान फड़ावैं है, सबैं मड़ा मसानी
कांधे पाछै मेखल घातै कोरा रह्या अयानी
हिवड़े मूल्या घर घर हांडै, बोले अरपट बानी
देवल सूना मठ पिण सूना, सूनी तु धरे बानी।"[2]

संत धवल राम ने कहा है कि वेश भूषा विशेष धारण करने से प्राणी संत नहीं होता, और जटा भभूत तथा मृगछाला पहन कर जोगी बन अलख जगाने से—

"संत न करता टोपी बनगी, योगी अलख जगावे के
जटा भभूत अवर मृगछाला करता जग दिखलावे के।"[3]

जहां संत कवियों की स्फुट बानी में मानसी वेशभूषा के आधार पर साधनात्मक रहस्यवाद का बीज बोया गया है वहाँ सूफियों के प्रेम प्रबन्धों में वस्तुपरक दर्शन को ही प्रोत्साहन मिला है। मानसी वर्णन के लिए–प्रतीकों की शैली में, उनमें अवकाश नहीं था। इसलिए कथा प्रसंगों में योगियों की वेशभूषा वस्तु रूप में ही वर्णित हुई है, भले ही सूफी लोग उस वेशभूषा के हामी न हों, किन्तु वे उससे परिचित अवश्य थे। जायसी ने रत्नसेन को, सिद्धि प्राप्ति के लिए शैव योगी बनाया है—

"तजा राज,राजा भा जोगी,औ किंगरी कर गहेउ वियोगी
तन बिसंभर मन बाउर लटा, अरुझा प्रेम परी सिर जटा
चंदन-बदन औ चंदन-देहा, भसम चढ़ाई कीन्ह तन खेहा
मेखल सिंघी चक्र धंधारी, जोगबाट रुद्राछ अधारी

१. गोरखबानी, पृ० १४९।
२. सूर्य शंकर पारीक, सिद्ध चरित, पृ० १००।
३. कर्त्ताराम, धवलराम चरित, ५७।

कंथा पहरि दंड कर गहा, सिद्धि होइ कुंह गोरख कहा
मुद्रा स्रवन, कंठ जपमाला, कर उदपान कांध बघछाला
पांवरी पांव दीन्ह सिर छाता, सपर लीन्ह भेष करि राता।[1]

कवि उसमान ने भी कहा है—

"ताहि देस विच श्राहि सो पंथा, चलै सोई जो पहिरे कंथा
तेल नाहीं सिर जटा बढावै, रजन नासिजे वसन रंगावै
भसम देह पांवरि होई, ऐहि मग विकट चलै पे सोई
मेखली सिंगी चक्र अघारि, जो गोरा रुद्राक्ष धधारी।[2]

उसमान ने सुजान के योगी वेश को वस्तुरूप में ही दिखलाया है।

"काढहु दगल सुहावन राता, पहिरहु चिरकुट कंथा गाता
मनि कुण्डल मकराकृत डारहु फटिक मंदरा स्त्रवन संवारहु
धोवन चन्दन भसम चढावहु, किंगरी गहहु वियोग बजावहु
तजहु सेल कर लेहु धंधारी, श्रौर सुमरनी चक्र अघारी
सिंगी पूरहु जटा बढ़ावहु, खप्पर लेहु भीख जेहि पावहु
कांधे लेहु बाहि मृगछाला, ग्रीव पहिरहु रुद्राख के माला।"[3]

सूफी कवि मंझन के काव्य मधुमालती में राजकुमार माता पिता के मना करने पर भी योगी का वेश धारण करता है--

"कठिन विरह दुख गा न संभारी
मांगेउ खप्पर दंड अधारी
चक्र मांथ मुख भसम चढावा, स्रवन फटिक मुद्रा पहिरावा
उदयानी कसि के कर सांटी, गुन किंगरी वैरागी ठाटी
कंथा मेखले चिरकुटा जटा परि सिर केस
वज्र कछौटा बांधि के किय गोरख का बेस।"[4]

योगी का यह वेश भले ही नाथ पंथ के सम्बन्ध से सूफियों तक श्राया हो, किन्तु इसकी परम्परा शैवमत से श्राई है, यह मानना असंगत न होगा।

सगुण भक्त कवियों ने योग साधना के स्थान पर भक्ति साधना को प्रधानता दी है। वे भक्ति में परमानन्द की अनुभूति करते हैं अतएव उनके काव्य में योग साधना के विवेचन का अभाव रहा है। फिर भी उनके काव्य में

१. जायसी ग्रन्थावली, पद्मावत जोगी खण्ड, पृ० १३१-१३५।
२. परशुराम चतुर्वेदी, सूफी काव्य संग्रह-'चित्रावली', पृ० १३२।
३. वही, पृ० ८५, ८६।
४. परशुराम चतुर्वेदी, मधुमालती, पृ० १४५।

शैवयोगियों की वेशभूषा का प्रतिक्रियात्मक संकेत मिलता है जिससे प्रतीत होता है कि वे शैवयोग से परिचित तो थे परन्तु उन्होंने इसे भक्ति के लिए आवश्यक नहीं माना।

भक्त शिरोमणि सूरदास के काव्य में शैवयोगियों की वेशभूषा का प्रतिक्रियात्मक वर्णन हुआ है। उद्धव कृष्ण का संदेश लेकर गोपियों के पास आते हैं। गोपियाँ उस संदेश को अपनाने में असमर्थता प्रकट करती हैं। उनकी असमर्थता का एक कारण योगियों की वेशभूषा भी है। सूर की गोपियों के शब्दों में, शैवयोगियों की वेशभूषा का प्रतिक्रियात्मक चित्रण हुआ है। सूर गोपियों से कहते हैं—

"हमरे कौन जोग व्रत साधे ?
मृगत्वच, भस्म, अधारि, जटा को को अवराधे
आसन पवन विभूति मृगछाला ध्याननि को अवरोधे।"[1]

गोपियाँ उद्धव को उपालंभ देती हुई कहती हैं कि तुम्हें इतना भी ज्ञान नहीं योग का पात्र कौन हो सकता है।[2] इसी क्रम में वे आगे कहती हैं—

"दंड, कमण्डल भस्म अधारी औ जुवतिन को दीजै"[3]

गोपियों का कहना है—

"अपनी जटाजूट अरु मुद्रा लीजे भस्म अधारी"[4]

गोपियाँ योगियों की वेशभूषा की अवहेलना करती हुई कहती हैं—

"जे कच कनक कचोरा भरि भरि मेलत तेल फुलेल
तिन केसन को भस्म बतावत टेसू कैसो खेल
तिनको जटा धरन को ऊधो कैसे के कहि आई
तिन श्रवनन कसमीरी मुद्रा लटकन चीर झलाऊ
भाल तिलक चख नासा नक बेसरि नथ फूली ते सब
तजि हमरे मेलन को उज्ज्वल भस्मी खूली
ताहि कंठ बांधिबे के हित सिंगी जोग सिंगार

---

१. सूर, भ्रमरगीत, पृ० १४।
२. "कहिए कहा यहौ नहिं जानत, काहि जोग है जोग"
—सूरदास, भ्रमरगीत, पृ० १६।
३. वही, पृ० १६।
४. वही, पृ० ५३।

जिहि मुख गीत सुभाखत गावत करत परस्पर हास
ता मुख मौन गहे क्यों जीवें, छूटें ऊरध स्वास।"[१]

अतएव कहना अनुचित न होगा कि सगुण भक्ति काव्य में शैव योगियों की वेशभूषा का प्रतिक्रियात्मक वर्णन हुआ है।

निष्कर्ष

शिव की स्थिति, प्रक्रिया और अनुभूति—शैवयोग की इन तीन विशेषताओं का प्रभाव मध्यकालीन हिन्दी के संत एवं सूफी काव्य में अभिव्यक्त योग धारा की कायिक मानसिक और आध्यात्मिक भूमिकाओं पर देखा जा सकता है। शैवयोग में शिव की स्थिति ब्रह्मरन्ध्र[२] में मानी गयी है। साधक कुण्डलिनी[३] शक्ति को जाग्रत कर उसे ब्रह्मरन्ध्र में लय करता है। वहीं वह शिव शक्ति के सम्मेलन के उपरान्त आनन्द अनुभव करता है। संत एवं सूफी कवियों ने परम-आनन्द को प्राप्त करने के लिए यौगिक प्रक्रियाओं को अपनाया है।

योग की कायिक भूमिका में तीन प्रमुख नाड़ियों—इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना का वर्णन संत कवियों ने शिवसंहिता[४] एवं हठयोग प्रदीपिका[५] आदि शैवयोग ग्रन्थों के अनुरूप किया प्रतीत होता है। शैवयोग की परम्परा का प्रभाव संत कवियों पर षट्चक्र[६] के वर्णन पर भी प्रतीत होता है। संत कवियों ने कुंडलिनी शक्ति के जाग्रत होने का और उसके ब्रह्मरन्ध्र में लीन होने का

---

१. वही, पृ० १०५।

२. अत ऊर्ध्वं दिव्यरूपं सहस्रारं सरोरुहम्
ब्रह्माण्डाख्यस्य देहस्य बाह्येतिष्ठति मुक्तिदम्
कैलासो नाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति
अकुलाख्यो विनाशी च क्षयवृद्धिविवर्जितः।
—शिव संहिता ५।१८६, १८७।

३. अत्र कुण्डलिनी शक्तिर्लयं याति कुलाभिधा
तदा चतुर्विधा सृष्टिर्लीयते परमात्मनि। —वही, ५।१९३।

४. गंगायमुनयोर्मध्ये वहत्येषा सरस्वती
तासान्तु संगमे स्नात्वा धन्यो याति परांगतिम्। —वही, ५।१९४।

५. इडा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी
इडापिंगल योर्मध्ये बालरंडा च कुंडली।
—हठयोग प्रदीपिका ३।११०।

६. शिव संहिता ५।८५–१५२।

चित्रण नवीन नहीं किया है। उनका यह विवेचन हठयोगप्रदीपिका[1] और शिव संहिता के वर्णन से मिलता है। संत कवियों का अजपाजप नाथों के सोऽहं जप का विकसित रूप है। अतएव यह कहा जा सकता है कि संत काव्य में वर्णित योगधारा की कायिक भूमिका पर शैवमत का प्रभाव रहा है। योग की मानसिक भूमिका में संत कवियों ने शून्य को ध्यान, धारणा का आधार माना है। उनका यह शून्य नाथों के शून्य से भिन्न नहीं है।

संत कवियों ने ब्रह्मरन्ध्र को शिवलोक कहा है जिसमें शिव की स्थिति भी मानी गयी है। शिवलोक को उन्होंने अपना घर भी माना है इसी में वे आनन्द की अनुभूति करते हैं। उन्होंने शैवों के पारिभाषिक शब्द त्रिकुटी, वाराणसी, सुन्न महल, कैलास आदि का अपने काव्य में ज्यों का त्यों प्रयोग किया है।

शैवयोगियों के लिये झोली, सेली, अघारी रुद्राक्ष की माला, भस्म आदि वेशभूषा के अंग माने गए हैं। संत कवि यद्यपि वाह्य आडम्बर को मान्यता नहीं देते हैं तथापि उन्होंने शैवयोगी की वेशभूषा के सूक्ष्म रूप को मान्यता देकर शैवमत का प्रदर्शन किया प्रतीत होता है। सूफी कवि चाहे शैव-योगी की वेश-भूषा के हामी न हों वे उससे परिचित अवश्य थे जिसका अनुमान उनके काव्य के नायक की योगी की वेशभूषा से लगाया जा सकता है।

सगुण भक्त कवियों ने योगियों की वेशभूषा और योग साधना की अपेक्षा भक्ति को प्रधानता दी है। योग उनके काव्य का विषय नहीं रहा, वे तो भक्ति को सर्वस्व मानकर उसी में तल्लीन रहना चाहते थे।

(ग) भक्ति दर्शन का प्रभाव

उपासक—भगवान् में अनुरक्त व्यक्ति भक्त है। भक्ति मनोभाव है जो परम शक्ति के अवलम्बन से रस रूप में निष्पन्न होता है। इसके दो प्रमुख अवयव हैं-

---

१. वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुंडलीम्
कुर्यादनंतरं भस्त्रां कुंडलीमाशु बोधयेत्।
— हठयोग प्रदीपिका ३।११५।

२. "सहज सुंनि मन तन थिर रहैं" —गोरखबानी, पृ० १६५।
तुलना करिये—
"टारी न टरै आगे न जाइ, सुन्न सहज महि रह्यो समाइ"
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २६६।

परमात्मा की ओर अनुराग की प्रवलता और उसी के लिए उसका समर्पण।[१] अतएव अनन्य अनुराग का निर्वाह भक्त की सफलता है।[२]

उपासक के गुण—उपास्य के प्रति अनन्य अनुराग के लिए उपासक में गुणों की आवश्यकता है। शिवपुराण में[३] ज्ञान, दया, अहिंसा, सत्य, ईश्वर में विश्वास, श्रद्धा, इन्द्रियों का संयम, वेदशास्त्र अध्ययन उपासक के गुण माने गए हैं। उपासक के इन गुणों का सम्बन्ध सदाचार से है जिसे आचरण पक्ष भी कहा जा सकता है जो जीवन की प्रथम आवश्यता है।[४]

निर्गुण हो या सगुण उपासक के गुण सभी कवियों ने समान रूप से स्वीकार किए हैं। कहना अनुचित न होगा कि मध्ययुगीन कवियों पर शैव और वैष्णव भक्ति की दोनों परम्पराओं का प्रभाव रहा है क्योंकि उस समय पंच देवोपासना प्रतिष्ठित हो चुकी थी। अतएव उनके काव्य में उपासक के गुणों का वर्णन किसी एक सम्प्रदाय के प्रभाव विशेष का परिणाम नहीं है।

मध्यकालीन भक्त कवियों ने संत और साधु शब्द का प्रयोग प्रायः भक्त के ही अर्थ में किया है। जिस प्रकार महात्मा तुलसीदास ने 'सतन के गुन ऐहा'[५] कह कर भक्त की ओर संकेत किया है उसी प्रकार महात्मा कबीर ने भी 'साध' के निम्नलिखित लक्षणों द्वारा भक्त की ओर ही संकेत किया है। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि उपासक के गुणां की मीमांसा कबीर आदि संतों ने भारतीय भक्ति परम्परा के अनुरूप ही की है। शैवमतावलम्बी परम योगी बाबा गोरखनाथ भी उससे असहमत नहीं हैं। वे भक्त के लक्षण इस प्रकार लिखते हैं—

---

१. डा० सरनामसिंह शर्मा, हिन्दी साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव, पृ० १८७

२, "भक्ति अनवरत गत भेद माया"

—विनयपत्रिका, पृ० १३।

३. शिवपुराण, वायवीय संहिता, अ० १०

४. आचारः परमो धर्म आचारः परमं धनम्
आचारः परमा विद्या आचारः परमा गतिः
आचारहीनः पुरुषो लोके भवति निन्दितः
परत्र च सुखी न स्यात्तस्मादाचारवान् भवेत्।

—शिवपुराण, वा० सं० १४।५५–५६।

५. मानस-उत्तरकाण्ड ३७।

"ग्यान पारछ्या—निरलोभी, निहचल, निरवासीक निहिसवद ।
विचार पारछ्या—निरमोही, निरबंध, निसंक, निरबांन
बमेक पारछ्या—सरबंगी, सावधान, सति, सारग्राही
संतोष पारछ्या—अजाचीक, अवांछीक, अमांनीक, अस्थिर
निरबल पारछ्या निहितरंग, निहपरपंच, निरदुंदी, निरलोप
सहज पारछ्या—सुमती, सुहद्धी, सीतल, सुषदाई
सील पारछ्या—सुचि संजमन, सति, श्रोता
सुंनि पारछ्या—ल्यो, लषि, ध्यांन, समाधि
एती अष्टांग भोग पारछ्या, भगति का लछिन
सिधां पाई साधिका पाई, वे जन ऊतरे पारं[1]

कबीर उपासक के गुणों का वर्णन करते हुए कहते हैं—

उपकारी निः कामता, उपजे छोह न ताप
सदा रहे संतोष में, धरम आप दृढ़ धार
सावधान औ सीलता, सदा प्रफुल्लित गात
निरविकार गम्भीर मति धीरज दया बसात
निरबैरी निःकामता, स्वामी सेती नेह
विषया से न्यारा रहे, साधन का मत नेह
सीलवंत दृढ़ ज्ञान मत, अति उदार चित होय
लज्यावान अति निछलता, कोमल हिरदा सोय
दयावंत धरमक ध्वजा, धीरजवान प्रमान
संतोषी सुखदायक रू, सेवक परम सुजान
ज्ञानी अभिमानी नहीं, सब काहू से हेत
सत्यवान परस्वारथी, आदर भाव सहेत
निश्चच मल अस दृढमता, ये सब लच्छन जान
साथ सोई है जगत में, जो यह लच्छन वान[2]

भक्त के इन लक्षणों को गोरखनाथ द्वारा वर्णित लक्षणों की तुला में तोल कर देखा जा सकता है। अन्य संत कवियों ने भी 'साधु' या 'संत' शब्द का प्रयोग तुलसी की भांति भक्त के लक्षण व्यक्त करने के लिए ही किया है। संत दादू

१. गोरखबानी-पृ० २४९
२. संतबानी संग्रह, भाग १, पृ० २७

ने संत को 'सीतल चन्दन वास[१]' तथा "निरबैरी सब जीव सों[२]" कहा है। संत चरणदास का कहना है—

"ऐसा हो जो साध हो, लिए रहे बैराग
चरन कमल में चित धरे, जग में रहे न पाग [३]"

दयाबाई ने संत के गुणों का वर्णन करते हुए कहा है –

जगत-सनेही जीव है, राम सनेही साध
तन मन धन तजि हरि भजें, जिनका मत अगाध
दया दान अरु दीनता, दीनानाथ दयाल
हिरदै सीतल दृष्टि सम, निरखत करें निहाल
काम क्रोध लोभ नहीं, खट विकार करि हीन
पंथ कुपंथ न जानहीं, ब्रह्म भाव रस लीन[४]

संत गरीबदास का संत-साधु-वर्णन उसी परंपरा का पोषक है। उनका कहना है–

"ऐसे साधू संत जन, पारब्रह्म की जात
सदा रते हरि नाम सूं, अंतर नांही घात
साध समुंदर कमल गति, माहें साईं गंध
जिन में दूजी भिन्न क्या, सो साधू निरवंध
नो नेजे जो जल चढ़े, कमल न भींजे गात
माहें ज्ञान सुगंक्ष सर, आदि अंत का साथ[५]"

मध्यकालीन हिन्दी भक्ति काव्य में कहा गया है कि क्रोध मद, मान, मोह, लोभ, क्षोभ, राग, द्रोह आदि अवगुणों से निवृति पाने पर भी भक्त का हृदय भगवान का निवास स्थान बन सकता है—

"काम क्रोध मद मान न मोहा, लोभ न छोभ न राग न द्रोहा
जिनके कपट दंभ नहिं माया, तिन्ह के हृदय बसहु रघुराया
सब के प्रिय सबके हितकारी, दुख सुख सरिस प्रशंसा गारी
कहहिं सत्य प्रिय बचन विचारी, जागत सोवत सरन तुम्हारी"[६]

---

१. संतबानी संग्रह-भाग १, पृ० २७
२. वही, पृ० ९५
३. वही, पृ० १४६
४. वही, पृ० १७७
५. वही, पृ० १९८
६. मानस-अरण्यकाण्ड २८,२९,१३१,१३२।

....

जप तप व्रत दम संजम नेमा, गुरु गोविन्द विप्र पद प्रेमा
श्रद्धा क्षमा महत्री दाया, मुदिता मम पद प्रीति अमाया
विरति विवेक विनय विज्ञाना, बोध जथारथ बेद पुराना
दंभ मान मद करहिं न जाऊ, भूलि न देहिं कुमारग पाऊ
गावहिं सुनहिं सदा मम लीला, हेतु रहित परहित रह सीला"[1]

मध्यकालीन भक्त कवियों ने भक्त के गुणों का अनेक प्रकार से वर्णन किया है। भक्त के गुण उसकी देवी सम्पदा है जिसका वर्णन प्रायः सभी भक्तों ने समान रूप से किया है और जो गीता[2] और शिवपुराण[3] के देवी सम्पदा के वर्णनों के अनुरूप हैं।

भक्त भगवान् के अस्तित्व में रहता है। उन्हें आत्म समर्पण करता है।

उपासक की प्रवृत्ति

समर्पणीय वस्तु उनके अनुकूल होनी चाहिए, इसलिए उसे सन्तों की सी रहन सहन का ढंग और उन्हीं का सा स्वाभाव प्राप्त करने की तीव्र अभिलाषा होती है।[4] भक्त अनुकूल गुणों का संकलन और प्रतिकूल गुणों का वर्जन करता है। जिन कारणों से भगवत्प्राप्ति में बाधा आती है, वह उन सब से दूर रहता है। भक्त की प्रवृति एक मात्र भगवान् में लीन रहती है। वह एक मात्र भगवान् की शरण चाहता है—

"नष्ट मति, दुष्ट अति, कष्ट रत, खेद गत
दास तुलसी संभु सरन आया।"[5]

---

१. मानस, अरण्यकाण्ड, पृ० ७६।

२. सर्वतो मनसो संगमादो संग च साधुषु
दयां मैत्री प्रश्रयं च भूषेष्वद्धा यथोचितम्
शौचं तपस्तितिक्षां च मौनं स्वाध्यायमार्जवम्
ब्रह्मचर्यमहिंसां च समत्वं द्वन्द्वसञ्ज्ञयोः।
—भागवत–११।३।२१।३१।

३. शिवपुराण, वायवीय संहिता, अध्याय ११।

४. डा० सरनामसिंह शर्मा, हिन्दी साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव, पृ० १८७।

५. "नोमि करुणाकरं गरल गंगाधरं" —विनय पत्रिका, पृ० १८।

भक्त एकमात्र भगवान् के गुणों[१] का श्रवण और कीर्तन करता है—

"तज्ञ सरवज्ञ, जज्ञेस अच्युत, विभो, बिस्व भवदंस-संभव पुरारी
ब्रह्मेन्द्र, चन्द्रार्क वरुनाग्नि, बसु, मरुत, जम अरचिमवदंघि सर्वाधिकारी"[२]

वह भगवान् के चरण-कमल-रज की सेवा कर उनकी प्रसन्नता[३] और कृपा[४] प्राप्त करना चाहता है। भक्त एक मात्र भगवान् से प्रेम करता है—

"पलटू ऐसी प्रीति करु, ज्यों मजीठ को रंग
टूक टूक कपड़ा उड़े, रग न छोड़े संग"[५]

वह भक्ति में सहायक कर्म करता है और कर्म करते हुए भी संसार में, जल में कमल के पत्ते के समान रहता है—

"जग मांही ऐसे रहो, ज्यों अम्बुज सर मांहि
रहै नीर के आसरे, पे जल छूवत नांहि"[६]

भक्त का लक्ष्य

भक्त की एक मात्र इच्छा भगवान् की अनपायिनी भक्ति प्राप्त करना है। यही उसका चरम लक्ष्य है—प्रेम भगति अनपायिनी देहु हमहि श्रीराम"[७] भक्त परमेश्वर से केवल उसके अनुराग में लीन रहने के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता। हो सकता है आरम्भ में उसकी भक्ति सांसारिक सुखों को प्राप्त करने के लिए हो और वह परमेश्वर से धन, बल, विद्या आदि की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करे[३] परन्तु भक्ति की चरम अवस्था पर पहुँच कर वह संसार के सभी प्रलोभनों को छोड़ देता है, यहां तक कि उसमें मोक्ष प्राप्ति की आकांक्षा भी नहीं रहती।

"परो नरक फल चारि सिसु मीचु डाकिनी खाहु
तुलसी राम सनेह को जो फल सो जरि जाहु"[४]

---

१. विनय पत्रिका, पृ० १२।
२. वही, पृ० १५
३. "सिर सिव होइ प्रसन्न करू दाया" —विनयपत्रिका, पृ० ११।
४. "बिनु संभु कृपा नहिं भव-विवेक" —वही, पृ० २०।
५. संतबानी संग्रह, भाग १, पृ० २१५।
६. संतबानी संग्रह, भाग १, पृ० १४८।
७. मानस-उत्तरकाण्ड, पृ० ३४।
८. "भोलानाथ भस्म भूषन गंग शिखर डिम डिम डमरू बाजे
तानसेन सेवक को दीजे अन धन दूध पूत अखूट"
नर्मदेश्वर चतुर्वेदी-हिन्दी के संगीतज्ञ कवि, पृ० ८७।
९. तुलसी-दोहावली, दो० ९२।

कामना से भक्ति की शुद्धता बिगड़ती है, भक्त का चित्त चंचल बनता है। इसी से कामना और भगवत्प्रेम का निर्वाह साथ साथ नहीं हो सकता।

शिवपुराण में कहा गया है कि भक्त को मन वाणी और कर्म द्वारा कहीं भी किंचित मात्र फल की आशा न रख कर शिव की सेवा करनी चाहिए।[1] फल का उद्देश्य रखने से आश्रय लघु होता है क्योंकि भक्त फल शीघ्र न मिलने पर भक्ति छोड़ सकता है।[2] सकाम भक्ति को हेय माना गया है और न वह भक्त का चरम लक्ष्य है। संत कबीर ने सकाम भक्ति को निष्फल कहा कहा है—

"जब लगि भगति सकामता, तबलग निरफल सेव"[3]

निष्काम भक्ति को तुलसी परमेश्वर की शक्ति मानते हैं जिससे भक्त अपने लक्ष्य तक पहुँच सकता है—

"मानो निष्काम भक्ति, शक्ति आपु आपुनीस
देह न धरि, प्रेम न मरि भजन भेद गावे"[4]

भक्ति के चरम लक्ष्य पर पहुँच कर केवल प्रेमरस पीता है—

"प्रेमपियाला राम रस, हम को भावे येहि"[5]

भक्त की उपलब्धि—भक्त की अन्यतम उपलब्धि भगवत्प्राप्ति है। जो उसके अनन्य प्रेम से सम्भव होती है। यह उपलब्धि ही उसका मोक्ष है, यही उसका परमानन्द है। वह इसके सिवा और कुछ नहीं चाहता। यही स्वर तुलसी की पंक्तियों में सुन सकते हैं—

"भक्ति देहु अनपावनी पदों न चहों निर्वान"[6]

और तो और कबीर भी भक्ति के सामने मुक्ति को ठुकरा कर कहते हैं—

"मुक्ति रहो घर आपणें"[7]

भक्त तो केवल यही चाहता है कि उसका भगवत्प्रेम कभी भी कम न हो। दशरथ के भक्ति स्वर में यही आकांक्षा व्यक्त की है—

---

१. शिवपुराण, वायवीय संहिता, अ० १० ।
२. वही, अ० १० ।
३. संतबानी संग्रह, भाग १, पृ० १४ ।
४. मानस, उत्तरकाण्ड, १३९ ।
५. दादू साहब की बानी, पृ० ९९ ।
६. रामचरित मानस, उत्तरकाण्ड, १४ ।
.७ कबीर ग्रन्थावली, पद ।

"कामिय नारि पियारी जिमि, लोभिय प्रिय जिमि दाम
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम"[१]

कहने का तात्पर्य है कि भक्त परमात्मा का प्रेम ही चाहता है ।

भगवत्प्रेम के सामने मुक्ति को वह कोई स्थान नहीं देता ।
उसके प्रेम में प्रेम के सिवा और कोई कामना नहीं होती ।

मध्यकाल के भक्त अधिकांशतः वैष्णव ही थे, यद्यपि पंचदेवोपासना में भी वे विश्वास करते थे, किन्तु उनके परमाराध्य शिव न होकर राम-कृष्ण आदि विष्णु अवतार ही थे । हिन्दी साहित्य के इतिहास में ऐसे किसी शैव भक्त का नाम दृष्टिगोचर नहीं होता जो शिव का अनन्य आराधक रहा हो फिर मध्यकालीन हिन्दी काव्य में शिव की भक्ति से सम्बन्धित जो रचनाएं उपलब्ध हुई हैं,उनसे उपासक की उपर्युक्त योग्यता का अनुमान कर लेना दुष्कर नहीं है ।

शैवों के उपास्य शिव हैं जिनकी उपासना निर्गुण और सगुण दोनों

उपास्य

प्रकार के उपासकों ने की है । निर्गुण उपासकों के लिए निराकार, अलख, शून्य एवं निरंजन हैं । सगुण उपासकों के लिए पार्वतीपति है,[२] गणेश और स्कन्द के पिता हैं । कैलाश निवासी हैं,[३] नन्दी उनका वाहन है,[४] भूतप्रेत[५] उनके गण हैं । चन्द्रमा,[६]

---

१. मानस-उत्तरकाण्ड-१३० (ख)

२. "गौरी वल्लभ कामारे कालकूट विषादन"
—श्री शरमेश्वर कवचम्, ६० ।

३. "अमुष्य त्वत्सेवा समधिगतसारं भुजवनम्
बलात्कैलासेऽपित्वदधिवसतो विक्रमयतः ।
—शिवमहिम्नस्तोत्र १२। ।

४. "महोक्षः खट्वांग परशुरजिनं भस्म फणिनः
कपालं चैतीयत्तव वरद तन्त्रोंपकरणम् ।
सुरास्तां तामृद्धि विदधति तु भवद्भ्रू प्रणिहितां
नहि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति ।"
—शिवमहिम्नस्तोत्र ८ ।

५. वही, ३२ ।

६. "किशोर चन्द्रशेखरे रतिः प्रशिक्षणं मम"
—शिव ताण्डव स्तोत्र २ ।

गंगा,[1] सर्प,[2] डमरू,[3] बाघम्बर,[4] भस्म[5] आदि उनके स्वरूप को व्यंजित करते हैं। वे श्मशान वासी हैं,[6] नटराज हैं,[7] अर्द्धनारीश्वर[8] हैं। वे अपने भयानक स्वरूप से मुण्डमाला[9] भी धारण करते हैं।

मध्यकालीन हिन्दी कविता में अनेक स्थानों पर, शिव के रूप के साथ उनकी वेशभूषा, आभूषण, आयुध तथा उनके परिवार, वाहन, गण आदि का उल्लेख, शिवपुराण के हरिपार्श्व में, बड़ी विशदता के साथ हुआ है।

मध्यकालीन निर्गुण काव्य में उपास्य शिव के रूप की खोज अधिक उपयुक्त नहीं है किन्तु सगुण काव्य में शिव का रूप सुलभ है।

रूप—गोस्वामी तुलसी की कविता में शिव का वर्ण 'कम्बु' (शंख) कुन्द, चन्द्रमा, कर्पूर के समान और उसका तेज करोड़ों सूर्य के समान जगमगाता हुआ बतलाया गया है—

"कम्बु–कुन्देन्दु-कर्पूर-विग्रह रुचिर, तरुन-रवि-कोटि तनुतेज भ्राजे"[10]

---

१. जटा कटाहसम्भ्रमः भ्रमन्निलिम्पनिर्झरी
   विलोल वीचवल्लरी विराजमान मूर्द्धनि। —शिव ताण्डव स्तोत्र २।।

२. जटा भुजंगपिंगलस्फुरत्फण मणिप्रभः–
   कदम्ब कुंकुमद्रव प्रलिप्तदिग्वधू मुखे।। —वही ४।।

३. डमड्डमड्डमड्डमन्निनाद वड्ड मर्वयं
   चकार चण्डताण्डव तनो तुनः शिवः शिवम्। —वही १।।

४. मदान्ध सिन्धुरा सुरत्वगुत्तरीमेदुरे
   मनो विनोदमद्भुतं बिभर्तु भूतभर्तरि।।
   —शिवताण्डव स्तोत्र ४।

५. कामदेवः कामपालो भस्मोद्धूलितविग्रहः
   भस्मप्रियो भस्मशायी कामी कान्तः कृतागमः
   —शिवमहिम्न स्तोत्र २१।

६. श्मशान निलयः सूक्ष्मः श्मशानस्थो महेश्वरः
   —शिवमहिम्न स्तोत्र १३।

७. शिवपुराण, रुद्रसंहिता (पार्वती खण्ड) अ० ३०।

८. "अर्धनारीश्वरो भूत्वा ययौ देवः स्वयं हरः"
   —शिवपुराण, वायवीयसंहिता १५।६।

९. "महः कपालिसम्पदे सरिज्जटालमस्तुनः"
   —शिव ताण्डव स्तोत्र ५।

१०. विनय पत्रिका, वियोगीहरि द्वारा सम्पादित, पद १०।

उनके मस्तक पर जटाजूट का मुकुट है—"मौलि संकुल जटा मुकुट।"[१] उनके बड़े बड़े नेत्र कमल के समान हैं—"सुबिसाल लोचन कमल।"[२] उनके गले में हलाहल (विष) झलक रहा है—"गरल कंठ।"[३] बाघ और हाथी का चर्म उनका वस्त्र है—"व्याघ्र-गज-चर्म-परिधान।"[४] उनके शरीर पर भस्म अवलेपन है—"भस्म सर्वांग"[५] तुलसी शिव के स्वरूप से इतने प्रभावित हैं कि वे उसका वर्णन कवितावली,[६] विनयपत्रिका तथा मानस के लंकाकाण्ड[७] और उत्तरकाण्ड[८] में भी नहीं भूले हैं। सेनापति के शब्दों में शिव का वर्ण 'घनसार' से भी सुन्दर है—

"नीको घनसार हूं तें वरन हैं तन को,'[९]

इनके भाल पर सदैव अग्नि विद्यमान हैं—"आगि भाल सब ही समै"[१०] और काल से भी कराल विष उनके गले में झलकता है—"काल तें कराल कालकूट कंठ मांझ लसे।"[११] वे दिगम्बर हैं—भेप धरै धरत नगन को।"[१२]

---

१. विनय पत्रिका, वियोगी हरि द्वारा सम्पादित, पद १०।

२. वही, पद १०।

३. वही, पद १०।

४. वही, पद १०।

५. वही, पद १०।

६. भस्म अंग, मर्दन अनंग संवत असंग हर
सीस गंग, गिरिजा अर्धंग, भूषन भुजंग वर
मुण्डमाल, विधु भाल डमरु कपाल कर
त्रिबुध बृंद नवकुमुद चंद सुख कंद सूलधर"
—कवितावली, पृ० १६६।

७. शंखेन्द्वाभमती व सुन्दरतनु शार्दूल चर्माम्बरं
काल व्याल कराल भूषण धरं गंगा तशांक प्रियतम"
—मानस, लंका काण्ड, पृ० ८५६।

८. कुन्द इन्दुदरगौर सुन्दरं अम्बिका पतिमभीष्टसिद्धिदम।
कारुणीक कल कंज लोचनं, नोमि शंकर मनंग मोचनम्।
—मानस-उत्तर काण्ड, पृ० १०१६।

९. सेनापति कवितरत्नाकर-पृ० १२।

१०. वही, पृ० ११५।

११. वही, पृ० ११५।

१२. वही, पृ० १२।

संगीतज्ञ कवि बैजू बावरा ने भी शिव का रूप वर्णन करते समय उन्हें त्रिलोचन, नीलकंठ कहा है—

"महादेव महाजती अमरामन रेया त्रिलोचन नीलकंठ अंधक रिपु रेया
शंकर शंभु त्रिपुरारि डिमरू डिमडिम बजैया"[1]

केरल कवि गर्भ श्रीमान् ने भी शिव के रूप वर्णन में उन्हें शरीर पर भस्म लगाये हुए—"भस्म अंग[2], और हाथी का चर्म ओढ़े हुए—'ओढ़े चर्म मतंग'[3] चित्रित किया है। एक स्थल पर उनके काव्य में शिव के त्रिनेत्र का उल्लेख भी मिलता है—"भस्म त्रिनेत्र गले रुण्ड माला।"[4]

शिव के स्वरूप का यह वर्णन शिव-पुराण[5] के वर्णन की तुला पर तोला जा सकता है। शिव के स्वरूप वर्णन की यह परम्परा वैदिक काल से आ रही है। मध्यकालीन हिन्दी भक्त कवि उस परम्परा से दूर नहीं गए दिखलाई पड़ते हैं। अतएव उन पर शिव के स्वरूप वर्णन पर, शैवों की परम्परा का प्रभाव स्पष्ट है।

शैव साहित्य में शिव के आभूषणों में उनकी जटा पर लिपटे सर्प, गंगा,

आभूषण मस्तक पर शशि, कानों में कुण्डल और भुजाओं में लिपटे सर्प तथा गले में सर्प की माला व मुण्डमाला का उल्लेख है।[6] मध्यकालीन सगुण भक्तकवियों ने भी शिव के इन आभूषणों का चित्रण अपने काव्य में किया है। तुलसी के शब्दों में शिव के आभूषण देखिए—'देवापगा मस्तके'[7]। शिव के सिर पर जटाजूट में गंगा सुशोभित है—

---

१. नर्मदेश्वर चतुर्वेदी-संगीतज्ञ कवियों की हिन्दी रचनाएँ, पृ० ६६।
२. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १६, अंक ३, पृ० ३४४।
३. वही, पृ० ३४४।
४. वही, पृ० ३४३।
५. महादेवं विरूपाक्षं चन्द्रार्धकृतशेखरम्
गजकृत्तिपरीधानं क्षुब्धं भुजगभूषणम्
भस्माङ्गं जटिलं शुद्धं भेरुण्डशतसेवितम्
भूतेश्वरं भूतनाथं पंचभूताश्रितं खगम्
अर्धनारीश्वरं भानुं भानुकोटिशतप्रभम्।
—शिव पुराण रु० खं० यु० सं० ४६।५-१८।
६. देखिए, इसी अभिलेख का प्रथम अध्याय।
७. मानस-अयोध्याकाण्ड, पृ० ३७१।

"विद्युत-छटा, तटिनि-वर-धारि हरि-चरन पूतं"[१]

उनके भाल पर बालचन्द विराजमान हैं—

'बिधु-बाल-भाल,[२]' शिव के गले में सर्पों की तथा मुण्डों की माला की छटा निराली है—"ब्याल-नृकपाल-माला विराजै।'[३] उनके हाथों में डमरू तथा कपाल है—'डमरू कपाल कर।"[४] तुलसी के उक्त वर्णन पर शैवों के प्रभाव का अनुमान लगाया जा सकता है।

सेनापति ने भी शिव के आभूषणों में सर्प की माला का उल्लेख किया है—'व्याल उर माल,'[५] संगीतज्ञ कवि बैजू शिव के आभूषणों के वर्णन में कहते हैं—'चंदे भाल, सीस गंग'[६] उनके गले में मुण्डमाला[७] है तथा शंकर शंभु त्रिपुरारि डिमरू डिम डिम बजैया[८] हैं।

तानसेन ने भी शिव के स्वरूप का वर्णन करते समय उक्त आभूषणों का उल्लेख किया है। "कानन मुद्रा मुंडमाला गरे"[९] तथा 'चन्द्रमा लिलाट'।[१०] केरल कवि गर्भ श्रीमान के शब्दों में 'सीस गंग,'[११] 'उर में लसे नागपाल'[१२] शिव के आभूषण हैं।

शिव के उक्त आभूषण उनके स्वरूप का अभिन्न अंग हैं। मध्ययुगीन हिन्दी काव्य में उनकी अवतारणा शैवों के अनुरूप उत्तर वैदिक तथा पौराणिक साहित्य से ज्यों की त्यों हुई है। शैवेतर साहित्य में उनका वर्णन शैवों के प्रभाव को परिलक्षित करता है।

---

१. विनयपत्रिका, वियोगी हरि द्वारा सम्पादित, पद १०।
२. कवितावली, पृ० १९९।
३. विनयपत्रिका, वियोगीहरि द्वारा सम्पादित पद १०।
४. कवितावली, पृ० १९९।
५. सेनापति, कवितरत्नाकर, पृ० ११५।
६, नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, संगीतज्ञ कवियों की हिन्दी रचनाएं, पृ० ६६।
७. वही, पृ० ६६।
८. वही, पृ० ६६।
९. वही, पृ० ९५।
१०. वही, पृ० ९६।
११. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १६, अंक ३, पृ० ३४४।
१२. वही, पृ० ३४४।

आयुध—मध्ययुग के कवि शिव के आभूषणों के साथ उनके आयुधों का वर्णन करना नहीं भूले हैं। तुलसी ने उनके शूल, बाण, धनुष और तलवार आदि आयुध बतलाये हैं 'सूल-सायक पिनाकासि कर'।[1] संगीतज्ञ बैजू ने भी शिव के 'पिनाक' नामक आयुध का अपनी कविता में उल्लेख किया है—

"कर पिनाक रैया।"[2]

इनके अतिरिक्त शिव के 'त्रिशूल' का भी इस युग के काव्य में वर्णन हुआ है। तानसेन के शब्दों में देखिए—'कर त्रिशूल'।[3] केरल कवि गर्भ श्रीमान भी त्रिशूल को शिव का आयुध मानते हैं—'भुज त्रिशूल'।[4]

शिव के आयुध भक्त के शत्रुओं का नाश करने के लिए हैं। इन आयुधों का उल्लेख वैदिक[5] साहित्य में भी हुआ है। आलोच्य युग के कवियों ने, शैव-मत के परिपार्श्व में पल्लवित, शिव के स्वरूप, आभूषण और आयुधों का वर्णन किया है। शैवेत्तर काव्य में इनका युक्तियुक्त वर्णन शैव परम्परा का प्रभाव कहा जा सकता है।

परिवार व गण मध्ययुग के कवियों ने शिव के स्वरूप का चित्रण करते हुए उनके परिवार एवं गणों को भी स्मरण किया है। तुलसी के शब्दों में कहा गया है—"यस्यांके च विभाति भूधर सुता"[6], 'गिरिजा अर्धंग',[7] अम्बिका पतिमभीष्ट-सिद्धिदम।"[8] शिव के भीषण स्वरूप का वर्णन करते हुए तुलसी उनके गणों का भी उल्लेख करते हैं—

"भीषमाकार भैरव भयंकर भूत-प्रेत प्रमथाधिपति"[9]

बैजू ने कहा है-"गोरी अरधंग"[10]। तानसेन ने भी पार्वती को अरधंग में सुशो-

---

१. विनय पत्रिका-वियोगीहरि द्वारा सम्पादित, पद १०।
२. नर्मदेश्वर चतुर्वेदी-संगीतज्ञ कवियो की हिन्दी रचनाएं, पृ० ६६।
३. नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, संगीतज्ञ कवियों की हिन्दी रचनाएं, पृ० ६५।
४. नागरी प्रचारिणी पत्रिका-भाग १६, अंक ३, पृ० ३४४।
५. देखिए-इसी अभिलेख का प्रथम अध्याय,।
६. मानस-अयोध्याकाण्ड, पृ० ३७१।
७. कवितावली-पृ० १९९।
८. मानस-उत्तरकाण्ड, पृ० १०१६।
९. विनयपत्रिका-वियोगी हरि द्वारा सम्पादित, पद ११।
१०. नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, संगीतज्ञ कवियों की हिन्दी रचनाएं, पृ० ६६।

भित कहा है—"पारवती अरधंग"[१] । केरल कवि गर्भ श्रीमान के काव्य में भी यही भाव व्यक्त हुआ है—"गिरिजा अरधंग धरे त्रिभुवन जिन दासी ।"[२] एक अन्य स्थल पर शिव के गणों का उल्लेख करते हुए कहा गया है –'भूतन के संग नाचत[3] मृगी ।"

शिव पार्वती पति हैं । पार्वती उनके अरधंग में सुशोभित रहती हैं। शिव के साथ पार्वती का वर्णन उत्तर वैदिक साहित्य में प्राप्त होता है । शिवपुराण तो शिव पार्वती महत्त्व से आप्लावित है । मध्ययुग के काव्य में शिव स्तुति में पार्वती के वर्णन की परम्परा शिवपुराण के आधार पर विकसित हुई प्रतीत होती है । शिवपुराण में पार्वती को[४] शिव के अरधंग में सुशोभित कहा गया है ।

इस युग के काव्य में शिव परिवार के अतिरिक्त उनके वाहन वृषभ का उल्लेख बराबर मिलता है ।

वाहन—तुलसी कहते हैं कि शिव का वाहन 'वृषभ' है—"सीस बसैं वरदा, वरदानि, चढ्यो वरदा, धरन्यो[५] वरदा है । सेनापति ने भी 'नंदी' को उनका वाहन कहा है—

"सदा नंदी जाको आसा कर है विराजमान"[६]

तानसेन ने वृषभ को शिव का वाहन माना है—'वृषभ वाहन ।'[७]

शिव का वाहन वृषभ शैवों में पूज्य माना गया है । उन्होंने शिव के परिवार के साथ 'वृषभ' का भी वर्णन किया है । मध्यकालीन हिन्दी काव्य में शिव, शिव के आभूषण, आयुध, परिवार और वाहन[८] का शिव स्तुति में चित्रण शैव साहित्य के अनुरूप हुआ है । शैवेतर कवियों की शिव स्तुति और शिव रूप वर्णन शैव प्रभाव को परिलक्षित करती है । शिव का अर्धनारीश्वर स्वरूप भी काव्य का विषय रहा है । विद्यापति ने शिव के अर्धनारीश्वर स्वरूप की स्तुति की है—

---

१. नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, संगीतज्ञ कवियों की हिन्दी रचनाएं, पृ० ६५ ।
२. नागरी प्रचारिणी पत्रिका–भाग १६, अंक ३, पृ० ३४४ ।
३. वही, पृ० ३४३ ।
४. शिव पुराण ।
५. कवितावली, पृ० १६६ ।
६. सेनापति कवितरत्नाकर–पृ० १२ ।
७. नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, संगीतज्ञ कवियों की हिन्दी रचना, पृ० ६५ ।
८. महोक्षः खट्वाङ्ग परशुरजिनं भस्म फणिनः,
शिवमहिम्न स्तोत्र ८ ।

"जय शंकर जय त्रिपुरारि, जय अथ पुरुष जयति अघनारि।
आध धवल तनु आधा गोरा, आध सहज कुच आध कटोरा।
आध हड़ माल, आध गजमोती, आध चानन सोहे आध विभूति
आध चेतन मति आधा गोरा, आधा पटोर आध भुज डोरा
आध जोग आध भोग विलासा, आध विधान आध जग लोभा
कहै कवि रत्न विधाता जाने, दुइ कए बांटल ऐक पराने।।"[१]

मध्यकालीन कवि शिव के रूप से इतने अधिक प्रभावित रहे हैं कि वे अपने आराध्य विष्णु और शिव में समानता मानते हैं। शिव के सहस्र नामों में विष्णु[२] जनार्दन, जगदीश[३] आदि नाम शिव के लिए प्रयुक्त हुए हैं। विद्यापति शिव और विष्णु में समानता बतलाते हुए कहते हैं—

"भल हर भल हरि भल तुम कला, खन पित बसन तनहि बघछला
खन पंचानन खन भुजचारि, खन संकर खन देव मुरारी
खन गोकुलमय चराइज गाय, खन भिखि मांगए डमरु बजाए
खन गोविन्द भए लिज महादान, खनहिं भसम अरु कांरन बोकान
एक सरीर लेल दुइ बास, खन बैकुंठ खनहिं कैलास
भनई विद्यापति विपरीत बानि, ओ नारायन ओ सूलपानि"[४]

संगीतज्ञ कवि बैजूबावरा हरि और हर में समानता प्रतिष्ठित करते हुए उनके स्वरूप का चित्रण करते हैं—

"बंशीधर पिनाकधर गिरिवरधर गंगाधर चन्द्रमा लीलाधर
सुधाधर विषधर धरनीधर शेषधर चक्रधर
त्रिशूलधर नरहरि शिवशंकर
रमाधर उमाधर मुकुटधर जटाधर कुंकुमधर
पीताम्बरधर व्याघ्रांबरधर
नंदीधर तरु धर कैलासधर बैकुंठधर कहै

१. विद्यापति पदावली–पृ० ३९६।
२. ब्रह्मा विष्णुः प्रजापालो हसो हंसगतिर्वयः
—शिवसहस्रनाम स्तोत्र, १०९।
३. शुभांगो लोकसारंगो जगदीशो जनार्दनः
भस्मशुद्धिकरो मेरुरोजस्वी शुद्धविग्रहः। वही, २८।
४. विद्यापति की पदावली, पृ० ३९८।

"बैजू बावरे गुनी जन निशदिन
हरिहर ध्यान उर धर रे ॥"[१]

मध्यकालीन भक्त कवियों ने शिव के स्वरूप का जो चित्रण किया है उससे अनुमान किया जा सकता है कि शिव भक्ति का उन पर प्रभाव रहा है। इस युग में शैव और वैष्णव भक्ति की धारा समान रूप से प्रवाहित थी। शिव वैष्णव भक्तों में विष्णु के समान ही मान्य थे। शैवेत्तर काव्य में शिव का आराध्य स्वरूप, उनके आभूषण और वाहन तथा परिवार का वर्णन शैव भक्ति के प्रभाव का परिणाम है।

उपास्य की फलदता—शिवपुराण में शैवों के उपास्य शिव को पापों का नाश करने वाला कहा गया है।[२] वह सब कर्मों का फल देने वाला है।[३] मुक्ति प्रदाता है,[४] वरद है[२] और संसार के दुखों को काटने वाला है।[६] शिव की स्तुति फलद मानी गई है।[७]

मध्यकालीन कवियों ने शैव परम्परा के अनुसार शिव के फलद स्वरूप का चित्रण किया है। विद्यापति शिव की कृपा की ही आकाँक्षा रखते हैं—

---

१. नर्मदेश्वर चतुर्वेदी–संगीतज्ञ कवियों की हिन्दी रचनाएं, पृ० ७६।

२. भवन्ति विविधा धर्मास्तेषं सद्यः फलोन्मुखाः
येषांभवति विश्वासः शिवनाम जपे मुने
पातकानि विनश्यन्ति यावन्ति शिवनामतः
भुवि तावन्ति पापानि क्रियन्ते न नरेर्मुने।
शि० पु० सं० २३।२६-२७।

३. अतस्तवां संप्रेक्ष्य क्रतुषु फलदानप्रतिभुवं।
श्रुतौ श्रद्धां बद्ध्वा दृढ़परिकरः कर्मसु जनः॥
शिवमहिम्न स्तोत्र २०।

४. शिवनाम्नि महद्भक्तिर्जाता येषां महात्मनाम्
तद्विवानां तु सहसामुक्तिर्भवति सर्वथा।
शि० पु० २३।२९-३३।

५. "यर्हाद्धि सुत्राम्णो वरद" —शिवमहिम्न स्तोत्र २३।

६. "भवच्छिदं मखच्छिदं" —शिव ताण्डव स्तोत्र ९।

७. ततो भक्ति श्रद्धा भरगुरुगुणद्भ्यां गिरिश
यत् स्वयं तस्थे ताभ्यां तव किमनुवृत्तिर्नफलति
शिवमहिम्न स्तोत्र १०।

"नीच ऊंच सिव कछु नहिं गुनलन्हि, हरखि देलन्हि रुण्डमाल
गुन अवगुन सिव एको नहिं बुझलिन्ह, रखलीन्ह रावनक नाम
मन विद्यापति सुकवि पुनित मति, कर जोरि बिनवों महेस
गुन अवगुन हर मन नहिं आनथि सेवकक हरथि कलेस"[१]

'शिव' के समान कोई दानी नहीं है। वे दोनों पर दया करते हैं। भिखमंगे ही उन्हें सदा सुहाते हैं। तुलसी ने शंकर की दीनदयालुता, परमोदारता का भली भांति पुष्टीकरण किया है—

"दानी संकर सम नाही
दीन दयाल दिवोई आवे, जाचक सदा सोहाहीं
मारि के मार थप्यो जग में, जाकी प्रथम रेख भटमाहीं
ईस उदार उमापति परिहरि अनत जे जाचन जाहीं
तुलसीदास ते मूढ़ मांगने, कबहुं न पेट अघाही"[२]

तुलसी तो शिव को सबसे बड़ा देव, दाता और भोला मानते हैं—

"देव बड़े, दाता बड़े संकर बड़े भोले"[३]

वे राम का दास होने पर भी शिव की फलद्ता से प्रभावित उनकी शरण चाहते हैं—

"चेरो राम राइको, सुजस सुनि तेरो हर
पाइ तर आइ रह्यो, सुरसरि तीर हों।"[४]

यही उपास्य की फलदूता है कि उपासक उसकी शक्ति में अनन्य विश्वास कर केवल उसी की शरण चाहता है। दयालनाथ ने भी शिव की फलद्ता को स्वीकार कर शिव को फल देने में बड़ा उदार माना है—

"सुर मुनि पूजत गावत ढंग ज्याकी कला नकल आई
दयालु देवनाथ शिव भोला, वर देने कूं बड़ा मोला"[५]

पं० हरिहरनाथ राम जन्म के हर्षोल्लास का वर्णन करते हुए शिव की फलदूता का उल्लेख करना नहीं भूलते—

---

१. विद्यापति की पदावली, पृ० ४३८।
२. विनयपत्रिका (वियोगी हरि द्वारा सम्पादित), पद ४, पृ० ५।
३. वही, पृ० १०।
४. कवितावली, पृ० २१०।
५. डा० विनय मोहन शर्मा—हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ० ४३५।

"बहुत दिनन शिव पूजल देवल मनावल हो
ललना एक सुअन फल मांगल चौगुन पावल हो"[१]

शिव बड़े उदार हैं। एक फल माँगने पर चार फल देने वाले हैं।

शिव की फलद्ता का चित्रण शिव पुराण में अनेक स्थलों पर किया गया है। मध्यकालीन कवियों ने भी शिव को इसी परम्परा में फलप्रदाता माना है। दयालनाथ ने शिव को भोला दानी, हरिहर नाथ ने चौगना फलप्रदाता कहा है। संत तुलसी तो इतने प्रभावित हैं कि वे गंगा के किनारे शिव की शरण में आकर रहने लगते हैं। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि इस युग के कवि शिव की महिमा से तो भलीभांति परिचित थे। साथ ही उनकी महिमा के प्रभाव को स्वीकार भी करते थे। अतएव यह कहा जा सकता है कि शिव के रूप और उनकी फलद्ता का प्रभाव मध्यकालीन शैवेत्तर काव्य पर रहा है।

उपासना

कहने की आवश्यकता नहीं कि पुराणों ने परमात्मा के दोई रूप प्रस्तुत किये हैं—एक निराकार स्वरूप है और दूसरा साकार स्वरूप। ये दोनों रूप सदैव उपस्थित रहे हैं। चाहे सगुणोपासना के व्यवहार पक्ष में निराकार के लिए कोई स्थान न रहा हो, किन्तु सैद्धान्तिक पक्ष में निराकार का स्थान अक्षुण्ण रहा है। रामचरितमानस में—"अगुणसगुण दोइ ब्रह्म सरूपा"[२] कह कर तुलसीदास ने पुराणों के मत का ही समर्थन किया है. किन्तु व्यावहारिक सरलता के लिए सगुण ही ग्राह्य रहा है। मध्यकालीन संतों ने 'सगुण' का मौलिक रूप निर्गुण में देखा है। यद्यपि वे भी भक्ति भाव की तरंग में सगुण का एकदम भक्तिक्षेत्र से परित्याग नहीं कर सके हैं, फिर भी उनकी उपासना पद्धति निर्गुण पद्धति है। इस साधना में मानसिक पक्ष का ही विशेष महत्त्व है।

निर्गुण उपासना

सगुण भक्ति में जो साकार होता है, जिसके साथ सम्बन्ध की भावना का निर्वाह हो सकता है, जिसकी लीला के दर्शन और श्रवण से आनन्द की प्राप्ति होती है, उसी परमात्मा को निर्गुण कवि केवल मानस में देखता है। उसके प्रति वह सम्बन्धों का आरोप करता है—

---

१. श्री दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह—भोजपुरी के कवि और काव्य, पृ० १६३।
२. मानस—बालकाण्ड २२।१।

"हरि मेरा पीव में हरि की बहुरिया
रांम बड़े में छुटक लहुरिया"[1]

यहां राम और कबीर के पतिपत्नी के आरोप को देख लेना कठिन नहीं है। निर्गुणोपासना में सेवक-सेव्य भाव, माता-पिता और पुत्र भाव के अतिरिक्त पति-पत्नी भाव भी गृहीत रहा है, जिसमें सम्बन्ध आरोपित होता है। सगुणोपासना में लीला-भाव के लिए जो अवकाश रहता है, निर्गुणोपासना में कोई नहीं है।

शिव का सगुण रूप मध्यकालीन हिन्दी काव्य की केवल सगुण धारा में ही प्रतिष्ठित रहा। सूफियों की प्रेम पद्धति पर उसका कोई प्रभाव नहीं है। फिर भी कथा प्रसंगवश वे अपनी कथाओं में शिव का जो रूप चित्र प्रस्तुत करते हैं वह परम्परागत रूप से अभिन्न है। इसको भक्तिपरकप्रभाव के अन्तर्गत नहीं लिया जा सकता। इसे प्रासंगिक या कथापरक प्रभाव की संज्ञा दी जा सकती है। सूफी कवि जायसी के प्रेमाख्यानक काव्य पद्मावत में शिव रत्नसेन को प्रत्यक्ष दर्शन देते हैं—

"ततखन पहुंचे आइ महेसू, बाहन बैल, कुष्टि कर भेसु
काथरि कया हड़ावरि बांधे, मुण्डमाल औ हत्या कांधे
सेस नाग जाके कठमाला, तनु भभूति हस्ती कर छाला
पहुंची रुद्रकवल के गटा, ससि माथें और सुरसरि जटा
चंवर घंट औ डमरू हाथा, गौरा पारबती बनि साथा"[2]

सूफी काव्य में शिव का प्रत्यक्ष रूप में दर्शन देना नवीन नहीं है। शिव पुराण में वर्णित अनेकों स्थलों पर शिव ने प्रत्यक्ष दर्शन देकर[3] अपने भक्तों पर अनु–ग्रह किया है। शिव का यह स्वरूप वर्णन भी जायसी ने शिव पुराण[4] के अनुरूप किया है।

यद्यपि सूफी धर्म के अन्तर्गत मन्दिरों और मूर्तियों की मान्यता नहीं है किन्तु जायसी ने पद्मावत की कथा में मन्दिर, श्री पंचमी और पूजा वर्णन किया है। वह लोकमान्यता के अनुरूप होता हुआ शैव-पूजा के भी अनुरूप ही है।

---

१. कबीर ग्रन्थावली–पृ० १२५।
२. जायसी ग्रन्थावली–पद्मावत–पृ० १९७।
३. शिवपुराण–रूद्र संहिता–अ० ४४–४६।
४. वही, ४६।५-१८।

"कंचन मेरु देखाव सो जहां महादेव कर मण्डप तहां
माघ मास पाछिल पछ लागे सिरि पंचमी होइहि आगे
उघरिहि महादेव कर वारु, पूजिहि जाइ सकल संसारू"[1]

फिर पद्मावती के दर्शन की आशा से रत्नसेन मन्दिर की परिक्रमा करके, पूर्व द्वार पर आकर प्रणत होता है—

"पद्मावति के दरसन आसा, दंडवत कीन्ह चहुं पासा
पूरुब बार होइ कै सिर नावा, नावत सीस देव पहं आवा।
तेहि विधि बिनै न जानों जेहि विधि अस्तुति तोर
करहु सुदिष्टि मोंहीं पर हिछो पूजै मोरि।"[2]

जायसी के अतिरिक्त सूफी कवि 'नूर मोहम्मद' ने 'इन्द्रावती'[3] में तथा 'उसमान' ने 'चित्रावली'[4] में भी शिव मन्दिर, शिवरात्रि और पूजा का वर्णन कथा प्रसंगवश किया है। वह वर्णन भी 'शैवोपासना के अनुरूप ही है।

भगवान् के साकार स्वरूप की उपासना सगुण भक्तों का आधार है।

सगुण उपासना

सगुण उपासना के दो साधन बहिरंग और अंतरंग माने गए हैं। भगवान् के नाम, रूप और गुण का श्रवण, कीर्तन और चरण सेवन सगुण भक्ति के बहिरंग साधन है। शिवपुराण[5] में भक्ति के इन साधनों का महत्त्व वर्णित है।

नाम—मध्यकालीन शैवेत्तर कवियों ने शिव के नाम गुण और रूप के श्रवण, कीर्तन को मान्यता देकर शैवमत के प्रभाव का परिचय दिया है। कृष्ण भक्त नन्ददास शिव के नाम का गान करते हुए कहते हैं—

"गंगाधर, हर, शूलधर, ससिधर, शंकर, वाम
शर्व संभु, शिव, भीम, भव, मर्ग, कामरिपु नाम
त्रिनयन, त्रिबंक, त्रिपुर–अरि, ईस, उमापति होइ
जटा पिनाकी, धूर्जटी, नीलकंठ, मृहु सोई।"[6]

तानसेन शिव के नाम को एक मात्र आधार मान कर कहते हैं—

---

१. जायसी ग्रन्थावली, पद्मावत, पृ० ६९।
२. वही, पृ० ७१।
३. गणेशप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी प्रेमगाथा काव्य (इन्द्रावती) पृ० २४८।
४. वही, (चित्रावली), पृ० १६८।
५. शिवपुराण, रुद्रसहिता (सती खण्ड), अ० २१-२३।
६. नन्ददास ग्रन्थावली, पृ० ५८

"महादेव, आदिदेव, देवादेव, महेश्वर, ईश्वर, हर
नीलकंठ, गिरिजापति, कैलासपति, शिवशंकर
भोलानाथ, गंगाधर"[1]

गोस्वामी तुलसी ने अपने आराध्य राम की भक्ति प्राप्त करने के लिए शिव की स्तुति की है। उन्होंने शिव का गुणगान करते समय उनके अनेक नामों का उल्लेख किया है—

"अहिभूषन, दूषन-रिपु-सेवक, देव-देव त्रिपुरारी
मोह निहार दिवाकर संकर, सरन सोक भयहारी"[2]

मध्ययुगीन हिन्दी काव्य शिव वन्दनाओं से आप्लावित है। भक्त कवि हरिदास शिव भक्ति में विभोर हो शिव के नामों का गान करते हुए कहते हैं—

"सेवा सेवा करत सेवे तेंतीसों कोट महादेव तुव
नाम जप तप पार्वतीपत
पतित पावनि पाति गहर तेनु गन कैसे सुमरत
त्रयलोक नाथ शंभु शंकर कर तरसूल परे तपोभूत
त्रिपुरासी मानों महेस देश देश के।
नरेस को धावत जोइ जोइ मांगत सोइ सोइ पावत है
हरिदास डागर होत सुरत"[3]

शिव के अनेक नामों की पृष्ठभूमि में उनके गुण और रूप को याद रखना आवश्यक है। भगवान के नाम, गुण, लीला आदि का श्रवण, कीर्तन भक्ति के प्रमुख साधन माने गए हैं। शैवभक्ति[4] में भी श्रवण कीर्तन आदि भक्ति के अंगों का महत्त्व मान्य रहा है अतएव इस युग के भक्ति काव्य में शिव के अनेक नामो का उल्लेख चाहे शैव भक्ति का परिणाम कहा जाये, फिर भी यह तो स्वीकार करना ही होगा कि शिव के ये नाम वैदिक, उत्तर वैदिक[5] साहित्य में प्रतिपादित शिव नामों की परम्परा से ज्यों के त्यों अपना लिए गए हैं। अतः शिव के नामों की स्तुति पर शैवमत के प्रभाव का अनुमान अनुचित न होगा।

---

१. नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, हिन्दी के संगीतज्ञ कवि, पृ० ८७।
२. विनय पत्रिका, पृ० ११।
३. नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, संगीतज्ञ कवियों की हिन्दी रचना, पृ० ५६।
४. शिवपुराण, रुद्रसंहिता (सती खण्ड) २३।२२-१,२।
५. देखिए इसी अभिलेख का प्रथम अध्याय।

गुण—मध्यकालीन हिन्दी भक्ति-काव्य में शिव के अनेक नामों की पृष्ठ-भूमि में उनके अनेक गुणों का वर्णन हुआ है। महाकवि तुलसी शिव के गुणों से अभिभूत हो सकते हैं—

"संकरं संप्रदं सज्जनानंददं, सैल-कन्या-वरं परमरम्यं
काम,मद-मोचनं तामरस-लोचनं, वामदेवं भजे भावगम्यं
लोक नाथं, सोकसूल निर्मलिनंसूलिनं, मोह-तम-भूरि-भानुं
कालकालं, कलातीतमजरं हरं, कठिन कलिकाल काननकृसानुं
तज्ञमज्ञान-पाथोधि-घटसंभवं, सर्वगं सर्वसौभाग्यमूलं
प्रचुर भव-भंजनं, प्रनत जन रंजनं, दास तुलसी सरनानुकूलं"[१]

शिव को सर्व-शक्ति-सम्पन्न, त्रिगुणातीत, विकाररहित, अज्ञान रूपी समुद्र को पी जाने वाले अगस्त्य रूप, वैदिक और उत्तर वैदिक साहित्य में भी कहा गया है। शिवपुराण तो शिव के अनेक गुणों से युक्त है ही।[२] मध्यकालीन हिन्दी काव्य में वैदिक और उत्तर वैदिक साहित्य की परम्परा का ही पालन हुआ है। तुलसी[३] का साहित्य शिव के गुणों का गान मनोकामनाओं की पूर्ति के हेतु करते हैं।

"जांचिये गिरिजा पति कासी, जासु भवन अनिमादिक दासी
ओढ़रदानि द्रवत पुनि थोरे, सकत न देखि दीन कर जोरे
सुख संपति मति सुगति सुहाई, सकल सुलभ संकर सेवकाई
गये सरन आरत के लीन्हें, निरखि निहाल निमिष मह कीन्हें
तुलसीदास जाचक जस गावे, विमल भगति रघुपति की पावे"[४]

तानसेन शिव को अविगत अविनाशी मानकर उनके गुणों की स्तुति करते हैं—

"तुम समान और नाहीं अविगत अविनासी ह्वे रहे भवलोक अधअटट"[५]

रूप

नाम और गुण का सम्बन्ध रूप से है। श्रवण, कीर्तन में भक्त भगवान् के नाम और गुण के श्रवण और कीर्तन के साथ उनके स्वरूप का भी ध्यान करता है। नाम और नामी का सम्बन्ध अभिन्न है। नाम के साथ नामी का स्वरूप भक्त के नेत्रों के

---

१. विनयपत्रिका (वि० हृ० सं०), पृ० १८।
२. देखिए इसी अभिलेख का प्रथम अध्याय।
३. विनय पत्रिका पद ३-१४, कवितावली
मानस, बालकाण्ड, लंकाकाण्ड, उत्तरकाण्ड
४. विनयपत्रिका, पृ० ८।
५. नर्मदेश्वर चतुर्वेदी-हिन्दी के संगीतज्ञ कवि–पृ० ८७।

सम्मुख, उसके हृदय में अंकित हो जाता है। भक्त तुलसी ने शिव के स्वरूप का सुन्दर वर्णन किया है—

"कम्बु-कुन्देन्दु-कर्पूर-विग्रह रुचिर तरुन-रवि कोटि तनु-तेज भ्राजे ।
भस्म सर्वांग अर्धांग सेलात्मजा, व्याल-नृकपाल माला विराजे
मौलि संकुल जटामुकुट, विद्युत्छटा तटिनि-वरवारि हरिचरन पूत
स्रवन कुण्डल, गरल कंठ, करूनाकन्द, सच्चिदानन्द बन्देऽवधूतं ।।"[1]

संगीतज्ञ तानसेन शिव से नाद विद्या मांगते हुए उनके रूप का चित्रण करते हैं-

"रूप बहुरूप भयानक बाघंबर अंबर खपर त्रिसूल कर
तानसेन को प्रभु दीजे नाद विद्या संगत सो गांऊ
बजाऊं बीन कर घर"[2]

रीतिकालीन भक्त कवि गुलाबराव महाराज शिव के रूप का वर्णन भी परम्परागत स्वर में करते हैं—

"मेरे हिय तुरत बसो सांब शूल पाणी
गंगाधर नंदी वाहन सद पर्वग दानी
जरतिइं में चितानल पाई भवग्लानी"[3]

भिखारीदासजी जिस शिव की पूजा के आंकाक्षी हैं उनके रूप का वर्णन भी इसी परम्परा का समर्थक है। जिसके भाल पर शशि, अंग पर विभूति है और जो काम का दाहक है, वही सिर पर गंगा को भी तो धारण किये हुए है। सभी शैवों ने शिव के इसी सगुण रूप को देखा है। यहां भी यही देखिये—

"भाल में जाके कलानिधि है, वह साहब ताप हमारो हरेगो
अंग में जाके विभूति भरो वहै भौन में संपति भूरि भरेगो
घातक है जू मनोभव को मन पातक वाही के जारे जरेगो
दास जौ सीस पे गंग धरे रहें ताकी कृपा कहुकोन तरैगो"[4]

विवेचनीय युग के शैवेतर काव्य में शिव के नाम गुण और रूप के वर्णन का अभाव नहीं है। वैष्णव भक्ति धारा में भी विष्णु के नाम-गुण-रूप के श्रवण-कीर्तन को भक्ति का अंग माना है किन्तु वैष्णव भक्तों द्वारा शिव के नाम-गुण-रूप के श्रवण कीर्तन की बात अनूठी है। वे शिव को मनोवांछित फल-प्रदाता

---

१. विनयपत्रिका, पृ० ८।
२. नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, संगीतज्ञ कवियों की हिन्दी रचनाएं, पृ० ८७।
३. डा० विनय मोहन शर्मा, हिन्दी को मराठी कवियों की देन, पृ० ४५१।
४. आ० भिखारीदास-काव्यनिर्णय, पृ० १७०।

मानते हैं और राम तथा कृष्ण की भक्ति में रत रहने के लिए शिव से वरदान मांगते हैं जिससे अनुमान लगाया जा सकता है कि वे शिव के नाम-गुण-रूप की महिमा से भली प्रकार परिचित थे और उन पर शैवमत का प्रभाव था।

चरण-सेवन — चरण सेवन बाह्योपासना का प्रमुख अंग माना गया है। भगवान् के मनोहर चरणों का श्रद्धापूर्वक दर्शन, पूजन और सेवन चरण सेवन कहलाता है। भागवत[1] में तो अन्तस से तीर्थों का आदर भी चरण-सेवन के क्षेत्र में ही समाविष्ट किया गया है। अतएव मन्दिर दर्शन, पूजन और तीर्थाटन आदि चरणसेवन के विभिन्न प्रकार हैं। शिव के साथ अम्बिका एवं गणेश की पूजा का भी विधान है, ऐसा उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है। महात्मा सूर ने शिव-पूजन के उल्लेख में इसी विधान की ओर संकेत किया है—

"नन्द सब गोपी ग्वाल समेत
गए सरस्वती के तट एक दिन
शिव अम्बिका पूजा हेत"[2]

शिव पूजा के सम्बन्ध में एक बात और भी बड़े महत्त्व की है कि प्रायः कन्याएं गौरीपति की पूजा उपयुक्त वर की प्राप्ति के लिए करती हैं। इसी भाव को सूर के शब्दों में देखा जा सकता है—

"गौरीपति पूजंत ब्रजनारि
नेम धरम ते रहंत क्रियाजुत बहुत कर मनुहारी
ईहै कहत पति देहु उमापति गिरधर नंदकुमार"[3]

यही भाव तुलसी के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त हुआ है—

"गिरिजा पूजन जननि पठाई
संग सखी सब सुभग सयानी, गावहिं गीत मनोहर बानी
सरसमीप गिरिजा गृह सोहा, वरनि न जाइ देख मन मोहा

---

१. यच्छौचनिः सृतसरित्प्रवरोदकेन
तीर्थेनमूर्ध्न्यधिकृतेन शिवः शिवो भूत्
ध्यातुमनःशमलशैलनिसृष्टवज्रं
ध्यायच्चिरं भगवतश्चरणारविन्दम्। भागवत ३।२८।२१-२२।

२. सूरसागर—पद ९२।

३. वही, पद १०-२१-३२।

मज्जनु करि सर सखिन्ह समेता, गई मुदित मन गौरि निकेता
पूजा कीन्ह अधिक अनुरागा, निज अनुरूप सुभग वर मांगा"[1]

तुलसीदास ने शिव नाम के जाप का महत्त्व भी उसी प्रकार स्वीकार किया है जिस प्रकार वे राम नाम के जाप का महत्त्व स्वीकार करते हैं।

भक्त विष्णुदास के 'रुक्मणी-मंगल' में महादेव की पूजा के वर्णन में पार्वती तथा गणेश पूजन का महत्त्व भी परम्परा के अनुरूप ही प्रतिपादित हुआ है—

"पूजत देवी अम्बिका पूजत और गणेश
चन्द्र सूर्य दोउ पूजके पूजन करत महेश"[2]

भक्त तुलसी ने तो पार्थिव-शिव-लिंग के महत्त्व को स्वीकार कर बन जाते समय राम से पार्थिव लिंग की पूजा कराई है—

तब मज्जनु करि रघुकुलनाथा
पूजि पारथिव नायउ माथा।"[3]

वैष्णव भक्त कवि मुंज केशी ने पूजा के लिए धूलि के शिवलिंग की स्थापना तक की बात कही है—

"आंगन में खेलत रघुराई
धूरि बटोरि लिंग शिव थापत अक्षत छींटत हरषाई
ले गडुआ सौमित्रि खड़े हैं सचिव सुवन हर हर गाई
बैठे भूप वशिष्ठ विहारत 'केशी' लाहु नयन पाई"[4]

ऐसी पूजा शैवों की पार्थिव पूजा[5] के अन्तर्गत मानी गयी है।

शैवेतर सगुण भक्त कवियों ने शिवपूजन के महत्त्व को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। यद्यपि उनके आराध्य राम और कृष्ण हैं फिर भी वे शिव से राम और कृष्ण की भक्ति प्राप्त करने के लिए निवेदन करते हैं। इतना ही नहीं शिव के साथ साथ पार्वती, गणेश आदि की पूजा को भी माना है।

---

१. मानस—बालकाण्ड—२२७।१,२,३।
२. डा० शिवप्रसाद सिंह—सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य (परिशिष्ट) पृ० ३६१।
३. मानस, अयोध्याकाण्ड, १०२।१।
४. मुंजकेशी, भजन संग्रह, भाग ३, पृ० १३३।
५. शिवपुराण, विद्येश्वर संहिता, अ० १९-२०।

तीर्थाटन—पीछे कहा जा चुका है कि चरण सेवन में मन्दिर पूजा का भी महत्त्व है। इस महत्त्व को तुलसी के मानस में राम के मुख से इन शब्दों में कहलाया गया है—

"जे रामेश्वर दरसनु करहिं, ते तनु तजि मम लोक सिधारहिं"[१]

सेतुबन्ध रामेश्वरम् का महत्त्व वर्णन केशव के शब्दों में इस प्रकार हुआ है—

"सेतु मूल शिव शोभिजे, केशव परम प्रकाश
सागर जगत जहाज को, करिया केशवदास"[२]

इतना ही नहीं केशव रामेश्वर तीर्थ का महत्त्व, अब तुलसी और स्पर्श से भव-सागर तरने की बात भी कहते हैं—

"उरते शिव मूरति श्रीपति लीन्ही
शुभ सेतु के मूल अधिष्ठित कीन्ही
इनको दरसै परसै पग जोई
भवसागर को तरि पार सो होई"[३]

यह तो रहा रामेश्वर तीर्थ का महत्त्व, अब तुलसी की विनयपत्रिका में काशी के महत्त्व को भी देखिए—

"सेइय सहित सनेह देहभरि, कामधेनु कलि कासी
समनि सोक संताप पाप रुज, सकल सुमंगल-रासी
मरजादा चहुं ओर चरनवर, सेवत सुर पुर बासी
तीरथ सब सुभ अंग रोम सिव लिंग अमित अविनासी"[४]

मध्यकालीन संत कवि भी शैवों के तीर्थ स्थानों के महत्त्व से परिचित रहते रहे हैं। उन्होंने तीर्थ के महत्त्व को तो माना है पर वे तीर्थों में विश्वास न करके भी तीर्थों के तत्कालीन महत्त्व का प्रकाशन करते हैं। कबीर द्वारा वर्णित त्रिवेणी इसी उक्ति को प्रमाणित करती है—

"त्रिवेणी मनहि न्हवाइये
सुरति मिलै जो हाथि रे।"[५]

---

१. मानस, लंकाकाण्ड, पृ० ८६२।
२. केशवदास, रामचन्द्रिका, पृ० २७८।
३. वही, पृ० २७८।
४. विनयपत्रिका, (वियोगी हरि द्वारा सम्पादित काशी स्तुति), पद २२।
५. कबीर ग्रन्थावली—पृ० ८८।

कबीर की 'काशी' भी तो ऐसी ही है—

काया कासी खोजे बास,
तहां जोति सरूप भयो परकास"[१]

हिन्दी कवियों ने शिवपूजा की सामग्री में अनेक नामों का उल्लेख किया है। शैवमत में सामग्री के सम्बन्ध में एक बड़ी फहरिस्त मिलती है, किन्तु हिन्दी कवियों ने ऐसी कोई फहरिस्त तो तैयार नहीं की, फिर भी इस फहरिस्त की नामावली का अपनी स्तुतिप्राप्त रचनाओं में अन्य प्रसंगों में अवश्य किया है। संत लोग भी अपनी मानसी उपासना में इन उपकरणों को नहीं भुला सके। इस सम्बन्ध में उन पर केवल संस्कारों से पड़ने वाले प्रभाव को ही देख सकते हैं-जो ऐसे संस्कार जो या तो सामाजिक प्रथाओं को देखने से या दूसरों से सुनने से पड़ते हैं। शिव की पूजा में विल्वपत्र के साथ जल का विशेष महत्त्व है। कबीर वाणी में इन उपकरणों को देखिए—

पूजा के उपकरण

"देवल मांहे देहुरी, तिल जेहे विस्तार
मांहे पाती मांहि जल, मांहे पूजंण हार"[२]

यहां शिव भक्ति पद्धति के अनुसार उपकरण वर्णन दिया है।

विल्वपत्र ही नहीं आक धतूरे के फूल पत्ते[३] भी शिवोपासना के उपकरणों में सम्मिलित हैं। तुलसी कवितावली में आक के पत्तों के महत्त्व का इस प्रकार वर्णन है—

"देत न अघात रीझि जात पात आक ही के"[४]

धतूरे के पत्तों के महत्त्व को तुलसी ने कवितावली में इस प्रकार वर्णन किया है-

"पात द्वै धतूरे के, मोरे के भवेससों
सुरेसहु की संपदा सुभाय सो न लेत रे"[५]

शिव के अवढरदानी होने के प्रसंग में ही तुलसी बिल्व पत्र के महत्त्व को इस प्रकार स्वीकार करते हैं—

---

१. वही, पृ० २१३।
२. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १५।
३. सकाम शिवपूजन, पृ० ६-१०।
४. कवितावली—पृ० २०५।
५. वही, पृ० २०७।

"जाने बिनु जाने, के रिसाने, केलि कबहुंक
सिवहि चढाये ह्वे हैं बेल के पतेवा द्वै"[१]

पत्तों के साथ जल का महत्त्व भी तुलसी ने इस प्रकार बतलाया है—

"आक के पतोवा चारि, फूल के धतूरे द्वै
दीन्हे ह्वे हैं धारक पुरारि पर डारिकै"[२]

रीतिकालीन कवियों की भक्ति धारा में भी प्रायः परम्परागत उपकरणों का उल्लेख हुआ है। धतूरे और आक के फूलों के महत्त्व को सेनापति इस प्रकार प्रकाशित करते हैं—

"होउ तू दुखित, जोग जाग में निपट के
चाहत धतूरे अस आक के कुसुम द्वैक
जिन्हें लेत कोइ कहुं भूलि हू न हटकै
सेनापति सेवक को चारि वरदानि.
देव देत है समृद्धि जो पुरन्दर के खटकै"[३]

शिव 'अवढर दानी' हैं। अन्य देवताओं की अपेक्षा वे 'धतूरे' और 'आक' के पुष्प से ही प्रसन्न हो जाते हैं। यही उनका गुरुत्व है। शिवपुराण में शिवपूजा के बहुत से उपकरणों का उल्लेख हुआ है फिर भी 'आक' और 'धतूरे' के पुष्पों से शिव के प्रसन्न होने की बात भी कही गयी है। मध्यकालीन हिन्दी के कवियों ने शिवपूजन में आक और धतूरे के पुष्पों का महत्त्व बतलाकर शिव-पुराण का अनुकरण किया है। अतएव कहा जा सकता है कि इस युग के कवि शिवपूजन सामग्री का वर्णन करने में शैव परम्परा से दूर नहीं गए हैं।

अंतरंग भक्ति

अंतरंग भक्ति का सम्बन्ध ज्ञानेतर विधान से है जिसमें भक्त और भगवान का सम्बन्ध पूजा के बाह्य विधान की सीमा पार कर उत्तरोत्तर रागानुगा और पराभक्ति की ओर अग्रसर होता है। अंतरंग भक्ति में भक्त भगवान् से दास्य अथवा सख्य सम्बन्ध स्थापित कर आत्मनिवेदन करता है। शिवपुराण में कहा गया है, "ईश्वर मंगल या अमंगल जो कुछ भी करता है वह सब मेरे मंगल के लिए

---

१. कवितावली, पृ० २०८।
२. वही, पृ० २०९।
३. सेनापति कवितरत्नाकर, पृ० १११।

ही है।[1] ऐसा दृढ़ विश्वास रखना 'सत्य' भक्ति का लक्षण है। अपने निर्वाह की चिन्ता से भी रहित हो जाना 'आत्मसमर्पण' कहलाता है। भक्ति साधना का अन्तिम सोपान 'आत्मसमर्पण' है। मध्ययुगीन हिन्दी भक्ति काव्य में आत्म समर्पण की भावना का विशद वर्णन हुआ है। शैवेतर भक्तों ने शिव के चरणों में भी उसी प्रकार आत्म निवेदन किया है जिस प्रकार अपने आराध्य भगवान विष्णु के चरणों में संत तुलसी शिव से आत्मनिवेदन करते हैं—

"जलज नयन, गुन अयन, मयन रिपु महिमा जान न कोई
बिनु तव कृपा राम पद पंकज सपनेहुं भगति न होई
अहि भूषन, दूषन रिपु-सेवक, देव-देव त्रिपुरारी
मोह-निहार-दिवाकर संकर, सरन सोक भयहारी"[2]

संगीतज्ञ कवि बैजू ने शिव भक्ति में विश्वास कर उसी को प्राप्त करना चाहा है-

"वृषभ वाहन ताके गोरी अरधंग गरुड़गामी
गोपीनाथ हरिहर रट
बैजू प्रभु हरिहर निशदिन ध्यान धर छाड़ दे
जग की सब खट पट रे"[3]

तानसेन भी शिव चरणों में नम्र निवेदन करते हैं—

हों ओंकार महादेव शंकर तुम सकल कला पूरन
करत आस।
निहचेही धरत ध्यान सुमरन कर मनमान देखत
दर्शन गयी त्रास।
हरिदुख दंद सोहत जटा गंग रुंड माल सोहो
बाघंबर वास।
तानसेन वाके ध्यावै तन मन इंछा फल पावै
होय कैलास निवास।"[4]

---

१. मंगलामंगलं यद् यत् करोतीतीश्वरो हि मे
सर्वं तन्मंगलायेति विश्वासः सख्यलक्षणम्।
शि० पु० रु० सं० सं० ख० २३।३२।

२. विनयपत्रिका, पृ० ११।

३. नर्मदेश्वर चतुर्वेदी-संगीतज्ञ कवियों की हिन्दी रचनाएं, पृ० ६७।

४. वही, पृ० १३६।

रीतिकालीन कृष्ण भक्त कवि गुलाब राव ने भी शिव भक्ति से प्रेरित हो शिव चरणों में आत्मनिवेदन किया है—

मेरी सांह करो त्रिपुरारी ।
गिरिजा बल्लभ भूतन के पत भुजंग भूषण धारी
डुबी जा रही भव सागर मो करिये उपाय गजारी
माया मगरी पाय पकरती जातें शंभु पुकारी
ज्ञानेश्वर बालाकी विनती होवे कांत मुरारी"[1]

आत्म निवेदन भक्त को भगवान के समीपतर लाता है। भक्त इस स्थिति में केवल भगवान की भक्ति चाहता है। गुलाबराव शिव की अनन्य भक्त की आकांक्षा रखते हुए कहते हैं—

"मेरे हिय तुरंत बसो सांब शूल पाणि
गंगाधर नंदिवाहन सदपवर्ग दानी
जरतिहूं में चिन्तानल मायी भवग्लानी
दीन के दयाल तुमही सकल हृदय ज्ञानी
हो विरागि तदपि कीन्हि अघतनु भवानी
कहे कुमर छोर दियो वर विनु भय खानी
जय गिरिजा बल्लभ गुरु जाय करुणाखानी
ज्ञानेश्वर रूपधरी राखो शिर पानी"[2]

मध्यकालीन सगुण भक्त कवियों को विष्णु भक्ति के साथ साथ शिव भक्ति भी प्रिय रही है। शिव से आत्म निवेदन कर उन्होंने शैव भक्ति के प्रभाव को स्वीकार किया है। जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है शैव और वैष्णव भक्ति के मूल तत्त्वों में भिन्नता नहीं है केवल उनके विस्तार में ही अन्तर कहा जा सकता है अतः मध्यकालीन भक्ति काव्य पर शैव भक्ति का प्रभाव अपरोक्ष रूप में रहा है, कहा जा सकता है।

निष्कर्ष

भक्ति भक्त और भगवान् के बीच का सम्बन्ध है जिसे भक्त अपनी योग्यता के अनुसार दृढ़ बनाता है। भक्ति भक्त का सुनिश्चित लक्ष्य है। भक्ति में भक्त मोक्ष की भी कामना छोड़ कर, यही चाहता है कि उसके हृदय में उमड़ती हुई प्रेम की लहर भगवान् के चरण-रस निधि में मिलती रहे। इसी में उसका आनन्द है और

---

१. डा० विनयमोहन शर्मा—हिन्दी को मराठी कवियों की देन, पृ० ४५१ ।
२. वही, पृ० ४५१ ।

यही उसकी अनन्यता है। निर्गुण और सगुण काव्य में उपासकों के गुणों का जो वर्णन हुआ है वह किसी एक सम्प्रदाय के प्रभाव का परिणाम नहीं है, उसमें शैव और वैष्णव दोनों परम्पराओं का योग रहा है।

इस युग के शैवेतर कवियों ने न केवल शिव के विभिन्न नामों का उल्लेख किया है अपितु शिव के विभिन्न नामों की भूमिका में स्वीकृत उनके गुण और रूप का जो चित्र प्रस्तुत किया है उसे शिव के पौराणिक स्वरूप की तुला पर तोला जा सकता है। इसके अतिरिक्त इस युग के काव्य में शिव की फलदूता का विशद वर्णन शैवों की परम्परा में ही हुआ है। शैवेतर भक्त कवियों ने शिव के नाम रूप और गुण के श्रवण, कीर्तन और मनन को अपने उपास्य के नाम, रूप और गुण के कीर्तन के समान ही महत्त्व दिया है। सगुण भक्त कवियों ने न केवल शिव के नाम, गुण और रूप का श्रवण, मनन किया है अपितु उनसे संम्बद्ध तीर्थ स्थानों के प्रति अपना अगाध विश्वास भी प्रकट किया है। वे शिव की फलदूता से प्रभावित हैं तथा उनकी पूजा के उपकरणों का उल्लेख भी शैव प्रभाव के परिपार्श्व में करते हैं। जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है शैव और वैष्णव भक्ति का मूल तत्त्व एकसा है। फिर भी शैवों ने शिव को आराध्य माना है सखा नहीं। मध्ययुग की कविता में भी शिव आराध्य रूप में ही दृष्टिगत होते हैं।

आलोच्ययुग के कवियों ने आराध्य शिव के चरणों में आत्मनिवेदन कर संतोष अनुभव किया है। शिव की फलदूता से प्रेरणा पायी है, उनकी शरण में आकर सुख का अनुभव किया है। यह भी स्पष्ट ही है कि मध्यकालीन कवियों ने शिव के नाम, रूप और गुण का वर्णन परम्परानुभुक्त रूप में ही किया। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि आलोच्य युग के काव्य पर शैवभक्ति का अपरोक्ष प्रभाव है।

———

अध्याय ६

साहित्य का प्रभाव

मध्यकालीन हिन्दी कविता को, जो ठाकुर विद्यापति से लेकर भारतेन्दु काल तक पहुँचती है, प्रमुखतः दो रूपों मे विभक्त किया जा सकता है—प्रबन्ध एवं मुक्तक। प्रबन्ध के सम्बन्ध निर्वाह, कथा के गम्भीर मार्मिक स्थलों की पहचान और दृश्यों की स्थानगत विशेषता का होना अनिवार्य है। उसमें एक उद्देश्य सम्मिलित रहता है तथा प्रमुख रस का संचार उसी की ओर होता है। उसमें प्रमुख कथा के सम्बन्ध से अन्य प्रसंगों का भी उल्लेख रहता है, किन्तु मुक्तक छन्दों में पूर्वापर सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं क्योंकि उसमें कोई कथा-सूत्र नहीं रहता। मध्यकाल में हिन्दी में बहुत अधिक प्रबन्ध नहीं लिखे गये और जो लिखे गये उनमें भी महाकाव्य बहुत थोड़े हैं। यों तो सूफी कवियों ने ने भी प्रबन्ध काव्य लिखे हैं किन्तु उनका स्वरूप भारतीय प्रबन्ध परम्परा के अन्तर्गत नहीं लिया जा सकता। वे मसनवी ढंग की रचनाएं हैं और उनमें लोक प्रचलित कथाओं को ही अपनाया गया है, उनमें शिव कथाओं के लिए कोई अवकाश नहीं रहा है। हाँ सूफी प्रबन्ध काव्यों की कथाएं भारतीय जन-जीवन होने से लोक-प्रचलित प्रसंगों से सम्पृक्त अवश्य हो गयी हैं। किस प्रकार प्रायः दादी-नानी की कहानियों में असहाय की सहायता करने के लिए शिव और पार्वती के वर्णन का उपयोग किया जाता है, उसी प्रकार का उपयोग सूफी कवियों ने अपने काव्य में अनेक स्थानों पर किया है। सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों में शिव पार्वती-अलौकिक पात्र रूप में विद्यमान हैं। इनका प्रयोग लेखकों ने तीन प्रयोजन से किया प्रतीत होता है—वरदान देकर संतान देना, अन्य पात्रों की परीक्षा लेना, प्रेम-पथ के पथिकों की सहायता करना। जायसी के पद्मावत में 'मठ अथवा समुद्र' के प्रसंग में शिव के ऐसे ही प्रसंग आए हैं। इनके अतिरिक्त कहीं कहीं योग-परक रहस्यवाद की प्रतीकात्मक शब्दावली में भी शिव–पार्वती या शिव-शक्ति-मिलन आदि प्रसंगों का समावेश हुआ है।

समस्त संत-काव्य मुक्तक रूप में है, उसमें दार्शनिक और भावात्मक उक्तियों के अतिरिक्त कुछ समाज सुधारात्मक उक्तियां भी हैं। इनकी स्फुट

रचनाओं में कथा-प्रसंगों के समावेश के लिए कोई गुंजाइश नहीं थी, किन्तु योग की रहस्यमयी भाषा में संत कवियों ने भी प्रतीकों के रूप में शिव-शक्ति के मिलन की, शिव की नगरी वाराणसी की अथवा शिव के स्थान कैलास की बात की है। इसके अतिरिक्त अवधूत आदि शब्दों को शैवमत की परम्परा से लेकर उन्होंने अपनी उक्तियों में टांक लिया है। फिर भी इनका अवधूत परम्परागत अवधूत से भिन्न होगया है।

मध्यकालीन सगुणधारा के कवियों की रचनाएं प्रबन्ध और मुक्तक दो रूपों में ही मिलती हैं। यह तो ऊपर कहा जा चुका है कि मध्यकालीन प्रबन्ध रचनाएं, जिनमें शिवकथाएं आई हैं, बहुत थोड़ी हैं। फिर भी प्रमुखता और प्रासंगिकता की दृष्टि से शिवकथाओं के दो भेद किए जा सकते हैं—एक तो प्रमुख दूसरी प्रासंगिक। इसके अतिरिक्त मुक्तकों में शिव से सम्बन्धित कथाएं स्तोत्रों में और दूसरे सामान्य मुक्तकों में भी आई हैं। इन स्थलों पर प्रसंग सकेत भी लिखते हैं।

प्रमुख कथाएं

अन्यत्र कहा जा चुका है कि शिव और उनके परिवार से सम्बन्ध प्रमुख कथाएं सती और पार्वती की कथाएं हैं। सतीकथा में सती का मोह, सती का मानसिक त्याग और दक्ष-यज्ञ-विध्वंश तथा सती का योगाग्नि में भस्म होना आदि प्रसंग उल्लेखनीय हैं। पार्वती कथा में पार्वती जन्म, पार्वती तपस्या, तारकासुरवध, मदन-दहन और पार्वती-परिणय आदि कथाओं को सम्मिलित किया जाता है। शिवपुराण गत 'नारद मोह' कथा भी मध्यकालीन हिन्दी काव्य का विषय बनी है। इस युग के काव्य में उक्त कथाएं प्रायः प्रसंग रूप में तथा प्रासंगिक संकेत के रूप में ही आई हैं, प्रमुख कथा के रूप में तो इनका विनिवेश बहुत कम हुआ है।

प्रमुख कथा

आलोच्य काल में शिव से सम्बद्ध अनेक कथा-काव्यों का सृजन हुआ, जिनका प्रमुख विषय पार्वती-परिणय है। इनमें शिव को नायक का पद मिला है। तुलसी कृत पार्वती-मंगल, गोरधन दास कृत 'शिव ब्यावलो' और कवि किसनउ कृत 'महादेव पारवती री वेलि' काव्य इसी परम्परा के अन्तर्गत आते हैं।

'पार्वती-मंगल' और 'शिव ब्यावलो' की कथा पार्वती अवतार, उसकी तपस्या और विवाह तक सीमित है। हां 'महादेव पारवती री वेलि' में सती प्रकरण और सगर कथा का भी समावेश हुआ है। इन काव्यों की कथावस्तु में शैव कथाओं से कुछ मौलिक भेद भी दिखलाई पड़ता है, परन्तु उन पर शिव-पुराण एवं कुमार सम्भव का प्रभाव भी स्पष्ट है।

पार्वती मंगल

शिवपुराण[1] के अनुकरण पर पार्वतीमंगल में पार्वती के उत्पन्न होने पर उनके अद्‌भुत प्रभाव का वर्णन हुआ है। पर्वतों में हिमवान् का प्रमुख स्थान है। वे गुणाकार हैं। उनकी पत्नी मेनका भी तीनों लोकों की स्त्रियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। जब से पार्वती उत्पन्न हुई, उनके यहां ऋद्धि-सिद्धियों और अभिनव सम्पत्तियों का निवास है। पार्वती की अलौकिक महिमा का वर्णन करते हुए तुलसी ने लिखा है—

"मंगल खानि भवानि प्रकट जब ते भइ
तब ते रिधि सिधि संपति गिरि गृह नित नइ"[2]

उनके प्रभाव से न केवल माता-पिता के सौभाग्य में वृद्धि हो रही थी अपितु सारा वातावरण ही मंगलमय और मोदमय बना हुआ था। तुलसी कृत 'उमा-जन्म-प्रभाव' का वर्णन कालिदास के कुमार सम्भव के अनुरूप है।[3] पार्वती मंगल में तुलसी कहते हैं—

"नित नव सकल कल्यान, मंगल मोदमय मुनि मानहीं
ब्रह्मादि सुर नर नाग अति अनुराग भाग बखानहीं
पितु मातु प्रिय परिवारु हरषहिं निरखि पालहीं लालहीं
सित पाख बाढ़ति चंद्रिका जनु चंद्रभूषन मालहीं"[4]

शिवपुराण[5] के अनुरूप ही 'पार्वती मंगल' में नारद राजा हिमवान् के घर आते हैं। वहां उनका खूब आदर सत्कार होता है—

---

१. शिव पुराण—रुद्र संहिता—पार्वती खंड अ० ७।
२. पार्वती मंगल—१।८ पृ० ६।
३. प्रभामहत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च।
कुमार सम्भव सर्ग १।२८।
४. पार्वती मंगल—१। पृ० ६।
५. एक समय की बात है नारद राजा हिमाचल के घर गए। गिरिराज हिमालय ने उनकी पूजा की और अपनी पुत्री को बुलाकर नारद के चरणों में प्रणाम करवाया।
शिवपुराण रु० सं० पा० खं० अ० ७।

"एक समय हिमवान भवन नारद गए
गिरि वरु मैना मुदित मुनिहि पूजत भए"[१]

राजा ने पार्वती को बुलवा कर, ऋषि के चरणों में सादर अभिवादन[२] करवाया तथा पार्वती के भावी पति के लिए पूछा। शिवपुराण[३] में भी इसी प्रकार का वर्णन मिलता है—

"अति सनेहं सति मांथ पायं परि पुनि पुनि
कह मना मृदु वचन सुनिय विनती मुनि
तुम त्रिभुवन तिहुं काल विचार विसारद
पारवती अनुरूप कहिए वरु नारद।"[४]

नारद का उत्तर शिवपुराण[५] का शब्दानुवाद कहा जा सकता है। मंगल में नारद का उत्तर इस प्रकार है—

"मोरेहूं मन अस आव मिलिहि वरु बाउर
लखि नारद नारदी उमहि सुख भा उर"[६]

नारद की भविष्यवाणी को सुनकर दम्पति के दुख का चित्रण जिस प्रकार पार्वती मंगल में हुआ है उसी प्रकार शिवपुराण[७] में भी मिलता है।

"सुनि सहमे परि पाइ कहत भए दंपति
गिरिजहि लगे हमार जिवनु सुख सपति"[८]

---

१. पार्वती मंगल १।१०, पृ० ७।

२. "उमहि बोलि रिषि पवन मातु मेलत भई"
पार्वती मंगल १।११ पृ० ७।

३. हिमाचल ने नारद से पूछा कि "हे ब्रह्मपुत्रों में सर्वश्रेष्ठ ज्ञानवान् प्रभो मेरी पुत्री की जन्मकुण्डली जो में गुण दोष हो उसे बतलाइये। मेरी बेटी किसकी सौभाग्यवती प्रिय पत्नी होगी ?
शिवपुराण, रु० सं० पा० खं० अ० ७।

४. पार्वतीमंगल १।१४, पृ० ८.

५. शिवपुराण रु० सं० पा० खं० अ० ७।

६. पार्वतीमंगल २।१८, पृ० ९।

७. नारद की बात सुन और सत्य मानकर मेना तथा हिमाचल दोनों बहुत दुखित हुए। हिमवान् ने मुनि से पुत्री के कष्ट निवारण का उपाय पूछा।
शिवपुराण, रु० सं० पा० खं० अ० ७।

८. पार्वतीमंगल २।१८, पृ० ९।

इसके अनन्तर नारद के आदेशानुसार राजा हिमवान् और मेनका ने पार्वती को तपस्या का आदेश देकर, तपस्या के लिए समस्त सामग्री सजा कर दी —

"सजि समाज गिरिराज दीन्ह सबु गिरिजहि
बदति जननि जगदीस जुवति जनि सिरजहि
जननी जनक उपदेश महेसहि सेवहि
अति आदर अनुराग भगति मनु मेवहि"[1]

मंगल का यह वर्णन भी शिवपुराण के प्रभाव में लिखा है ।

पार्वती माता पिता की आज्ञा से, शिव चरण के सेवन के लिए उनके पास विद्यमान थी ।[2] देवताओं ने अनुकूल अवसर देखकर कामदेव[3] को बुलाया । पार्वती मंगल का उक्त वर्णन भी शिवपुराण[4] के वर्णन की तुला पर तोला जा सकता है । कवि ने काम-दहन और रति विलाप का वर्णन क्रमशः और एक पंक्ति में कर दिया है जब कि शिवपुराण में इसका विस्तृत वर्णन है तथापि पार्वती मगल पर उसके प्रभाव को भुलाया नहीं जा सकता ।

पार्वती मंगल में, शिवपुराण[5] के अनुकरण पर, कामदहन के उपरान्त शिव अन्यत्र चले जाते हैं—

"आसुतोष परितोष कीन्ह वर दीन्हेउ
सिव उदास तजि बास अनत् गम कीन्हेउ"[6]

शिव के अन्यत्र चले जाने पर पार्वती प्रेमवश व्याकुल हो गयीं । सखियों ने घर

---

१. पार्वतीमंगल—२।२३, २४।

२. सेवहि भगति मन वचन करम अनन्य गति हर चरन की
गौरव सनेह संकोच सेवा जाइ केहि विधि वरन की ।
वही, ३। पृ० १० ।

३. वही, ३।२५ ।

४. शंभुश्चगिरिराजे वैतप: परममास्थितः ।
तत्समीपे च सेवार्थं पार्वती सखिसंयुता
तिष्ठतिचमहाराज पित्राज्ञयाभयाश्रुतम् ।
शि० पु० पा० सं० १०।४६ ।

५. शिवोऽपितत्क्षणादेव विहाया श्रममन्यतः
शिवपुराण ज्ञा० सं० १२।८ ।

६. पार्वतीमंगल ३।२८, पृ० ११ ।

घर जाकर उनकी व्याकुलता का सन्देश[1] सुनाया, जिसे सुनकर पार्वती के माता-पिता बहुत दुखी हुए। शिव के अन्यत्र चले जाने पर पार्वती कठिन तपस्या करने लगी।

"तजेउ भोग जिमि रोग लोग अहिगन जनु
मुनि मनसहु ते अगम तर्पाहि लायो मनु"[2]

पार्वती मंगल का उक्त वर्णन शिवपुराण[3] और कुमारसम्भव[4] की छाया में लिखा गया है। वहां भी कामदहन के उपरान्त, शिव के अन्यत्र चले जाने पर पार्वती कठिन तपस्या में संलग्न हो जाती है। कुमारसम्भव[5] के अनुरूप पार्वती मंगल में शिव बटु वेश धारण कर 'उमा' की परीक्षा लेते हैं—

"बटु वेष पेखन पेम मनु व्रत नेम ससि सेखर गए
मनसहिं समरपेउ आपु गिरिजहि वचन मृदु बोलत भए"[6]

पार्वती की दशा देखकर शिव बहुत दुखी हुए। बटु वेशधारी शिव ने पार्वती से कहा—

"मोरें जान कलेस करिय बिनु काजहि
सुधा कि रोगिहि चाहइ रतन कि राजहि
लखि न परेउ तप कारन बटु हिम हारेउ"[7]

---

१. उमा नेह बस विकल देह सुधि बुधि गई
कलप बेलि बन बढत विषभ हिम जनु दई
समाचार सब सखिन्ह जाइ घर घर कहे
सुनत मातु पितु परिजन दारुन दुख दहे।"
—पार्वतीमंगल ३।२९,३०।

२. पार्वतीमंगल ४।३४, पृ० १३।

३. शिवपुराण–रुद्रसंहिता–पार्वती खंड, अ० २०-२१।

४. इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथा विधं प्रेम पतिश्च तादृशः।
—कुमारसम्भव–पंचम सर्ग २-६।

५. निवार्यतामालि किमप्ययं बटुः पुनर्विवक्षुः स्फुरितोतराधरः।
न केवलं यो महतोपभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक्।
—वही ५।८६।

६. पार्वतीमंगल ५। पृ० १५।

७. वही, ५।४८, पृ० १६।

पार्वती मंगल के उक्त प्रसंग की तुलना शिवपुराणगत[1] प्रसंग से की जा सकती है। वहां भी शिव 'बटु' वेश धारण कर, तपस्या में लीन, पार्वती के पास जाते हैं। उनमें वार्तालाप भी होता है। इस प्रसंग में तुलसी ने कालिदास के कुमारसम्भव[2] का भी अनुकरण किया है। कुमारसम्भव में पार्वती के अविचल प्रेम से मुग्ध हो शिव प्रगट होते हैं और विवश हो कहते हैं:—तवास्मि दास: क्रीतस्तपोभि:'[3] पार्वतीमंगल में शिव का कथन पार्वती। 'तप प्रेम मोल मोहि लीन्हेउ'[4] पूर्वोक्त कथन का अनुवाद मात्र प्रतीत होता है। सखियां शिव से पार्वती की स्थिति का वर्णन करती हैं—

"परि पायं सखि मुख कहि जनायो आपु आप अधीनता"[5]

इसके अनन्तर विवाह निश्चित करने के लिए शिव का सप्त ऋषियों को बुलाकर[6] हिमवान् के पास भेजना, हिमवान् द्वारा उनका स्वागत[7] तथा विवाह[8] की तिथि निश्चित करके लौटना प्रकरण शिवपुराण[9] के अनुकरण पर लिखे गये हैं।

---

१. शिवपुराण–रु० सं० पा० खं० अ० २६।
२. कुमारसम्भव–पंचसर्ग–श्लोक ८३।
३. वही, ५।८६।
४. पार्वतीमंगल–८।७३, पृ० २३।
५. वही–६ पृ० २३।
६. सिव सुमिरे मुनि सात आइ सिर नाइन्हि
कीन्ह संभु सनमानु जन्म फल पाइन्हि। —वही, ६।७५, पृ० २३।
७. गिरि गेह गे अति नेह आदर पूजि पहुनाई करी
घरवात घरनि समेत कन्या आनि सब आगे धरी।
—वही, १० पृ० २५।
८. सुखपाइ बात चलाइ, सुदिन सोधाइ गिरिहि सिखाइ के
रिषि सात प्रातहिं चले प्रमुदित ललित लगन लिखाइके।
—वही, १० पृ० २५।
९. तस्माद्भवंतोगच्छंतु हिमाचल गृहं ध्रुवम्।
तत्रगत्वा हितंवेततत्पपरनोंतुपुनस्तथा। शि० पु० ज्ञा० सं० १५।४१।
ततश्चते चतुर्थे हि् ननिर्धा येलग्नमुतमम्।
परस्परंचसंहृतस्यजग्मुस्ते शिवसंनिधिम्। —वही १५।८७।

पार्वती मंगल में शिव की बारात,[1] वर का वर्णन,[2] मेना का मोह,[3] शिव का दिव्य रूप[4] में प्रकट होकर मेना का मोह निवारण, द्वार पर मेनका[5] द्वारा नीराजन, शिव-पार्वती का पाणिग्रहण[6] प्रसंग भी शिवपुराण[7] के आधार पर लिखे गये हैं।

---

१. प्रमुदित गे अगलान विलोकि बरातहिं
भमरे बनइ न रहत, न बनइ परातहिं
चले भाजि गज वाजि फिरहिं नहिं फेरत
बालक मभरि भुलान फिरहिं घर हेरत
—पार्वती मंगल १२। १०३, १०४, पृ० ३०।

२. प्रेत बेताल बराती भूत भयानक
बरद चढा कर बाउर सबइ सुबानक। —वही १२।१०६।

३. उर लाइ उमहि अनेक विधि जलपति, जननि दुख मानई।
—वही १३।–पृ० ३१।

४. हिमवान् कहेउ इसान महिमा अगम निगम न जानहिं
....
सुनि मैना भइ सुभन सखी देखन चली। —वही १३।१०९, पृ० ३१।

५. सुख सिंधु मगन उतारि आरति करि निछावर निरखि के
युग अरध जसन प्रसून भरि लेइ चलीं मंडप हरषि के
हिमवान दीन्हे उचित आसन सकल सुर सनमानि के
तेहि समय साज समाज सब राखे सुमंडप आनि के।
—वही १४ पृ० ३४।

६. वर दुलहिनिहि विलोकि सकल मन रहसहिं
साखोच्चार समय सब सुर मुनि बिहसहिं
लोक वेद विधि कीन्ह लीन्ह जल कुस कर
कन्यादान संकल्प कीन्ह धरनीधर —वही १४।१२९,१३०, पृ० ३६।

७. तान् दृष्ट्वाहृदयंतस्याः शीर्णमासीत्समाकुलम्।
तन्मध्येशंकरं देवं निर्गुणंगुणवत्तरम्।
वृषभस्थंपंचवक्त्रं त्रिनेत्र भूति भूषितम्।
—शिवपुराण ज्ञा० सं० १५।७४।

सापपाततदाभूमौ मेनादुःख भरासती।
किमिदंच–कृतंदृष्टेधिक्त्वामांच दुराग्रहे। —वही १५।७८।
तस्यास्तु कोमलं किंचिन्मनोविष्णुप्रबोधितम्। —वही १८।१६।

पार्वती मंगल में शिवपुराण तथा कुमारसम्भव का अनुकरण किया गया है फिर भी कवि की मौलिक देन की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस काव्य में पार्वती अथवा राजा हिमाचल के स्वप्न की कोई बात नहीं आई है।

यहां कवि ने 'तारकासुर' प्रसंग की ओर संकेत नहीं किया है। आधार ग्रन्थों में संत्रस्त देव ब्रह्म से विनय करते हैं और ब्रह्मा उन्हें युक्ति बतलाते हैं, जिसे कार्यान्वित करने के लिए इन्द्र 'कामदेव' को बुलाकर समाधिस्थ शिव के मन को क्षुब्ध करने के लिए भेजता है। पार्वती मंगल में सब देव मिलकर मनोज को बुलाते हैं—

"देव देखि भल समय मनोज बुलायउ
कहेउ करिउ सुर काज साजु सजि आयउ"[1]

पार्वतीमंगल में यद्यपि कथा का आधार कुमारसम्भव भी है तथापि तुलसी और कालिदास के आदर्शों[2] में भिन्नता भी स्पष्ट है। पार्वती मंगल की कथा भक्ति भावना से प्रेरित है। श्रद्धा और भक्ति का प्रसार काव्य में पग पग पर हुआ है। तुलसी की उमा को आता हुआ देखकर देवता भी पूज्य भाव से प्रणाम करते हैं तथा अपने जन्म को सफल समझ कर सुखी होते हैं—

"आवत उमहि बिलोकि सीस सुर नावहिं
भए कृतारथ जनम जानि सुख पावहिं"[3]

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि तुलसीकृत 'पार्वतीमंगल' का मूल आधार शिवपुराण है किन्तु कहीं कहीं कालिदास के कुमार सम्भव का प्रभाव भी स्पष्ट है।

शिव ब्यावलो—प्रमुख कथा पर आधारित अन्य काव्य 'शिव ब्यावलो' है जिसमें कवि ने शिव–पार्वती विवाह के प्रसिद्ध आख्यान को लिया है। इस काव्य की कथा पर यद्यपि लोक व्यवहार का प्रभाव कम नहीं है तथापि उसका आधार शिवपुराण ही है।

कवि पार्वती के जन्म का वर्णन लोक व्यवहार के अनुरूप करता है—

"हेमाजल घर कन्या जाई, दान मान सा दीजे दाई
लावो बांटां लाख बधाई, मोत्यां आखा मोर मीठाई"[4]

---

१. पार्वतीमंगल—३।२५—पृ० ११।
२. देखिए डा० सरनामसिंह शर्मा—हिन्दी साहित्य का संस्कृत साहित्य पर प्रभाव, पृ० ५८।
३. पार्वतीमंगल—१४।१२७, पृ० ३५।
४. शिवब्यावलो—पद ६।

एक अन्य स्थल पर कवि ने गौरी अवतार के प्रभाव का वर्णन किया है जो शिवपुराण के प्रभाव में लिखा गया है—

"हेम नगर हरिया हुआ, गोर लिया औतार
गरि लिया अवतार, सहर पिण बस्या सवाया
बालक खेले चिलत तमासा, महल मिंदर बिच भया उजासा।
पलटया चीर पडया पासंगा जे उजास वाई गोरर ऊंगा"[1]

पार्वती के जन्म और उनके अलौकिक प्रभाव के वर्णन की तुलना कुमारसम्भव[2] में वर्णित अलौकिक प्रभाव से की जा सकती है। पार्वती बड़ी होने पर केवल शिव का ध्यान करती है—

"दावा देव न माने दूजा, परमेसर तण करहै पूजा
हिड़दे राखे हर विसवास, अलघण्यां का करे उपास
ईसर वर की राखै आस"[3]

'शिव व्यावलो' काव्य में नारद का आगमन, पार्वती की तपस्या, काम-दहन, सप्तऋषियों द्वारा पार्वती के शिव के प्रति प्रेम की परीक्षा आदि प्रसंगों को नहीं अपनाया गया है।

लोक-व्यवहारों को प्रशस्त करने की प्रवृति 'शिव व्यावलो' में कहीं दीख पड़ती है। कवि ने शिव-पार्वती की कथा को जन-जीवन की कथा के रूप में अभिव्यक्त किया है। पार्वती के उत्पन्न होने पर ब्राह्मण बुलाया जाता है—

"बिपर पूछण धाय पठाई, तेड़ी जाय बिपर ने ल्याई
बिपर वेद वांच ओ भाई, किसा नखतरां कन्या जाई
बिपर बांच्या वेद सवाई, सरवरै धार समूरत जाई
सती सावतरी लिछमी आई, गंग प:र(ब)ती थां घर आई[4]

सम्भवत: यहां पण्डित से कवि का लक्ष्य 'शिवपुराण' प्रथित नारद से रहा हो लेकिन 'धाय' द्वारा पण्डित को बुलवाना, कवि की मौलिकता ही कही जा सकती है।

---

१. वही, पद ८।
२. शिव ब्यावलो—पद १२।
३. कुमार सम्भव—प्रथमसर्ग—श्लोक २३-२८।
४. गोरधन—शिव ब्यावलो—पद ६।

पार्वती बड़ी होती हैं। उनकी शिक्षा का प्रबन्ध किया जाता है—

"आवो पिंडत, पोसाला बेसो, गोरां ग्यान भणावो
राजा बचन इमरत यूं भाखे, माथको भली मणाओ
वेद व्याकरण पढ़ हे गवंरा, कथे अगोचर ग्यान
पिंडत विचारो क्या करे, (बाई) चवदै विद्यानिधान"[1]

ऐसा उल्लेख शिवपुराण अथवा कुमार सम्भव में कहीं नहीं मिलता है। यह कवि की मौलिक सूझ है। 'शिव व्यावलो' में मैना के स्वप्न का उल्लेख है—

"सैंया हे! हम सपनो आई, जाणे ईसर गौर परणाई
बड़ा बड़ा रच मेंड रचाई, नुरपत सुरपत हम पर आई
चावल देती में लजवाई, सुलटे सारू मुख्ख छिपाई
जटा मुकुट में सरप रमाई, चितल जोगी सरपण ब्याई
जटाधारी सो देख जंवाई, अग बाघम्बर भसम रमाई"[2]

स्वप्न का उल्लेख शिव पुराण में अवश्य हुआ है किन्तु वहाँ राजा हिमवान् स्वप्न देखते हैं और स्वप्न के पश्चात् पार्वती को शिवाराधना के लिए भेजा जाता है। अतएव यह कहा जा सकता है कि 'शिव व्यावलो' में रानी मैना का स्वप्न मौलिक है। स्वप्न के आधार पर यहां, राजा हिमवान् पंडित को शिव के पास भेजते हैं। 'गौरा' शिव के स्वरूप एवं निवास स्थान का वर्णन करती हुई ब्राह्मण से कहती हैं—

'गवरां कह सांभलो हो! बिरामण, में आखूं जे नाणा
उतरा खण्ड में अटकल परवत जहाँ पर मेर मंडाणा
आसण साथ अडिग हर बैठा, थिरचक थरप्या थाणा
जां दरवाजे देव बिराजै, सेव करे, ससि माणा
माण करण सी देही झलके, सूरत नाथ सुजाना
हिवड़ै हार हलावल बासग, रुण्डमाल रलियाणा
नाथ बाघ नांदियो साथै, जे सिंभू सहनाणा"[3]

इस वर्णन में भी शिवपुराण की छाया दृष्टिगत होती है किन्तु विस्तारों में कवि की मौलिक प्रतिभा भी स्फुरित हुई है। राजा हिमवान् का आदेश प्राप्त कर पंडित 'शिव' के पास जाता है और शिव प्रसन्नता के साथ विवाह के लिए जाने को तत्पर होते हैं—

---

१. गोरधन–शिव ब्यावलो–पद १२।
२. वही, पद ९।
३. गोरधनदास–शिव ब्यावलो–पद २१।

"संकर भया सकोड, ईसर उदमाद उपन्ना
के सो करे किलोल, रंग राग में मिन्ना
दालद कियो दूर, दान बिपर नै दीना
पंचमुख हाल्या परणावा, गै री गाजे गंग"[1]

....

"परणरण कारण नाथ पधारया, आवध हाथ समाया
चवदे चकर जटा बिच पहरया, मोहनि मुकट बणाया
बटवा घोटा मदन मेखली, भंग भसमी अरचाया
बोला अमल अलावल, घोल्या आक धतूरा खाया"[2]

विवाह के लिए शिव अकेले ही वृषभ पर आरुढ़ हो चल दिए। हिमवान् के नगर में पहुँच कर, वे तालाव के पास बैठ गए। कवि ने यहां, शिवपुराण के समान, शिव की बारात, उसके स्वागत आदि का वर्णन नहीं किया है। पार्वती की सखियां, तालाव के किनारे बैठे जोगी से, ईसर की बारात के लिए पूछती हैं। शिव के उत्तर में भी कवि की मौलिकता का निर्वाह हुआ है। सखियां पूछती हैं—

"ईसर जी री जान बतायो, म्है भोत करां मनवारी
खीर खांड सूं पतर पूरां, मनस्या भोजन त्यारी"

शिव के उत्तर में कवि की नवीनता दिखलाई पड़ती हैं—

"हमही लाडा हम ही जानी, जावो जोवणहारी
हेमाजल घर रोंप्यो, मैंडो (में) परणू गौर तमारी"[3]

शिव के आगमन की सूचना राजा हिमवान् के घर पहुँचती है। 'मैना' पार्वती का शिव से विवाह करने को तैयार नहीं है। पार्वती मैना को समझाती हैं। कवि ने इसी प्रसंग में पार्वती और शिव का वार्तालाप भी दिखलाया है—

"सेस सैया के साथ गवरजा, ओलबो बोलण हाली
थां आया सूं भया दूमना, कोय न होयो राजी
मिल मिल सुन्दर मोसा बोलें, सैयां आगल लाजी
माता बिलखी पिता ज बिलखा, बिलखा सोर बिलूरा

---

१. गोरधनदास—शिवब्यालो—पद २८।
२. वही—पद २९।
३. वही—पद ३५, ३६।

हुं थारी सब गत ने जाणु, सब बांता सिव पूरा
जोगी जंगम जान न लाया, लाया साथ सन्यासी
एकलड़ा काहे सूं आया, जाय विराजो कासीं"[1]

गौरी के उपालंभ पर शिव ने सब देवताओं को विवाह के लिए निमन्त्रण भेजा। निमन्त्रण में कवि की मौलिक सूझ देखिए—

"संकर कियो सुर ध्यान, सहज सूं सूवो उपायो
सुवो चतर सुजाण, माथ कर भलो भणायो
उड़ रे सूवा, वहां वह, जहां विष्णु विराजे
कर जोड़ी कर बीनती, सतरा सबद सुणाय
कैसे(सूं)हर ऐसें कही, आवे सबे नगर को राह"[2]

इस काव्य में अभिव्यक्त शिव का महत्त्व, पार्वती की अलौकिकता और शिव के स्वरूप का वर्णन शिवपुराण की कथा के अनुरूप है। उक्त काव्य में कन्या पक्ष की ओर से शिव के यहां ब्राह्मण का आगमन, योगी वेश में शिव का राजा हेमाचल के नगर में तालाब के किनारे पार्वती की सखियों से वार्तालाप, पार्वती का उपालंभ, शिव की अलौकिक शक्ति द्वारा 'तोते' का आविर्भाव तथा शिव का उसके द्वारा सब देवताओं को बारात में सम्मिलित होने का निमन्त्रण भेजना प्रसंग कवि की मौलिक सूझ है।

'शिव व्यावलो' की कथा में उक्त प्रसंग मौलिक अवश्य है तथापि उसे शैव साहित्य की कथा से भिन्न कहना उचित न होगा।

महादेव-पार्वती री वेलि

पार्वती परिणय सम्बन्धी अन्य काव्यों से कवि किसनउ कृत 'महादेव पार्वती री वेलि' भिन्न है। इसमें कवि ने शिव-विवाह के दो दृश्य उपस्थित किए हैं। किन्तु वर्णनों में विवाह संस्कार विवाह के उत्सव और दम्पति के भावों के विश्लेषण की ओर कवि का ध्यान नहीं गया है। उनका ध्यान किसी बात की ओर गया है तो वरी और दहेज वर्णन की ओर।

कवि ने पार्वती के जन्म और उसके अलौकिक प्रभाव का सुन्दर वर्णन किया है। उनका कथन है—

---

१. वही, पद ५८, ५९।
२. वही—पद ८०।

भुजच्यारे रूप विराजइ भारी
घरहरती घुलती घरा घाव
हेमाचल गिरवर चा सेहर
वसंत तणी रुति एक बणाव"[1]

कवि नायिका के नखशिख और आभरण सौन्दर्य के वर्णन में रमता ज्ञात होता है। उसने उनके दीर्घ वर्णन प्रस्तुत किए हैं। यों तो इन अवसरों पर भी वह रुढ वर्णन से भिन्न अपना मार्ग नहीं निकाल सका है। कवि के शब्दों में पार्वती के नखशिख का वर्णन कीजिये—

"पींडीया तणी ओपमा पुणतां,
अतिनाली जोवतां अनूप।
मछि ताइ खिम्हे महोदधि माहे,
रहीया थरक पंकवा रूप।
जंघस्थल युग केलिग्रम जिसडा
नति जोवतां जिसा गजखंभ
चितसालीव तइ चीतारह
कुनण तणा मांडीया कुंभ।"[2]

कवि ने शिवपुराण की कथा के अनुरूप सती कथा का वर्णन किया है। सती अपने पिता के यहां यज्ञ में आती है। वहां वे शिव का अनादर न सह सकने के कारण प्राण त्यागती हैं—

"अण जांण करंइ निंदा ईसर री
गह दाखइ देखे गढ गांम
उ अपनउ शरीर ईय थी
किसउ सरीर तीये सूं काम।
तांमस कीयउ सती तन त्यागण
आपरा गण चाढ़ीयउ कंथ
हठकर पड़ी हुतासण माहे
वीजउ ही ज जगन कीयउ बज बंध"[3]

---

१. महादेव पार्वती री वेलि—पद ६३।
२. वही—पद ५७, ५८।
३. वही, पद १८८, १८९।

कवि ने दक्ष यज्ञ विध्वंस का चित्रण शैवसाहित्य के अनुरूप किया है जिसमें वीर रस के साथ रौद्र रस से काम लिया गया है। यह वर्णन शिव के रुद्र रूप से सम्बन्धित होने के कारण रसात्मक, चित्रात्मक तथा गतिमय भी है।

"साते ही ब्रह्मंड संकीया
पुड साते संकीया पयाल।
बाजीयो लोहर हक सिर वाजइ,
लागा युध करिवा लंकाल।"[1]

धकचाल हुवइ उतबंग पड़इ धड़,
नड नाचइ अपछर निरथल।
मारथ तणउ पहाउ महाभड,
जुड़तां अणी करइ वड जंग।"[2]

कवि ने पार्वती जन्म और उनके नख शिख वर्णन के अतिरिक्त उनकी तपस्या का चित्रण भी शैव साहित्य के अनुरूप किया है। 'महादेव पार्वती-री वेलि' में पार्वती-तपस्या के समय, जया-विजया नाम से, उनकी दो सखियों की कल्पना शिवपुराण[3] के अनुकरण पर की गयी हैं तथा विप्र रूप में शिव का आगमन और पार्वती की सखियों से उनका वार्तालाप भी शैव साहित्य[4] का छायानुवाद कहा जा सकता है।

पार्वती तो यहां मौन हैं, सखियों का शिव से वार्तालाप भी देर तक नहीं चलता। इस प्रसंग में न कहीं विरोध होता है, न भाव-दशाओं के प्रदर्शन का अवसर आता है। कवि ने कथा के नायक शिव का, परम्परागत प्रसिद्ध, स्वरूप वर्णन किया है। शिव-रूप-वर्णन के प्रसंग सगर कथा से पूर्व, सगर कथा में गंगा के आगमन पर तथा गोरी की कथा में विवाह के प्रस्ताव से पूर्व, विवाह के लिए आगमन के अवसर पर आगए हैं। शिव के स्वरूप का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

---

१. किसनउ—महादेव पार्वती री वेलि—पद १६०।
२. वही—पद १६१।
३. शिवपुराण—रु० सं० पा० खं० अ० २६।
४. तुलना कीजिए—अथ विश्वात्मने गौरी संदिदेश मिथः सखीम्
दाता मे भूपतां नाथः प्रमाणीक्रियतामिति।
—कुमारसम्भव षठसर्ग।

"भरिया चा सूर भयंकर भारथ,
करता पुरुख प्रणाम कहइ
उर ईश्वर तणइ ताइ ऊपर
रुंडमाल झिलती रहइ ।
वासिगरउ कांठलउ विराजइ
सहस करइ फुण गिलण सति
जगवारां आदीतां जिसडी
तेज तपइ मुणि सावरति"[१]

उक्त काव्य की कथा शिवपुराण की कथा पर आधारित है जिसमें कवि ने दृश्य विधान, नवीन प्रसंगोद्‌भावन, अलंकार और शब्दशक्ति प्रयोग में नवीनता लाने की चेष्टा की है । रस संसार के प्रयत्नों के अतिरिक्त इस काव्य में वन-पर्वतादि का वर्णन किया गया है । इसके अतिरिक्त काव्य सौन्दर्य के विधायक अनेक उपकरणों का प्रयोग भी इस काव्य में हुआ है जो मौलिक है ।

'महादेव-पार्वती-री वेलि' की कथा में सगर कथा, सती और पार्वती विवाह तीन कथाएं समाविष्ट हैं जिनका आधार भी शिवपुराण[२] है । कवि ने नायक-नायिका के नखशिख वर्णन, विवाह की तैयारी और दायजे की तैयारी का दृश्य उपस्थित कर उसे सौन्दर्य प्रदान करने का प्रयास किया है ।

विवेच्य युग के काव्य में शिव से सम्बद्ध प्रमुख कथा के अतिरिक्त उन कथाओं को प्रासगिक कथा के रूप में भी स्थान प्राप्त हुआ है ।

मध्यकालीन हिन्दी प्रबन्ध काव्यों में 'रामकथा' प्रमुख है जिसमें प्रसंगवश शिवपुराण की कथाओं का भी उल्लेख हुआ है । ये प्रासगिक कथाएं कथाएं प्रबन्ध काव्य की मूल कथा से सम्बद्ध हैं ।[३] गोस्वामी जी के अनुसार राम कथा का प्रथम वर्णन शिवजी के मुख से पार्वती[४] के प्रति हुआ, जिसका मूल कारण सती मोह है ।

---

१. किसनउ–महादेव पार्वती री वेलि–प० १६, १७ ।

२. शिवपुराण ।

३. मानस मूल मिली सुरसरिहि, सुनत सुजन मन पावन करिहि
बिच-बिच कथा विचित्र विभागा, जनु सरि तीर तीर बन बागा
उमा महेस विवाह बराती, ते जलचर अगनित बहु भांति ।
—मानस–बालकाण्ड ३९ ।

४. "संभु कीन्ह वह चरित सुहावा, बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा"
—वही–२६।२ ।

मानसगत सती कथा

मानस में सती कथा के अन्तर्गत सती का मोह, उनका शिव द्वारा मानसिक त्याग, दक्ष-यज्ञ-विध्वंस और सती का योगाग्नि द्वारा भस्म होना प्रसंग आए हैं। सती कथा में कहा गया है कि शिव और सती, एक बार, घूमते घूमते दण्डकारण्य में आए। वहां उन्होंने लक्ष्मण सहित राम को देखा जो व्याकुलता से सीता की खोज कर रहे थे—

"विरह बिकल नर इव रघुराई, खोजत विपिन फिरत दोउ भाई"[1]

"संभु समय तेहि रामहिं देखा, उपजा हिये अति हरष बिसेषा"[2]

मानस का यह वर्णन शिवपुराण[3] के अनुकरण पर लिखा गया है। शिव के हृदय की स्थिति को देख कर सती के हृदय में संदेह उत्पन्न हुआ—

"सती सो दसा संभु के देखी, उर उपजा संदेहु बिसेषी"[4]

तुलसी के शिव सती के हृदय की अवस्था को देख कर उन्हें राम की परीक्षा[5] का आदेश देते हैं। सती राम की परीक्षा के लिए सीता का वेश धारण करती हैं—

"पुनि पुनि हृदय विचारु करि धरि सीता कर रूप
आगे होइ चलि पंथ, तेहिं तेहिं आवत नर भूप"[6]

---

१. मानस–बालकाण्ड, ४८।४ ।

२. वही–४९।४ ।

३. एक समय की बात है, तीनों लोकों में विचरने वाले लीला विशारद रुद्र सती के साथ बैल पर आरूढ़ होकर भूतल पर विचर रहे थे। घूमते घूमते वे दण्डकारण्य में आए। वहां उन्होंने लक्ष्मण सहित भगवान् श्री राम को देखा, जो रावण द्वारा छलपूर्वक हरी गयी अपनी पत्नी सीता को खोज रहे थे।

—शिवपुराण रुद्रसंहिता (सती खण्ड) अ० २४।

४. मानस, बालकाण्ड–४९ ।

५. जो तुम्हरें मन अति सन्देहू, तो किन जाहू परीछा लेहू

—मानस–बालकाण्ड ५१।९ ।

६. वही, ५२ ।

शिवपुराण[1] में भी सती सीता का वेश धारण कर राम के समीप जाती है। राम ने सीता रूप में सती को पहचान लिया और उनसे पूछा—

"कहेउ बहोरि कहां वृषकेतु. विपिन अकेलि फिरहु केहि हेतु"[2]

सती के हृदय में राम के मृदु, गूढ और कोमल वचनों को सुन कर बड़ा संकोच उत्पन्न हुआ वे भयभीत होकर शिव के पास चलीं—

"राम वचन मृदु गूढ़ सुनि, उपजा अति संकोचु
सती भयभीत महेस पहिं चलीं हृदय बड़ सोचु"[3]

सती के हृदय में बड़ी ग्लानि थी। शिव की शिक्षा न मानने के कारण उनका हृदय क्षुब्ध था। उनकी इस अवस्था को देख महेश ने हंस कर पूछा—

"गई समीप महेस तब हंसि पूछी कुसलात
लीन्ह परीक्षा कवन विधि कहहु सत्य सब बात"[4]

मानस का यह वर्णन शिवपुराण[5] के वर्णन से प्रभावित दीख पड़ता है। सर्वज्ञ शिव ने सती के आचरण को पहचान लिया और उनका मानसिक त्याग कर दिया—

"तब संकर देखेउ धरि ध्याना, सती जो कीन्ह चरित सब जाना
हरि इच्छा भावी बलवाना, हृदय विचारत संभु सुजाना
सती कीन्ह सीता कर वेषा, सिव उर भयउ विषाद विसेषा
एहि तन सतिहि भेंट मोहि नाहीं, सिव संकल्प कीन्ह मनमाहीं"[1]

---

१. सती सोचने लगीं कि "मैं बनचारी राम की परीक्षा कैसे करूं। अच्छा मैं सीता का रूप धारण करके राम के पास चलूँ। यदि राम साक्षात् विष्णु हैं, तब तो सब कुछ जान लेंगे अन्यथा वे मुझे नहीं पहिचानेंगे।" ऐसा विचार कर सती सीता बन कर श्रीराम के पास उनकी परीक्षा लेने गयीं।

—शिवपुराण–रुद्रसंहिता (सती खण्ड) अ० २४।

२. मानस–बालकाण्ड–५२।

३. वही, ५३।

४. वही, ५५।

५. शिव के समीप जाकर सती ने उन्हें मन ही मन प्रणाम किया। उनके मुख पर विशाद छा रहा था। सती को दुखी देख शिव ने उनका कुशल समाचार पूछा और प्रेम पूर्वक कहा—तुमने किस प्रकार परीक्षा ली।

—शिवपुराण रु० सं० स० खं० अ० २५।

तुलसीकृत यह वर्णन शिवपुराण की कथा का अनुवाद मात्र है। उक्त पुराण में कहा गया है कि महेश्वर ने ध्यान लगा कर सती का सारा चरित्र जान लिया और उन्हें मन से त्याग दिया।[1] अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि तुलसी ने मानस में सती मोह कथा को शिवपुराण के परिपार्श्व में ही लिखा है। तुलसी पर शैव साहित्य का प्रभाव स्पष्ट है। सती मोह की कथा यहीं समाप्त नहीं होती। इस कथा के अन्तर्गत दक्ष-यज्ञ-विध्वंस और योगाग्नि द्वारा सती का भस्म होना आदि प्रसंग भी महत्त्वपूर्ण हैं। तुलसी ने इन प्रसंगों को भी शिवपुराण से लिया है। शिवपुराण और रामायण की इन कथाओं में इतना साम्य है कि अनेक छोटे छोटे विस्तार तक मिलते हैं।

सती के मानसिक त्याग के उपरान्त शिव 'कैलास' पर जा कर अखण्ड तप करने लगते हैं—

"सकर सहज सरूपु सम्हारा, लागि समाधि अखंड अपारा"[2]

किन्तु सती चिन्तासुर हो दिन व्यतीत कर रही थी। बहुत समय बाद शिव ने समाधि का त्याग किया—

"बीते संवत सहस सतासी, तजी समाधि संभु अविनासी"[3]

मानस में इस प्रसंग का विस्तार शिवपुराण[4] के अनुरूप हुआ है।

प्रजापति दक्ष ने 'यज्ञ' का संयोजन किया। उसने शिव को छोड़ कर सभी देवताओं को यज्ञ में आमंत्रित किया।[5] एक दिवस आकाश मार्ग से देव-

---

१. शिवपुराण—रुद्र संहिता-सती खण्ड अ० २५।

२, मानस-बालकाण्ड-५७। ख।

३. वही, ५०।

४. शिव सती के साथ कैलास पर जा पहुँचे और श्रेष्ठ आसन पर स्थित हो चित्तवृतियों के निरोध पूर्वक समाधि लगा अपने स्वरूप का ध्यान करने लगे।

—शिवपुराण रु० सं० स० खं० अ० २५।

५. तुलना कीजिए—

एक समय दक्ष ने एक बहुत बड़े यज्ञ का आरम्भ किया। उन्होंने समस्त देवर्षियों, महर्षियों, तथा देवताओं को बुलाया।

—शिवपुराण रुद्रसंहिता स० खं० अ० २७।

ताओं को जाते देख सती ने[1] शिव से उसका कारण पूछा। सती ने 'शिव' से पिता के यहां यज्ञ की बात सुन कर वहाँ अनामंत्रित ही जाने की इच्छा प्रगट की। शिव ने उन्हें बहुत समझाया, पर वे न मानीं और दक्ष यज्ञ में पहुँची। मानस में शिव सती को इस प्रकार समझाते हैं—

"जो बिनु बोले जाहु भवानी, रहइ न सीलु सनेहु न कानी
जदपि मित्र प्रभु पितु गुर गेहा, जाइअ बिनु बोले हुं न संदेहा
तदपि विरोध मान जहां कोई, तहां गए कल्यानु न होई"[2]

मानसगत यह उपदेश शिवपुराण का छायानुवाद मात्र है। इस पुराण में कहा गया है कि सती को समझाते हुए शिव ने कहा "जो लोग बिना बुलाये दूसरे के घर जाते हैं, वे वहां अनादर पाते हैं, जो मृत्यु से भी बढ़ कर है अतः तुमको दक्ष यज्ञ में[3] नहीं जाना चाहिए। शिव के मना करने पर भी सती दक्ष यज्ञ में गयीं और वहाँ शिव की निन्दा तथा अपमान देख कर वे योगाग्नि में भस्म हो गयीं।

"सती जाइ देखेउ सब जागा, कतहुं न दीख संभु कर भागा
.... प्रभु अपमान समुझि उर दहेउ
अस कहि जोग अगिनि तनु जारा, भयउ सकल मख हाहाकारा[4]

मानस के उक्त वर्णन की तुलना शिवपुराण के वर्णन से की जा सकती है।[5] वस्तुतः यह वर्णन उसका भावानुवाद मात्र है। सती की मृत्यु का समाचार सुनकर शिव ने 'वीरभद्र' को भेजा, उसने दक्ष-यज्ञ को विध्वंस कर सब को यथोचित फल दिया—

---

१. सती बिलोके व्योम बिमाना, जात चले सुंदर विधि नाना
सुर सुंदरी करहिं कल गाना, सुनत श्रवन छूटहिं मुनि ध्याना
पूछेउ तब सिव कहेउ बखानी, पिता जग्य सुनि कछु हरषानी
—मानस-बालकाण्ड ६०।

२. वही, ६१।

३. शिवपुराण-रुद्रसंहिता-सतीखण्ड अ० २८।

४. मानस-बालकाण्ड-६३।

५. "सती का निष्पाप शरीर तत्काल गिरा और उनकी इच्छा के अनुसार योगाग्नि से जलकर तुरन्त भस्म हो गया।"
—शिवपुराण रु० सं० स० खं० अ० ३०।

"समाचार तब संकर पाए, वीरभद्र करि कोप पठाए
जाय विध्वंस जाइ तिन्ह कीन्हा, सकल सुरन्ह विधिवत फलु दीन्हा"[१]

सती मोह, शिव द्वारा उनका मानस त्याग, दक्ष-यज्ञ विध्वंस तथा सती का योगाग्नि द्वारा प्राण त्याग आदि प्रसंग शिवपुराण से अवतरित कहे जा सकते हैं। किन्तु दोनों का सूक्ष्म अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि कवि ने उक्त पुराण-गत कथा के कुछ प्रसंगों को छोड़ दिया है। इतना ही नहीं कवि ने कथा मौलिकता लाकर उसे सौन्दर्य प्रदान किया है।

शिवपुराण[२] में कहा गया है कि शिव ने दण्डकारण्य में सीता को खोजते हुए राम को दूर से प्रणाम किया और दूसरी ओर चल दिए। भगवान् शिव की, मोह में डालने वाली, ऐसी लीला को देख सती को बड़ा विस्मय हुआ और उन्होंने शिव से इसका कारण पूछा, लेकिन तुलसी की 'सती' अपने हृदय के सन्देह को प्रगट नहीं कर पाती। शिव सर्वज्ञ हैं। उन्होंने सती के हृदय की स्थिति को पहचान लिया—

"जदपि न प्रगट कहेउ भवानी, हर अन्तर जामी सब जानी"[३]

तुलसी ने सती के हृदय के अन्तर्द्वन्द्व का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कर कथा के साहित्यिक सौन्दर्य को तो बढ़ाया ही है साथ ही कथा को मौलिकता भी प्रदान की है। शिवपुराण में सती को सीता के वेश में देख कर, राम उनसे नूतन रूप धारण करने का कारण[४] पूछते हैं। यहाँ सती और राम के बीच में विस्तृत वार्तालाप भी दिखलाया गया है। मर्यादा के रक्षक तुलसी ने इस प्रसंग को भी अपने अनुकूल परिवर्तित कर लिया है। तुलसी के राम पार्वती को सादर प्रणाम करते हैं—

"जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामु, पिता समेत लीन्ह निज नामु"[५]

तुलसी ने राम द्वारा सती को प्रणाम करा कर नारी के गौरव की रक्षा की है साथ ही जिस प्रकार शिव राम के पूज्य हैं उसी प्रकार पार्वती भी उनके लिए

---

१. मानस–बालकाण्ड ६४।
२. शिवपुराण–रुद्र सं०–अ० २४।
३. मानस–बालकाण्ड ५०।३।
४. राम ने सती को प्रणाम कर पूछा—"आप पति के बिना अकेली ही इन बन में क्यों कर आयी हैं। देवि! आपने अपना रूप त्याग कर यह नूतन रूप किसलिए धारण किया है।"
—शिवपुराण रु० सं० स० खं० अ० २४।
५. मानस–बालकाण्ड ५२।४।

पूज्य हैं—कवि ने उक्त तथ्य की ओर भी संकेत किया है। सती का गर्व तो राम के प्रणत होने पर ही चूर चूर हो गया था अतः तुलसी ने उक्त अवसर पर राम से और कुछ न कहला कर 'सती' के गौरव की रक्षा की है। यही तुलसी की मौलिकता है।

इसी प्रसंग में जब तुलसी की 'सती' शिव के पास जा रही थी वे जिधर देखती उधर ही राम लक्ष्मण और सीता दिखलाई देते थे—

"फिरि चितवा पाछें प्रभु देखा, सहित बंधु सिय सुन्दरवेशा
जहं चितवहिं तहं प्रभु आसीना, सेवहिं सिद्ध मुनीस प्रवीना"[१]
"हृदय कंप तन सुधि कुछ नाहीं, नयन मूंदि बैठि मग माहीं
बहुरि बिलोकेउ नयन उघारी, कछु न दीख तंह दच्छकुमारी"[२]

यह प्रसंग शिवपुराण में नहीं है। कवि ने राम के प्रभाव को व्यक्त करने के लिए, शिवपुराण की कथा में, इस नवीन प्रसंग को जोड़ा है। सती शिव के पास पहुँचती हैं। शिव ने पूछा कि परीक्षा कैसे ली। सती ने उत्तर दिया—

"कछु न परीक्षा लीन्हि गोसाईं, कीन्ह प्रनामु तुम्हारिहि नाईं"[३]

सती का उत्तर भी तुलसी की मौलिक सूझ का परिणाम है। शिवपुराण में सती कुछ उत्तर नहीं दे पातीं। वे शिव के पास शोक और विषाद सिक्त हृदय से खड़ी[४] रह जाती हैं।

तुलसी ने दक्ष-यज्ञ की कथा को अत्यन्त संक्षेप में कहा है। कवि का कथन है कि यह इतिहास संसार जानता है इसलिए उन्होंने संक्षेप में वर्णन किया है—

"मैं जग विदित दच्छ गति सोई, जासि कछु संभु विमुख के होइ।
यह इतिहास सकल जग जानी, ताते में संक्षेप बखानी"[५]

---

१. मानस–बालकाण्ड–५३।३।

२. वही, ५४।

३. वही, ५५।

४. शिव ने पूछा तुमने किस प्रकार परीक्षा ली। उनकी यह बात सुनकर सती मस्तक झुकाये उनके पास खड़ी हो गयी। उनका मन शोक और विषाद में डूबा हुआ था।"
—शिवपुराण स० सं० स० खं० अ० २५।

५. मानस–बालकाण्ड–५५।

रामायण में दक्ष-यज्ञ-कथा यद्यपि बहुत संक्षेप में कही गयी है तथापि शिवपुराण से भिन्न नहीं है। सतीमोह, शिव द्वारा उनका मानसिक त्याग और दक्ष यज्ञ विध्वंस शिवपुराण की छाया में ही लिखे गये हैं। कथा के विस्तार में कहीं कहीं मूल अंशों का विसर्जन और मौलिक प्रदान होने पर भी वह मूल कथा का अनुवाद मात्र ही है। राम कथा में शैव कथाओं के प्रसंग और उनकी महत्ता से वैष्णव साहित्य पर शैव साहित्य के प्रभाव की दिशा भी व्यक्त हो जाती है।

पार्वती-कथा

सती कथा के अतिरिक्त शैव साहित्य की अन्य प्रमुख कथा शिव-पार्वती की कथा है जिसके अन्तर्गत पार्वती जन्म, तपस्या, तारकासुर वध, मदन दहन और पार्वती परिणय प्रसंग आते हैं। आलोच्य काल के शैवेत्तर काव्य में इसका विकास शैव साहित्य के परिपार्श्व में हुआ है। पार्वती कथा से सम्बद्ध उक्त प्रसंगों को कालिदास ने 'कुमार सम्भव' में शिवपुराण के अनुरूप चित्रित किया है।

मानस में उमाजन्म के प्रभाव को तुलसीदास इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—

"जब तें उमा सेल गृह जाई, सकल सिद्धि संपति तहं छाई
....
सदा सुमन फल सहित सब द्रुम नव नाना जाति
प्रगटीं सुन्दर सेल पर मनि आकर बहु भांति"[1]

कवि कालिदास[2] ने भी ऐसा ही वर्णन किया है।

पार्वती-कथा का दूसरा चरण देवर्षि नारद के आगमन के बाद आरम्भ होता है। कवि का कथन है कि नारद पार्वती के अवतीर्ण होने के समाचार पाकर राजा हेमाचल के घर आए—

"नारद समाचार सब पाए कौतुकहीं गिरि गेह सिधारा"[3]

१, मानस–बालकाण्ड ६४, ६५।

२. "उमा के जन्म के दिन दिशाए प्रसन्न हो गयीं, बिना धूल के वायु बहने लगी, शंखध्वनि के बाद पुष्प वृष्टि हुई, जिस प्रकार महती प्रभाव वाली शिक्षा से दीपक पवित्र और विभूषित होता है उसी प्रकार हिमालय भी उमा के द्वारा पूत और पवित्र हो गया।"

—कुमार सम्भवसर्ग १, श्लोक २३-२८।

३. मानस–बालकाण्ड–६५।

वहां उनका आदर सत्कार हुआ और राजा 'हेमाचल' ने पार्वती को बुलाकर नारद के चरणों में प्रणाम करवाया। रामचरित मानस में नारद का आगमन और पार्वती के हाथ की रेखाओं को देख कर उनके दिव्य गुणों का वर्णन तथा पार्वती के भावी पति का संकेत भी शिवपुराण से ज्यों का त्यों[1] अपनाया गया है। तुलसी नारद के शब्दों में पार्वती की पवित्रता और उनके दिव्य गुणों को अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं—

"कह मुनि बिहंसि गूढ मृदु बानी, सुता तुम्हारी सकल खुन खानी
सुंदर सहज सुसील सयानी, नाम उमा अम्बिका भवानी
सब लच्छन सम्पन्न कुमारी, होइहि संतत पियहि पिआरी
सदा अचल एहि कर अहिवाता, एहि तें जपु पैहहिं पितु माता
होइहि पूज्य सकल जग माहीं, एहि सेवत कछु दुर्लभ नाहीं
एहि कर नामु सुमिरि संसारा, त्रिय चढिहहिं पतिव्रत असिधारा"[2]

नारद के उक्त कथन की तुलना शिवपुराण[3] से की जा सकती है। तुलसी के नारद पार्वती के भावी पति की ओर संकेत करते हैं—

"संभु सहज समरथ भगवाना, एहिविवाहं सब विधि कल्याना
दुराराध्य पे अहहिं महेसू, आसुतोष पुनि किएं कलेसु

---

१. "एक समय की बात है कि शिव की प्रेरणा से नारद राजा हेमाचल के घर गए। राजा ने नारद का उचित सत्कार किया, पुत्री को बुलाकर उनके चरणों में प्रणाम करवाया। नारद ने पार्वती का हाथ देखा।
—शिवपुराण—रुद्रसंहिता पा० खं० अ० ७।

२. मानस—बालकाण्ड ६६।

३. शिवपुराण में नारद पार्वती का हाथ देख कर बतलाते हैं—
"यह अपने पति के लिए अत्यन्त सुखदायिनी होगी और माता पिता की कीर्ति बढ़ायेगी। संसार की समस्त नारियों में यह परम साध्वी और स्वजनों को सदा महान् आनन्द देने वाली होगी।
—शिवपुराण—रुद्र संहिता—पा० खं० अ० ७।

जों तपु करे कुमारि तुम्हारी, भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी
जदपि वर अनेक जग माहीं, एहि कहं सिव तज दूसर नाहीं"[१]

मानस में यह प्रसंग शिवपुराण का शब्दानुवाद ही है। तुलसी की पार्वती पवित्रता और अलौकिक गुणों में इस पुराण की पार्वती से पीछे नहीं है। तुलसी के काव्य में शिवपुराण की कथागत अलौकिकता का निर्वाह हुआ है। अतएव तुलसी के काव्य पर शैव साहित्य के प्रभाव की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

रामायण में नारद की भविष्यवाणी से मेनका चिन्तित हो गयीं। उनकी चिन्ता का वर्णन तुलसी के शब्दों में देखिए—

"जों घरु वरु कुलु होइ अनूपा, करिअ विवाहु सुतर अनुरूपा
न त कन्या बरु रहउ कुआरी, कंत उमा मम प्रान पिआरी"

मानसगत यह वर्णन शिवपुराण का शब्दानुवाद ही है। शिवपुराण में मेनका राजा हिमाचल से कहती हैं—

"गिरिजा का वर शुभ लक्षणों से सम्पन्न और कुलीन होना चाहिए। मेरी बेटी मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय है"[२]

मानस में राजा हिमाचल अपनी पत्नी को समझाते हुए कहते हैं—

"अब जो तुम्हहिं सुता पर नेहू, तो अस जाइ सिखावन देहू
करे तपु जेहिं मिलहि महेसू, आन उपाय न मिटिहि कलेसू"[३]

पर मैना के हृदय में इतनी दृढ़ता नहीं थी कि अपनी कोमलांगी पुत्री को तप करने की सलाह दे सके—

"बारहि बार लेति उर लाई, गदगद खंठ न कछु कहि जाई"[४]

---

१. मानस-बालकाण्ड ६९।
तुलना कीजिए—
नारद कहते हैं "मैंने जैसे वर का निरूपण किया है, वैसे ही भगवान् शंकर हैं। वे सर्वसमर्थ हैं, वे जल्दी ही प्रसन्न हो जाते हैं विशेषतः वे तपस्या से वश में हो जाते हैं। शिवा यदि तप करे तो सब काम ठीक हो जावेगा। पार्वती भगवान् शंकर की प्यारी पत्नी होगी। वे भगवान् भी इसके सिवा दूसरी स्त्री से विवाह नहीं करेंगे।
—शि० पु० रु० सं० पा० खं० अ० ७।

२. शिवपुराण-रुद्र सं०-पा० खं० अ० ९।

३. मानस-बालकाण्ड ७१।

४. वही ७१।

माता के हृदय की व्याकुलता को पार्वती ने पहचान लिया और वे माता से बोलीं-

"सुनहि मातु में दीख अस सपन सुनावउं तोहि
सुंदर गौर सुबिप्रवर अस उपदेसेउ मोहि
करहि जाइ तपु सेलु कुमारी, नारद कहा सो सत्य विचारी"[1]

उक्त कथन शिवपुराण की कथा की छाया प्रतीत होती है। शिवपुराण में कहा गया है कि "राजा हेमवान् ने मेनका को समझाया और कहा कि तुम पुत्री पार्वती को शिव-प्राप्ति के लिए तपस्या करने की शिक्षा दो। रानी पुत्री को उपदेश देने के निमित्त उसके पास गयीं परन्तु बेटी के सुकुमार अंग पर दृष्टि-पात करके मेनका के मन में बड़ी व्यथा हुई। उनमें पुत्री को उपदेश देने की शक्ति न रह गयी। माता की चेष्टा को पार्वती शीघ्र पहचान गयी। तब उन्होंने माता से कहा कि हे माता स्वप्न में एक दयालु एवं तपस्वी ब्राह्मण ने मुझे शिव की प्रसन्नता के लिए उत्तम तपस्या करने का उपदेश दिया है।[2]

उक्त कथन की तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता कि तुलसी के मानस का वर्णन इसका अनुवाद ही है। वस्तुतः तुलसी शिव से सम्बद्ध प्रासंगिक कथाओं का वर्णन करने में शैव साहित्य से दूर नहीं गए हैं। उन पर शैव साहित्य का प्रभाव स्पष्ट है।

पार्वती कथा के साथ ही रामायण में तारकासुरवध संकेत और मदन-दहन का वर्णन है। इन दोनों का सम्बन्ध शिव से है। शिव पुराण में[3] तारकासुर के उत्पातों से घबराकर देवजन ब्रह्मा से प्रार्थना करते हैं फिर वे बतलाते हैं कि तारकासुर का वध केवल शिव का पुत्र ही कर सकता है। अत-एव तपस्या में लीन 'शिव' को पार्वती से विवाह के लिए प्रेरित करना आवश्यक था। ब्रह्मा के निवेदन पर कामदेव ने इस कार्य को करना स्वीकार किया। रामायण में भी यह प्रसंग इसी रूप में वर्णित है। तुलसी के शब्दों में उक्त कथा का वर्णन देखिए—

"तारकु असुर भयउ तेहि काला, भुज प्रताप बल तेजविसाला
तेहिं सब लोक लोकपति जीते, भए देव सुख संपति रीते
तब बिरंचि सन जाइ पुकारे, देखे बिधि सब देव दुखारे
सब सन कहा बुझाइ बिधि दनुज निधन तब होइ
संभु सुक्र संभूत सुत एहि जीतइ रन सोइ"[4]

१. मानस-बालकाण्ड, ७२।
२. शिवपुराण-रुद्र संहिता-पा० खं० अ० ६।
३. वही, अ० १६-१७।
४. मानस-बालकाण्ड-८२।

तुलसी ने भी कामदेव को इस कार्य के लिए उपयुक्त पात्र समझा है—

"पठवहु काम जाइ सिव पाहीं, करै छोभु संकर मन माहीं
तब हम जाइ सिवहि सिर नाई, करवाउब बिबाहु बरिआई
अस्तुति सुरन्ह कीन्ह अति हेतु, प्रगटेउ विषम बान झषकेतु"[१]

तारकासुर-वध ही मदन-दहन का हेतु है। यहाँ भी तुलसी ने शिवपुराण[२] का अनुकरण किया प्रतीत होता है।

कामदेव यह भलीभांति जानता था कि शिव द्रोह करने पर 'मरण' निश्चय है फिर भी देवताओं के कार्य के लिए उसने दुस्साहस किया—

"चलत मार अस हृदयं बिचारा, सिव विरोध ध्रुव मरन हमारा"[३]

काम के प्रभाव से सारा वातावरण वदल गया। तुलसी के शब्दों में काम के प्रभाव को देखिए—

"मदन अंध व्याकुल सब लोका, निसि दिनु नहिं अवलोकहिं कोका
देव दनुज नर किंनर व्याला, प्रेत पिसाच भूत बेताला
इन्ह के दसा न कहेउं बखानी, सदा काम के चेरे जानी
सिद्ध विरक्त महामुनि जोगी, तेपि कामवस भए वियोगी"[४]

कामदेव बड़े साहस के साथ 'शिव' के पास पहुँचा—

"उभय घरी अस कौतुक भयऊ, जो लगि कामु संभु पहिं गयउ
सिवहिं बिलोकि ससंकेऊ मारू, भयउ जथामिति सबु संसारू"[५]

कामदेव के वाण से शिव की समाधि छूट गई—

"छाड़े विषम विसिख उर लागे, छूटि समाधि संभु तब जागे
भयउ ईस मन छोभु विसेषी, नयन उघारि सकल दिसि देखी

---

१. मानस—बालकाण्ड ८२।

२. तस्मान्मित्रवरस्त्वंच कार्यंकर्तुमिहार्हसि।
ममदुःखंसमुत्पन्न मसाध्यंबहुकालिकम्।
केनापि नैवतच्छक्यंदूरीकर्तुंत्वया विना।
दातुश्चैवपरीक्षावैदुर्भिक्षेज्ञायतेनृभिः।
—शिवपुराण ज्ञा० सं० १०।३१।

३. मानस—बालकाण्ड ८३।

४. वही, ८४।

५. मानस—बालकाण्ड, ८६।

सौरभ पल्लव मदनु बिलोका, भयउ कोपु कंपेउ त्रैलोका
तब सिव तीसर नयन उघारा, चितवत कामु भयउ जरि छारा"[१]

रामायण की कथा पर शिवपुराण का कितना प्रभाव है, यह अनुमान गम्य है। इसे यदि शिवपुराण का छायानुवाद कहें तो अनुचित न होगा। तुलसी के शिव रति को आश्वासन देते हुए कहते हैं—

"जब जदुबंस कृष्ण अवतारा, होइहि हरन महामहि मारा
कृष्ण तनय होइहि पति तोरा, बचनु अन्यथा होइ न मोरा"[२]

मानस में काम दहन के प्रसंग के उपरान्त पार्वती परिणय का प्रसंग आता है। ब्रह्मा, विष्णु सहित सब देवताओं ने, शिव के चरणों में उपस्थित हो निवेदन किया—

"सकल सुरन्ह के हृदयं अस संकर परम उछाहु
निज नयनन्हि देखा पहहिं नाथ तुम्हार बिवाहु"[३]

शिव ने देवताओं की विनय को स्वीकार कर लिया। तब सप्त ऋषि गिरिराज के गृह गए और शिव के आदेशानुसार पार्वती के प्रेम की परीक्षा ली। पार्वती कहती हैं—

---

१. सखीभ्यांसंयुतातत्रयत्रातिष्ठद्धरः
स्वयम् जगामशिव पूजार्थं नीत्वा–
पुष्पाण्यनेकशः यदाशिव समीपेतु–
गतासापर्वतात्मजा तदैवाकर्षयच्चापंरू–
च्यर्भशूलपाणिनः। स्यागतपोबला द्वै
ददृष्टः शंभु स्वंयतदा।
वामभागे स्थितं कामं ददर्शवाणकर्षिणम्।
तंदृष्ट्वा क्रोधसंयुक्तः संजातस्तत्क्षणादपि।
अहो वुष्टेन कामेनन मुक्तोऽहंदुरासदः।
इत्येवंमनसा क्रुद्धः शिवः परमकोपनः।
तृतीयालस्यनेत्राद्वै निःससाराग्निरुच्छितः।
भस्मसाकृतवां स्तेन मवनंतावदेवहि।
—शिवपुराण ज्ञा० सं० अ० १०, ११।

२. मानस-बालकाण्ड ८७।

३. वही ८८

"देखहु मुनि अविवेकु हमारा, चाहिअ सदा सिवहि भरतारा"[१]

पार्वती को अपने प्रण में दृढ़ देख कर, सप्त ऋषियों ने उनके पिता राजा हिमाचल को सब प्रसंग बतलाया—

"सबु प्रसंगु गिरिपतिहि सुनावा, मदन दहन मुनि अति दुख पावा
बहुरि कहेउ रति कर बरदाना, सुनि हेमवंत बहुत सुखु माना
हृदयं विचारि संभु प्रभुताई, सादर मुनिवर लिए बोलाई
पत्री सप्तरिषिन्ह सोइ दीन्ही, गहि पद विनय हिमाचल कीन्ही"[२]

शिव पुराण में[3] भी ऋषि पार्वती की परीक्षा लेते हैं। शिव से सम्बन्धित मानसगत प्रासंगिक शिव कथाओं पर शैव साहित्य के प्रभाव को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

शैवसाहित्य में शिव विवाह का वर्णन बड़ी विशदता के साथ हुआ है। मानस की शिव–विवाह कथा भी उसी आधार पर लिखी गयी है। यद्यपि प्रासंगिक कथा होने के कारण उसमें से कुछ विस्तार अवश्य कम कर दिए गए हैं फिर भी वर रूप में शिव की वेश भूषा, का बारात मेनका विलाप आदि का वर्णन शिवपुराण[४] के अनुकरण पर हुआ है। तुलसी वर रूप में सुसज्जित शिव की वेशभूषा का वर्णन करते हैं—

"सिवहि संभुगन करहिं सिंगारा, जटा मुकुट अहि मौरु सिंगारा"[५]

वर के अनुरूप ही बारात है—

"जस दूलह तसि बनी बराता, कौतुक विविध होहिं मग जाता"[६]

---

१. मानस–बालकाण्ड ७७।

२. वही ९०।

३. शिवपुराण–रुद्र संहिता–पा० खं० अ० २५।

४, तान् दृष्टवाहृदयंतस्याः शीर्णमासीत्समाकुलम्।
तन्मध्येशंकरं देवं निर्गुणं गुणवत्तरम्।
वृषभस्थंपंचवक्त्रं त्रिनेत्रं भूतिभूषितम्।
सापतत्तदाभूमौ मेना दुखपरासती।
किमिदंचक्रतंदुष्टेधिक्त्वांमांचदुराग्रहे।
—शिवपुराण ज्ञा० सं० १५।७४, ७८।

५. मानस-बालकाण्ड, ९१।

६. वही, ९३।

बारात को देखकर मेनका के हृदय पर क्या वीती तुलसी के शब्दों में देखिए—

"भई विकल अबला सकल दुखित देखि गिरिनारि
करि बिलापु रोंदति बदति सुता सनेहु संभारि
नारद कर मैं कहा बिगारा, भवनु मोर जिन्ह बसत उजारा"[1]

मेनका के विलाप की तुलना शिवपुराण में वर्णित मेनका विलाप से की जा सकती है।[2]

शिवपुराण[3] के समान ही मानस में मेनका के विलाप का समाचार जानकर राजा हिमाचल सप्तऋषियों और नारद सहित उनके पास गए। नारद के समझाने पर मेनका के[4] हृदय का द्वन्द्व दूर हुआ। इसके अनन्तर शिव–पार्वती विवाह सम्पन्न हुआ।

मानस में पार्वती कथा से सम्बद्ध पार्वती-जन्म, उनकी तपस्या, तारकासुर प्रसंग, मदनदहन और शिव पार्वती विवाह आदि प्रसंगों का विकास शैव परम्परा के परिपार्श्व में हुआ है। कवि ने मूलकथा के कुछ प्रसंगों को जोड़ा है तथा कुछ मौलिक प्रसंगों के संयोग से कथा को सौन्दर्य प्रदान किया है फिर भी उनकी कथा शिवपुराण की कथा का शब्दानुवाद तथा भावानुवाद मात्र है।

शिवपुराण में नारद की भविष्य वाणी के उपरान्त पार्वती के स्वप्न के साथ राजा हिमाचल के स्वप्न का भी उल्लेख है। तपस्या के लिए बन जाने को तत्पर पार्वती को, उनके पिता अपने स्वप्न के फल की प्रतीक्षा[5] तक के

१. मानस, बालकाण्ड ९३।

२. संज्ञांलब्ध्वापुनः साचतिरस्कारमपा करोत्।
नारदस्याथपुत्र्याश्चनिंनिंदचरितंतथा।
धिक्त्वां चतव बुद्धिधिक् चर्यांचिऋषिसतमा।
—शिवपुराण ज्ञा० सं० १६।१, १४।

३. श्रोतव्यंचत्वयामेनेमदीयंवचनं शुभम्।
शंकरोलोककर्ताचहर्ता पालयितास्वयम्।
—शिवपुराण ज्ञा० सं० १६।२३।

४. तेहि अवसर नारद सहित अरु रिषि सप्त समेत।
समाचार सुनि तुहिनगिरि गवने तुरत निकेत।
—मानस बा० का० ९७।

सुनि नारद के वचन तब सब कर मिटा बिषाद
छन महुं व्यापेउ सकल पुर घर घर यह संवाद। —वही ९८।

५. शिवपुराण–रुद्रसंहिता–पा० खं० अ० १२।

लिए रोक लेते हैं। इस काव्य में कहा गया है कि हिमवान् ने स्वप्न में नारद के बतलाये लक्षणों से युक्त तपस्वी को देखा। वे स्वप्न में ही अपनी पुत्री पार्वती को तपस्वी के पास ले गए और तपस्वी की आज्ञा लेकर, अपनी पुत्री को, उनकी सेवार्थ वहीं छोड़ आए। शिवपुराण[1] के अनुसार कुछ समय पश्चात् राजा का स्वप्न फलीभूत हुआ। राजा हिमाचल स्वयं पार्वती को तपस्वी शिव की सेवा में छोड़ आए। शिवपुराण और कुमारसम्भव, दोनों में कथा का विकास समान रूप से हुआ है। अन्तर इतना है कि कालिदास की पार्वती अपनी सखियों के साथ शिव की सेवा के लिए जाती है[2] तुलसी न तो राजा हिमाचल के स्वप्न की बात कहते हैं और न उनकी पार्वती विवाह से पूर्व शिव की सेवा में उपस्थित होती है।

तुलसीकृत पार्वती कथा में मौलिकता दिखलाई देती है। तुलसी की पार्वती, नारद के आदेशानुसार, माता पिता से आज्ञा लेकर तप करने चली जाती है। दक्ष के यज्ञ में आत्म-विसर्जन कर देने वाली सती के शील का पूर्ण विकसित रूप गोस्वामीजी ने अपनी 'पार्वती' में बाल्यावस्था के प्रारम्भ से ही देखा है। मर्यादा की परमोच्च सीमा के साधक तुलसी ने पार्वती को पहले ही तपस्या[3] के लिए भेज कर कथा के विकास में मौलिकता का समावेश तो किया ही है साथ ही नारी की पवित्रता की भी रक्षा की है। तुलसी के शब्दों में पार्वती की तपस्या के प्रभाव को देखिए—

> "देखि उमहि तप खीज सरीरा, ब्रह्मगिरा में गगन गंभीरा
> भयउ मनोरथ सुफल तव सुनु गिरिराज कुमारी
> परिहरु दुसह कलेस सब अब मिलिहहिं त्रिपुरारी"[4]

पार्वती की तपस्या से प्रभावित विष्णु, शिव के पास जाकर उनके तप की बात कहते हैं तथा शिव से पार्वती के साथ विवाह का वचन भी ले लेते हैं—

---

१. शिवपुराण—

२. "अनर्घ्यमर्घ्येण तमद्रिनाथः स्वर्गौकसामर्चितमर्चयित्वा
आराधनायास्य सखीसमेतां समादिदेश प्रयतां तनूजाम्"
—कुमारसम्भव–प्रथम सर्ग–५८।

३. उर धरि उमा प्रानपति चरना, जाइ विपिन लागीं तपु करना
अति सुकुमार न तनु तप जोगू, पति पद सुमिरि तजेउ सबु भोगु
—मानस–बालकाण्ड, ७४।

४. वही ७४।

"अब विनति मम सुनहु सिव जों मो पर निज नेहू
जाइ विवाहहु सैलजहि यह मोहिमांगे देहु"[१]

सप्त ऋषि भी पार्वती की तपस्या से प्रभावित होते हैं—

"तुम्ह माया भगवान सिय सकल जगत पितु मातु
नाइ चरन सिर मुनि चले पुनि पुनि हरषत गातु"[२]

शिव पुराण में काम-दहन के उपरान्त पार्वती की तपस्या का उल्लेख है। तभी सप्तऋषि भी शिव के आदेश से पार्वती के पास आते हैं। उक्त पुराण में पार्वती शिव के वियोग में विह्वाल हो तप करने जाती हैं। अतएव मानस की पार्वती शील और त्याग में शिवपुराण की पार्वती से बढ़कर दिखलाई पड़ती हैं।

सप्तऋषि पार्वती की परीक्षा लेकर, उनके पिता के पास गए तथा पार्वती के पिता उनके आदेश पर पार्वती को घर लाए—

"जाइ मुनिन्ह हिमवंतु पठाए, करि विनती गिरजहिं गृह लाए':[३]

नारी के गौरव की यही पराकाष्ठा है जिसे गोस्वामी ने पार्वती के चरित्र द्वारा व्यक्त किया है। तपस्या के उपरान्त, पार्वती का स्वयं, घर लौट कर आना इतना शोभनीय न होता जितना, पिता के द्वारा ससम्मान घर लौटा कर लाना। शिवपुराण[४] में पार्वती स्वयं सखियों के साथ घर लौट कर आती हैं।

काम-दहन-प्रसंग में तुलसी ने कतिपय प्रसंगों का विसर्जन किया है। शिवपुराण में कामदहन के समय पार्वती[५] शिव की सेवा में प्रस्तुत थीं। मदन-दहन की घटना से उनका सारा शरीर सफेद पड़ गया। उधर काम-दहन के शब्द से उनके पिता भी विस्मित हुए और अपनी पुत्री का स्मरण कर उन्हें बड़ा खेद हुआ। कामदेव को भस्मकर महादेव अदृश्य हो गए। अतएव उनके विरह से पार्वती अत्यधिक दुखी हुई। उन्हें घर लौटने पर भी किसी प्रकार

---

१. मानस—बालकाण्ड ७६।
२. वही, ८१।
३. वही, ८१.१।
४. "समादायसखी युक्ता जगाममंदिरंस्वयम्"
—शिवपुराण ज्ञा० सं० ११।६।
५. "तत्समीपेचसेवार्थं पार्वतीसखिसंयुता
तिष्ठतिचमहासजपित्राज्ञयाश्रुतम —शिवपुराण ज्ञा० सं० १०।४६।

शान्ति न मिली। वे सदा 'शिव' 'शिव' का जप किया करती थीं।[1] कालिदास ने भी शिवपुराण के अनुकरण पर, अपने काव्य कुमारसम्भव में काम दहन का वर्णन किया है।[2]

कामदहन के चित्र में तुलसी उमा को नहीं लाए हैं। उन्होंने पुरुष शिव पर तो 'काम' का आक्रमण सह लिया है पर वे अपनी उमा में वासना का उद्गम किसी प्रकार नहीं सह सकते थे। उमा में प्रेम का जो प्रथम उद्गम गोस्वामी जी ने दिखलाया है, वह वासनात्मक नहीं श्रद्धात्मक है। उन्होंने कहा है— "उपजेउ शिव पद कमल सनेहू।"[3] तपस्विनी उमा को अपने सत्य प्रेम पर पवित्र अभिमान पूर्ण विश्वास था। उनका विश्वास सप्तऋषियों को दिए गए उत्तर से अभिव्यक्त होता है—

"जनम कोटि रगरि हमारी, बरउं संभु न तु रहउंकुआंरी
तजउं न नारद कर उपदेसू, आपु कहहिं सतवार महेसू"[4]

तुलसी की वस्तु योजना में शिव 'काम' को भस्म कर देते हैं, पर देवताओं की प्रार्थना पर पार्वती से विवाह करना स्वीकार कर लेते हैं। ब्रह्मा[5]

---

१. इतिसादुःखितातत्रस्मरंतीहरचेष्टितम्
सुखेंनलेभेंकिंचिद्ध शिवशिवेतिसा ब्रवीत्।
—शिवपुराण रुद्रसंहिता पा० खं० अ० २०-२१।

२. कुमार सम्भव में कहा गया है कि पार्वती अपने भावी पति का दर्शन करने शंकर के आश्रम पर पहुंची, ठीक उसी समय महादेव ने भी परमात्मनाम की परम ज्योति का दर्शन करके समाधि तोड़ी। पार्वती ने प्रणाम कर, समाधि से जगे हुए शंकर के गले में, मन्दाकिनी के कमल के बीजों की माला अपने हाथों से पहिना दी। शिव ने माला ली ही थी कि कामदेव ने सम्मोहन का अचूक बाण अपने धनुष पर चढा लिया। तप में बाधा डालने वाले कामदेव पर महादेव को बड़ा क्रोध आया और उन्होंने अपने नेत्र से निकलने वाली आग से उसे जला कर राख कर डाला।
—कालिदास ग्रन्थावली–कुमार सम्भव, पृ० २२६।

३. मानस–बालकाण्ड–६७।

४. वही–८१।

५. पारवतीं तपु कीन्ह अपारा, करहु तासु अब अंगीकारा
सुनि विधि विनय समुझि प्रभु बानी, ऐसइ होउ कहा सुखमानी
अवसरु जानि सप्तरिषि आए, तुरतहिं विधि गिरि भवन पठाए
प्रथम गए जहां रहीं भवानी, बोले मधुर बचन छल सानी —वही ८८।

इस स्वीकृति का सन्देश सप्त ऋषियों के द्वारा हिमालय के पास भेजते हैं। सप्त ऋषि पहले उमा को सन्देश सुनाते हैं—

"कहा हमार न सुनेहु सब नारद के उपदेस
अब भा झूंठ तुम्हार पन जारेउ काम महेस"[1]

तुलसी की उमा के उत्तर में मौलिकता देखिए—

"सुनि बोलीं मुसुकाइ भवानी, उचित कहेउ मुनिवर बिग्यानी
तुम्हरे जान कामु अब जारा, अब लगि संभु रहे सविकारा
हमरे जान सदा सिव जोगी, अज अनवद्य अकाम अभोगी"[2]

तुलसी ने पार्वती की कथा में मौलिकता लाकर विमल-प्रेम का प्रचार तो किया ही है साथ ही उन्होंने भवानी के जगन्मातृत्व स्वरूप को भी देखा है। यही तुलसी की मौलिकता है। तुलसी ने पार्वती कथा में मौलिकता लाकर नारीत्व की चेतना के विकास के साथ उसमें सुशीलता और विवेक की पराकाष्ठा को भी देखा है।

शिवपुराण में 'रति' को आश्वासन देते हुए सब देवताओं ने कहा "तुम काम के शरीर की थोड़ी सी भस्म लेकर उसे यत्नपूर्वक रखो और भय छोड़ो। शिव कामदेव को पुनः जीवित कर देंगे और तुम अपने स्वामी को प्राप्त कर लोगी।[3] कुमार सम्भव में भी रति के हृदयद्रावक विलाप का विस्तृत वर्णन है। कवि ने आकाशवाणी द्वारा रति पर कृपा की वाणी बरसायी है। आकाश वाणी के अनुसार धर्म ने ब्रह्मा से सृष्टि की रक्षा के लिए कामदेव को जिलाने की प्रार्थना की, तब ब्रह्मा ने कहा कि पार्वती की तपस्या से प्रसन्न होकर महादेव उनके साथ विवाह कर लेंगे और कामदेव को अपना सहायक समझ कर उसे पहले जैसा शरीर दे देंगे।" आकाशवाणी पर विश्वास कर रति ने प्राण त्यागने का विचार छोड़ दिया।[4] गोस्वामी ने इन प्रसंगों को छोड़ दिया है।

---

१. मानस—बालकाण्ड ८९।
२. वही ८९।
३. शिवपुराण—रुद्रसंहिता पा० खं० अ० १८-१९।
४. परिणेष्यति पार्वतीं यदा तपसा तत्प्रवणीकृतो हरः।
उपलब्धसुखस्तदास्मरं वपुषा स्वेन नियोजयिष्यति।
इति चाह स धर्मयाचितः स्मरशापावधिदां सरस्वतीम्
अशनेरमृतस्य चोभयोर्वशिनश्चाम्बधराश्च योनयः।
—कुमार सम्भव ४।४२,४३,४५।

शिवपुराण के अनुसार सप्तऋषि तपस्विनी पार्वती के पास जाते हैं और वे पार्वती को तपस्या से विमुख करने का प्रयास भी करते हैं। यहीं शिव ब्राह्मण का वेश धारण[1] कर पार्वती की परीक्षा लेते हैं। शिव और पार्वती में वार्तालाप[2] भी होता है तथा शिव से आश्वासन[3] पाकर पार्वती, तपस्या के उपरान्त घर लौटती हैं। तुलसी ने ब्राह्मण वेश में शिव द्वारा पार्वती परीक्षा, वार्तालाप और आश्वासन आदि प्रसंगों को अपने काव्य में स्थान नहीं दिया है।

कथा में तुलसी के मौलिक योग के उपरान्त भी उसको शिवपुराण की कथा का भावानुवाद कहना तथा उस पर शैव साहित्य का प्रभाव मानना अधिक उचित होगा।

रामचरित मानस में नारद मोह[4] की कथा, रामजन्म का हेतु होने के कारण, अपनायी गयी है। किन्तु मानस में यह कथा शिवपुराण से ही ली गयी प्रतीत होती है क्योंकि मानस में इस कथा के विस्तार शिवपुराण से मिलते हैं। रामचरितमानस में शिवपुराण के इन प्रसंगों का भावानुवाद मात्र है और कहीं शब्दानुवाद मात्र है।[5]

शिवपुराण[6] में कहा गया है कि हिमालय पर्वत की गुफा में नारद ने विनीत चित्त को तपस्या में मन लगाया। नारद की तपस्या

---

१. "जटिलंरूपमास्थायजगामपार्वतीवनम्
किमिच्छसिवरंदेविप्रष्टुमिच्छाम्यतः परम्"
—शिवपुराण ज्ञा० सं० १३।१०,१७।

२. श्रृणु देविप्रवक्ष्यामामित्रत्वादुच्यतेमया
श्रूयतांवचनंहृयेतत्कथयामिक्रमेणच। पार्वत्युवाच
—वही १४।४७,३६,४०।

३. इत्येवंवचनं श्रुत्वाशिवोऽपिचशिवांतदा।
उवाचवचनं त्वंचय दिच्छसितथेतितत्।
— वही १४।७।

४. पूति अवतार कथा प्रभु केरी, सुनु मुनि बरनी कबिन्ह घनेरी
नारद श्राप दीन्ह एक बारा, कलप एक तेहि लगि अवतारा।"
—मानस-बालकाण्ड १२३।

५. देखिए डा० सरनामसिंह शर्मा-हिन्दी साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव-पृ० ३२।

६. शिवपुराण सृष्टि खण्ड, अ० १-२।

नारद कथा

से देवराज इन्द्र काँप उठे। वे मानसिक संताप से विह्वल हो गए। अतः उस समय देवराज कामदेव का स्मरण किया। कामदेव के अथक प्रयत्न करने पर भी नारद मुनि के चित्त में विकार नहीं उत्पन्न हुआ। महादेव के अनुग्रह से कामदेव का गर्व चूर हो गया। रामायण में भी नारद की कथा इसी रूप में अवतरित है। शिव-पुराण के अनुरूप नारद कथा का वर्णन करते हुए तुलसी कहते हैं—

"हिमगिरि गुहा एक अति पावनि, वह समीप सुरसरी सुहावनि
आश्रम परम पुनीत सुहावा, देखि देवरिषि मन अति भावा"[1]

*   *   *   *

"मुनि गति देखि डेराना, कामहि बोलि कीन्ह सनमाना
काम कला कछु मुनिहि न व्यापी, निज भयं डरेउ मनोभव पापी"[2]
"भयउ न नारद मन कछु रोषा, कहि प्रिय वचन काम परितोषा
नाइ चरन सिरु आयसु पाई, गयउ मदन तब सहित सहाई।[3]

कामदेव पर विजय प्राप्त कर नारद बड़े प्रसन्न थे।[4] वे काम-विजय सम्बन्धी वृतान्त बताने के लिए तुरन्त ही कैलास पर्वत पर शिव के पास पहुँचे—

"तब नारद गवने सिव पाहीं, जिता काम अहमिति मन माहीं"[5]

नारद ने शिव से सारा वृतान्त कहा। शिव ने नारद को अपना परम प्रिय मान कर, कामविजय की कथा विष्णु तक से न कहने की सलाह दी—

"मार चरित संकरहि सुनाए, अति प्रिय जानि महेस सिखाए
बार बार विनवउं मुनि तोही, जिमि यह कथा सुनायहु मोही
तिमि जनि हरिहि सुनवहु कबहूं, चलेहूं प्रसंग दुराए हुतबहूं"[6]

रामायण में वर्णित उक्त प्रसंग शिवपुराण[7] की कथा का अनुवाद मात्र हैं। तुलसी ने नारद कथा को शिवपुराण के समान ही विकसित किया है।

प्रभु की माया से मोहित नारद को शिव का उपदेश अच्छा नहीं लगा। वे तुरन्त अपनी विजय का समाचार देने के लिए विष्णु के पास पहुँचे, "संभु

---

१. मानस–बालकाण्ड-१२४ ख।
२. वही १२४ ख।
३. मानस–बालकाण्ड १२५।
४. वही, १२६।
५. वही, १२६।
६. वही, १२६।
७. शिवपुराण रुद्रसंहिता–सृष्टिखण्ड–अ० १-२।

वचन मुनि मन नहिं भाए, तब विरंचि के लोक सिधाए ।"[१] और बड़े गर्व के साथ अपनी विजय की कथा विष्णु को सुनायी—

"नारद कहेउ सहित अभिमाना, कृपा तुम्हारि सकल भगवाना
करुनानिधि मन दीख बिचारी, उर अंकुरेउ गरव तरु भारी
बेगि सो मैं डारिहऊं उखारी, पन हमार सेवक हितकारी"[२]

शिवपुराण[३] में भी कहा गया है कि नारद के गर्व को दूर करने के लिए, विष्णु ने अपनी माया से एक नगर का निर्माण किया। वहां के राजा शीलनिधि ने अपनी स्वरूपवती कन्या का स्वयंवर रचा। उनकी कन्या का वरण करने के लिए चारों दिशाओं से बहुत से राजकुमार पधारे। नारद भी काम-विमोहित हो, उस सुन्दरी कन्या को प्राप्त करने के लिए व्याकुल थे। अतः नारद विष्णु के पास, उनका स्वरूप मांगने गए। रामायण में यह प्रसंग इसी रूप में लिया गया है। तुलसी के शब्दों में नारद के मोह का वर्णन देखिए—

"हरि सन मांगों सुंदरताई, होइहि जात गहरु अति भाई
....
"अति आरति कहि कथा सुनाई, करहु कृपा करि होहु सहाई
आपन रूप देहु प्रभु मोही, आन भांति नहिं पावो ओही"[४]

नारद स्वयंवर स्थल पर पहुँचे और इसी कल्पना से बहुत प्रसन्न थे कि अब तो राजकुमारी उनका ही वरण करेगी। वे बार बार उचक रहे थे—

"पुनि पुनि मुनि उकसहिं अकुलाहीं, देखि दसा हर गन मुसुकाहीं"[५]

नारद के इस कौतुक को देख कर शिव के गण हंस रहे थे। मुनि तो काम से विह्वल हो रहे थे। शिव के गणों को हंसते देख नारद ने उन्हें शाप दिया—

"तब हर गन बोले मुसुकाई, निज मुख मुकुर बिलोकहु जाई
अस कहि दोउ भागे भय भारी, बदन दीख मुनि बारि निहारि
वेषु बिलोकि क्रोध अति बाढा, तिन्हहि सराप दीन्ह अतिगाढा"[६]

---

१. मानस–बालकाण्ड २२७।
२. वही, १२८।
३. शिवपुराण–रुद्रसंहिता–सृष्टिखण्ड–अ० ३।
४. मानस–बालकाण्ड–१३१।
५. वही, १३४।
६. वही, १३५।

नारद ने जल में पुनः अपना स्वरूप देखा और क्रोधित हो विष्णु के पास चले। किन्तु मार्ग में ही विष्णु के मिलने पर नारद ने उन्हें वहुत बुरा भला कहा और उन्होंने श्राप भी दे डाला—

"सुनत वचन उपजा अति क्रोधा, माया बस न रहा मन बोधा
....
बंचेहु मोहि जवनि धरि देहा, सोइ तनु धरहु श्राप मम एहा
कपि आकृति तुम कीन्ह हमारी, करिहहिं कीस सहाय तुम्हारी
मम अपकार कीन्ह तुम भारी, नारि विरह तुम होव दुखारी"[1]

रामायण के उक्त प्रसंग की तुलना शिवपुराण से की जा सकती है।[2] प्रभु की माया के प्रभाव के दूर होने पर नारद पूर्ववत् शुद्ध बुद्धि होगए। वे अधिकाधिक पश्चाताप करते हुए वारम्वार अपनी निंदा करने लगे। तदनन्तर नारद भगवान विष्णु के चरणों में गिर पड़े। रामायण का वह वर्णन भी शिवपुराण[3] का शब्दानुवाद मात्र है।

नारद का माया जन्य मोह दूर होने पर विष्णु ने उन्हें शिव के 'सहस्र-नाम' जप का आदेश दिया—

"जपहु जाइ संकर सतनामा, होइहि हृदयं तुरत विश्रामा"[4]

तुलसी ने शिवपुराण की 'नारद कथा' कों उसी रूप में अपनाया है। अन्तर केवल इतना है कि जो पद शिवपुराण में शिव को प्राप्त हुआ है मानस में वही हरि को।

मुक्तक पदों में शिव कथा—विवेच्य युग के प्रबन्ध काव्य में तो शिव कथा प्रासंगिक कथाओं के रूप में शैव साहित्य से अवतरित है ही साथ ही वे मुक्तक काव्य का भी विषय वनी हैं। ठाकुर विद्यापति 'वर' रूप में सुशोभित शिव के स्वरूप का वर्णन करते हैं—

---

१. मानस—बालकाण्ड, १३६।
२. "तुमने जिन वानरों के समान मेरा मुंह बनाया था वे ही तुम्हारे सहायक हों, तुम दूसरों को दुख देने वाले हो, अतः स्वयं भी तुम्हें स्त्री के वियोग का दुख प्राप्त हो।"
— शिवपुराण—रुद्रसंहिता—(सृष्टि खंड), अ० ४।
३. वही—अध्याय ४।
४. मानस—बालकाण्ड, १३७।

"दूर दूर छीआ, एहन के संग कोना रहति छीआ
दूर दूर छीआ पांच मुख शोभैछेन, तीन अंखियां
दिगम्बर वेश देखि फाटे मोरा हिया—
कांखतर झोरी शौभेन, मुछरक बीआ
सह—सह करै छैन सांप सखियां—"[१]

एक अन्य पद में विद्यापति, शिवपुराण में वर्णित मैना की मानसिक वेदना की ओर संकेत करते हैं—

"हम नहिं आजु रहब एहि आंगन
जों बुढ़ होयता जमाय
एक ते वेरि भेल विध विधाता
दोसर थिआ केर बाप
तेसर वेरि भेल नारद ब्राह्मण
जेहि लायल बूढ जमाय
धोती लौटा पोथी पतरा
से हो सब लेवेन्ह छिनाय"[२]

भोजपुरी कवि विश्वनाथ ने पार्वती विवाह का वर्णन करते हुए कहा है—

"बसहा चढल शिव के अइले बरिअतिया राम
डेराला जिअरा, अंगवा लपेटले बाड़े सांप
अंगवा भभूत शोभे गले मुण्डमाला राम
डेराला जिअरा, नागवा छोड़ले फुफकार
मन में विचारे मैना, गउरा अति सुन्दर राम
डेराला जिअरा, बरवा मिलले बउराह
नारद बाबा के हम कहारे बिगड़ली राम
डेराला जिअरा बरवा, खोजले बउराह
असहन बउरहवा से हम 'गउरा' ना विअहवो राम
डेराला जिअरा, अलु गउरा, रहि हैं कुंआर
कहत विश्वनाथ तनि मेलवा बदलि दउ राम
डेराला जिअरा, नइहरा के लोग पतिआस"[३]

१. राम इकबालसिंह राकेश-मैथिली लोकगीत-पृ० १६० ।
२. विद्यापति की पदावली—सं० बसन्तकुमार माथुर—पृ० ४०६ ।
३. दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह—भोजपुरी के कवि और काव्य, पृ० १५८ ।

पद्माकर शिव-पार्वती क्रीड़ा का वर्णन करते हुए कहते हैं—

"चोस गुनगोर के सु गिरिजा गोसाइन को
आवत यहांई अति आनन्द इते रहै
कहे पद्माकर प्रतापसिंह महाराज
देखो देखिवे को दिव्य देवता तितेरहे
सेल तजि, बैल तजि फैल तजि गैलन में
हेरत उमा को यों उमापति हिते रहे
गोरिन में कौन धो हमारी गुनगोर यहै
संभु धरी चारिक लों चक्रित चिते रहे।"[1]

प्रमुख-शैव-कथा पर आधारित काव्य, प्रबन्धकाव्य की प्रासगिक कथा तथा मुक्तक पदों में शिव से सम्बद्ध कथाओं का चित्रण शैव साहित्य के अनुरूप हुआ है, जिसमें कहीं तो शैवसाहित्य[2] का शब्दानुवाद और कहीं भावानुवाद दिखलाई पड़ता है। ये शैव कथाएं जितनी शैवों में प्रिय रही हैं उतनी शैवेतर भक्त कवियों में भी। शैवेतर काव्य में शैव-कथाओं की अभिव्यक्ति शैवसाहित्य के प्रत्यक्ष प्रभाव का परिणाम है।

प्रासंगिक संकेत—मध्यकालीन हिन्दी काव्य में प्रासंगिक शिव कथाओं के अतिरिक्त इन कथाओं के प्रासंगिक संकेतों का भी अभाव नहीं है। इनमें काव्य का विषय एवं कथानक दूसरा होते हुए भी शिव प्रसंगों की ओर यत्र तत्र संकेत मिलते हैं।

संकेतों का आधार शैव कथाएं हैं, जिनका विस्तृत चित्रण प्रमुखतः शिवपुराण में मिलता है। वैसे तो अन्य पुराणों में भी उन कथाओं का अभाव नहीं है। शिवपुराण में महादेव-पुत्र-गणेश सर्व प्रथम पूज्य माने गए हैं। इसके अतिरिक्त तारकासुर वध के लिए षडानन जन्म, शिव द्वारा मदन-दहन, त्रिपुरासुर-वध तथा समुद्र-मंथन के समय विषपान आदि प्रसंग भी शिवपुराण में आए हैं जिनके संकेत इस युग के काव्य में प्राप्त होते हैं।

---

१. पद्माकर—सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० २००।
२. देखिये, शिवपुराण, रुद्रसंहिता पा० खं० अ० ३६, ४०, ४१-४३।

प्रायः सभी कवियों ने ग्रंथारम्भ में गणेश वन्दना की है। शिवपुराण[१] में इनका कारण बतलाया गया है। तुलसी के मानस में गणेश पूजन की सर्व-श्रेष्ठता बतलाते हुए कहा है—

> "महिमा जासु जान गनराऊ,
> प्रथम पूजियत नाम प्रभाउ"[२]

---

१. ऐसी कथा है कि पार्वती, स्नान के पूर्व अपने शरीर के मैल से एक चेतन पुरुष का निर्माण किया। वह पुतला सम्पूर्ण शुभ लक्षणों से युक्त, दोष रहित और सुन्दर था। उसको पार्वती ने अपना पुत्र माना तथा अपना द्वारपाल नियुक्त किया। पार्वती ने उनको आज्ञा दी कि उनकी आज्ञा के बिना कोई भी अन्दर घुस न पावे। आज्ञा देकर पार्वती सखियों के साथ स्नान करने लगीं।

इसके अनन्तर शिव वहां आए। द्वारपाल गणेश ने उन्हें अन्दर जाने से रोका। शिव को बड़ा क्रोध आया। शिव के गणों और गणेश में खूब युद्ध हुआ लेकिन गणेश को कोई पराजित न कर सका। अन्त में शिव ने त्रिशूल से उनका सिर काट दिया। पार्वती उक्त समाचार प्राप्त कर बड़ी क्रुद्ध हुईं और बिना विचारे उन्होने बहुत सी शक्तियों को उत्पन्न कर प्रलय करने की आज्ञा दे दी। शक्तियों का तेज सभी दिशाओं को दग्ध सा किए डालता था। उसे देख कर शिव के गण भयभीत होकर दूर जा खड़े हुए।

इस स्थिति से देवलोक भी भयभीत हो उठा। तब नारद आदि ऋषि पार्वती के पास गए और उनकी स्तुति की और विनत भाव से उनसे शान्त होने के लिए निवेदन किया। तब देवी ने कहा कि उनका पुत्र जीवित हो जाय, देवताओं में पूजनीय माना जाय तथा उसे सर्वाध्यक्ष पद प्राप्त हो तभी लोक में शान्ति हो सकती है। ऋषियों ने देवताओं को उक्त सम्वाद सुनाया। देवता विह्वल हो शिव के पास गए और उनसे सारा समाचार निवेदन किया। शंकर ने पार्वती की इच्छा को स्वीकार कर उनके पुत्र को जीवित किया। इसके अनन्तर ब्रह्मा विष्णु और महेश ने उन्हें आशीश प्रदान करते हुए कहा कि अब से वे सर्वप्रथम पूजे जावेंगे। शैवों के अनुसार गणेश इसी कारण सर्वप्रथम पूज्य माने जाते हैं।

—शिवपुराण—रुद्रसंहिता, कुमार खंड, अ० १३-१८ ।

२. मानस—बालकाण्ड १०२ ।

स्वयं शिव और पार्वती भी सर्वप्रथम गणेश की पूजा करते हैं—

"मुनि अनुशासन तनपतिहि पूजेउ संभु भवानि"[1]

तुलसी सीता-विवाह में भी सर्वप्रथम गणेश पूजन कराना नहीं भूले हैं—

"आचारु करि गुर गौर-गनपति मुदित बिप्र पूजावहीं"[2]

तुलसी की रचनाओं में गणेश वन्दना देख कर उसके सांकेतिक कथाधार का अनुमान सरलता से किया जा सकता है।

गणेश का आदिदेवत्व आचार्य भिखारीदास के शब्दों में भी माना गया है –

"जो त्रिदस वृन्द वन्दित चरन चौदह आदि गुर,
तेहि दास पंचदसहूं तिथिन्ह धरिय षोडसो ध्यानउर"[3]

योगीराज शिव के दो बालक कार्तिकेय और गणपति हैं। कार्तिकेय[4] का जन्म तारकासुर के वध के लिए हुआ। गोस्वामी तुलसी ने इस प्रसंग की ओर संकेत किया है—

"जब जनमेऊ षटबदन कुमारा, तारकु असुरु समर जेंहि मारा।
आगम निगम प्रसिद्ध पुराना, षन्मुख जन्मु सकल जग जाना।"[5]

मध्यकालीन हिन्दी काव्य में, शिव से सम्बद्ध मदन-दहन कथा के प्रासंगिक संकेत अनेक स्थलों पर मिलते हैं। मदन को शिव का रिपु बतलाया जाता है। यह मान्यता जिस प्रकार संस्कृत साहित्य में पेठ गई थी वैसे ही हिन्दी

---

१. मानस-बालकाण्ड, १००।
२. वही, ३२२।१।
३. आ० भिखारीदास-काव्य निर्णय-पृ० १।
४. देखिये—
(क) शिवपुराण-रु० सं० पा० खं० अ० १४-१६।
(ख) वराहपुराण-२५।३२,३३,३४।
(ग) ततः कतिपये काले तारकाद् भमयभागते
अनुत्पन्ने कार्तिकेये चिरकालरहोगते।
महेश्वरे भवान्यां च त्रस्ता देवाः समागताः।
विश्वस्य जगतो धाता विश्वमुर्तिनिरंजनः
आदिकर्ता स्वयंभूश्च तन्नमापि जगत्पतिम्।
—ब्रह्मपुराण १२८।७,८,४४।
(घ) कुमारसम्भव-द्वितीय सर्ग-५१,५२,६१।
५. मानस-बालकाण्ड-१०२।

साहित्य में भी पैठी हुई है। मध्यकालीन हिन्दी कविता में इस सम्बन्ध के अनेक स्थल मिल सकते हैं।

विद्यापति ने मदन-दहन प्रसंग की ओर संकेत किया है। उनकी नायिका कहती है कि हे मदन तू मुझे क्यों वेदना दे रहा है ? मैं शिव नहीं हूँ। मेरा एक ही दोष है जिससे तुम भ्रम में पड़ गये हो और मुझे शंकर समझ कर दुख देने लगे हो। वह दोष यही है कि मेरा नाम भी वामा है जो शकर का भी नाम है।

"कत न बेदन मोहि देसि मदना, हर नहीं बला मोंहि जुबती जना।
विभुति भूषन नहिं चानन क रेनु, बघछाल नहिं मोरा नेतक बसनू
नहिं मोरा जटा भार चिकुर क बेनी, सुरसरि नहि मोरा कुसुम क सेनी।
चांद क बिन्दु मोरा नहिं इन्दु छोटा, ललाट पावक नहि सिन्दुर क फोटा।
नहिं मोरा कालकूट मृगमद चारु, फनपति नहिं मोरा मुकुता हारु
भनइ विद्यापति सुन देव कामा, एक पए दूखन मोर नाम वामा।"[१]

शिव-रिपु-मदन की कथा संकेत सूर काव्य में भी मिलता है। गोपियाँ कहती हैं—

"वाही प्राननाथ प्यारे बिनु शिव-रिपु बाण नूतन जोजरे"[२]

शिव का रिपु कामदेव गोपियों को सता रहा है। सूरदास ने एक अन्य स्थल पर शिव रिपु कामदेव की ओर संकेत किया है—

"अब ता बिनु उर भवन भयो है शिव-रिपु को संचार"[३]

तुलसी ने शिव को 'काम-मद-मोचनं'[४] कह कर अप्रत्यक्ष रूप से काम-दहन की ओर संकेत किया है। नंददास भी तुलसी के स्वर में स्वर मिलाकर कहते हैं— 'कामरिपु नाम'[५]

भूषण कवि ने मदन-दहन की ओर संकेत करते हुए कहा है—

"हरयो रूप इन मदन को याते भो शिव नाम
लियो विरद सरजा सबल, अरि-गज दलि संग्राम"[६]

---

१. विद्यापति की पदावली–सं० बसन्त कुमार, पृ० ७३।
२. भ्रमरगीत सार–पृ० १२०।
३. वही, पृ० १२८।
४. विनयपत्रिका–सं० वियोगी हरि, पद १२।
५. नंददास ग्रंथावली, पृ० ८०।
६. भूषण ग्रंथावली, पृ० २६०।

कवि के अनुसार 'मदन' के रूप को नष्ट करने के कारण 'शिव' नाम पड़ा ।

डा० भिखारीदास के शब्दों में मदन-दहन कथा के संकेत का अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है ।

"काम के दस्य भए सिगरे जग यातें भई मनो संभु रिसाई
जारि के फेरि संवारन कों छिति के हित पावक ज्वाल बढाई"[१]

उन्होंने इसी प्रसंग की ओर संकेत करते हुए अन्यत्र कहा है—

"शिव साहब अचरज भरो, सकल रावरो अग
क्यों कामहि जारयो, कियो क्यों कामिनि अरधंग"[२]

कवि पद्माकर इसी ओर संकेत करते हैं—

"काम-बाम कों खसम की भसम लगावत अंग
त्रिनयन के नेननि जग्यो कछु करुना को रंग"[३]

भूषण ने शिव से सम्बद्ध त्रिपुरासुर वध की कथा की ओर संकेत किया है । त्रिपुरासुर वध की कथा इस प्रकार है । त्रिपुर नामक राक्षस राजा वलि का पुत्र था । उसने तीनों लोकों का अपना निवास स्थान वनाया हुआ था । किसी को पता न लगता था कि वह किस समय किस लोक में है । अतः शिव ने एक साथ तीन बाण छोड़ कर त्रिपुरासुर का वध किया । इसी कथा की ओर संकेत करते हुए भूषण कहते हैं—

"तीन पुर के मारे सिव तीन बान,
तीन पातसाही हनी एक किरवान सों"[४]

संगीतज्ञ कवि बैजू शंकर को 'त्रिपुरारी' संज्ञा से सम्बोधित करते हैं, जो प्रत्यक्षतः त्रिपुरासुर वध की ओर संकेत है ।

"शंकर शंभु त्रिपुरारि डिमरू डिमडिम बजैया"[५]

भूषण और 'बैजू' के काव्य में 'त्रिपुरासुर वध' की कथा का संकेत नया नहीं है । उनसे पूर्व तुलसी और नंददास आदि ने भी अपने काव्य में उक्त कथा की ओर संकेत किया है । तुलसी का कथन है कि शिव त्रिपुरासुर को चूर-चूर करने वाले हैं ।

१. भिखारीदास–सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, द्वितीयखण्ड, पृ० १११ ।
२. भिखारीदास–सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वितीय खण्ड, पृ० १२५ ।
३. पद्माकर–सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० २०२ ।
४. भूषण ग्रन्थावली–पृ० ३७१ ।
५. नर्मदेश्वर चतुर्वेदी–संगीतज्ञ कवियों की हिन्दी रचनाएं, पृ० ६६ ।

"त्रिपुर-मर्दन भीम-कर्म भारी"[१]

नंददास ने भी शिव को 'त्रिपुर-अरि'[२] कहा है जो प्रत्यक्षतः शिव की त्रिपुरासुर-वध-कथा की ओर संकेत है। उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि मध्यकालीन हिन्दी कविता में शिव-कथा के प्रासंगिक संकेत आए हैं जो शैवसाहित्य के प्रभाव का परिणाम है।

डा० भिखारीदास ने शिव के दो विवाह की ओर संकेत करते हुए कहा है—

"संभु सो क्यों कहिये जिहि व्याहो है,
पारवती ओ सती तिय दोऊ"[३]

शैव कथाओं के प्रासंगिक संकेत कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उनमें अभिव्यक्त कथा के संकेत साहित्य की अनुपम निधि है। रसखान शिव द्वारा विषपान की ओर संकेत करते हैं—

"प्रेमहि तें विषपान करि, पूजे जात गिरीस"[४]

इस विवेचन से यह अनुमान स्पष्ट हो जाता है कि शिव से सम्बन्धित अनेक कथोपकथाओं का उपयुग धर्ममार्ग से साहित्य में हुआ। संस्कृत साहित्य में ऐसी कथाओं का नहीं, प्रसंगों का प्राचुर्य है। इनकी व्यावहारिक उपयोगिता न केवल संस्कृत साहित्य की निधि बनी रही, वरन् आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में भी इसको स्वीकार किया गया। इसलिए मध्यकालीन हिन्दी कविता में शिव-कथा-प्रसंग ओतप्रोत मिलते हैं।

रस

रसास्वादान काव्याध्ययन का परम ध्येय है। वाग्वैदग्ध्य, वाक् चातुर्य्य तथा अभिव्यंजना कौशल की प्रधानता रहने पर भी रस काव्य का जीवन है। रस की अनुभूति सहृदय को द्रवित करके उसके मन को तन्मय, शरीर को पुलकित और वचन रचना को गद्गद् रखने की क्षमता रखती है। काव्य में प्रस्फुटित हो रस अन्तर में प्रवेश कर आत्मा को सब ओर से अपने में आबद्ध कर लेता है। रस का आस्वाद मिलने पर विषयान्तर का अनुभव आत्मा के पास तक नहीं फटकता।

---

१. विनयपत्रिका—सं० वियोगीहरि, पद
२. नंददास ग्रंथावली—पृ० ८०।
३. भिखारीदास—सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रथम खण्ड, पृ० ९।
४. पुरातन काव्य लहरी—सं० संत साधुराम, पृ० ८३।

मानसिक स्थान के विचार के रसों के तीन भाग होते हैं— ज्ञान, भाव और क्रिया सम्बद्ध।[1] ज्ञान से सम्बन्धित रसों की श्रेणी में शान्त, अद्भुत और हास्य रस आते हैं। शृंगार, वीभत्स और रौद्र रस भाव सम्बद्ध हैं तथा क्रिया से सम्बद्ध वीर और भयानक रस हैं।

शिव एक विचित्र देव हैं। वेदों से लेकर आज तक, न जाने, कितनी विकास-सरणियां उनके व्यक्तित्व में उपलब्ध होती हैं। शिव या शंकर प्रायः शान्त रस के देव हैं किन्तु प्रलयंकर रुद्रताण्डवकारी रुद्र (या शिव) भयानक या रौद्र के ही आलंबन बनते हैं। रौद्र या भयानक के पश्चात् ही काव्य में शिव या रुद्र के सम्बन्ध से एक ऐसी स्थिति पैदा की जाती है जिससे पाठक या श्रोता के लोचनों में वे वीभत्स के आलंबन हो जाते हैं। भक्तों की वे शान्त मूर्ति के रूप में ही अधिक प्रिय हैं, किन्तु उनके अन्य रूप भी उन्हें त्याज्य नहीं हैं, क्योंकि वे शिव के अविकल व्यक्तित्व के ही अभिन्न अंग हैं। शिवपुराण में शिव की अनेक कथाओं में शान्त, शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक और वीभत्स रसों की अभिव्यक्ति हुई है। उनमें से शान्त, हास्य, वीभत्स, रौद्र, भयानक और वीर रसों की अवतारणा उत्तरवर्ती साहित्य में शिवपुराण के अनुरूप ही हुई है। यों तो प्रमुख अथवा प्रासंगिक शिव कथाओं में शृंगार तथा करुण रस का अवसर भी आया है, परन्तु प्रधानता शान्त, भक्ति,हास्य, वीभत्स और रौद्र तथा भयानक रस की रही है।

मध्यकालीन भक्ति साहित्य में शान्त रस का प्रमुख स्थान है। शान्तरस

शान्त रस

का स्थायी भावनिर्वेद माना गया है। अभिनवगुप्त ने तत्त्व-ज्ञान को शान्त रस का स्थायी भाव माना है। तत्त्वज्ञान से उनका अभिप्रायः आत्मज्ञान से है। वही मोक्ष का साधन है। भरत मुनि ने शान्त रस का विश्लेषण करते हुए कहा है—जहां न दुख है, न सुख, द्वेष, न मात्सर्य और जहां समभाव का प्राधान्य है, वहां शान्त रस होता है।[2] संसार में अत्यन्त निर्वेद होने पर या तत्त्वज्ञान द्वारा वैराग्य का उत्कर्ष होने पर शान्त रस की प्रतीति होती है। भक्त तत्त्वज्ञान द्वारा निर्वेद अवस्था में एक मात्र भगवद्भक्ति में तल्लीन हो शान्त रस का अनुभव करता है। शान्तरस में मिथ्या प्रतीत होने वाला जगत् आलम्बन, वैराग्य और संसार से भीरुता उसके विभाव हैं। मोक्ष, शास्त्र-मनन आदि अनुमान हैं। घृति, मति

---

१. रामदहिन मिश्र–काव्य–प्रकाश की टीका, पृ० ४३।

२. रामदहिन मिश्र–काव्य–दर्पण की टीका, पृ० ४५।

और हर्षादि व्यभिचारिभाव तथा सम स्थायी भाव से शान्तरस की[1] अभिव्यक्ति होती है।

मध्यकालीन हिन्दी के भक्ति काव्य में शान्त-पर-भक्ति रस प्राप्त होता है, जिसमें संसार से विरक्त हो एकमात्र भगवान् के आराधन में शान्त रस का आनन्द प्राप्त करता है। तुलसी के काव्य में शान्त-पर-भक्ति रस के अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं —

"भवानीशंकरो वन्दे श्रद्धा विश्वास रूपिणो
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तः रथमीश्वरम्
वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकर रूपिणम्
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्दते।"[2]

भक्ति रस

भक्ति को कभी शान्त रस के अन्तर्गत ही माना जाता है। उसके स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी सभ अलौकिक होते हैं। इसमें भगवान् आलम्बन, भक्तों का समागम उद्दीपन, तीर्थ सेवन, भगवान् के नाम तथा लीला का कीर्तन आदि व्यभिचारी हैं तथा ईश्वर-रति स्थायी भाव है।

शैवभक्ति की अनेक भूमिकाएं मिलती हैं। गुण कीर्तन, दैन्य प्रकाशन, शरणागति भाव, आत्मसमर्पण—ये प्रमुख भाव मध्ककालीन कविता में अवश्य रहे हैं। गुण कीर्तन के भाव को देखिये—

"देव,
मोह तम तरणि, हर, रुद्र, शंकर, शरण हरण, मम शोक लोकाभिरामं।
अकल, निरूपाधि, निर्गुण, निरंजन, ब्रह्म, कर्म-पथमेकभज निर्विकारं
अखिल विग्रह, उग्ररूप, शिवभूपसुर, सर्वगत सर्व सर्वोपकारं।
ज्ञान वैराग्य, धन-धर्म, कैवल्य-सुख, सुभग सौभाग्य शिव सानुकूलं"[3]

आचार्य भिखारीदस के शब्दों में भी उक्त गुण कीर्तन-भाव देखा जा सकता है—

"भाल में जाके कलानिधि है, वह साहिब ताप अमारो हरेगो
अंग में जाके विभूति भरी वहे मौन में संपति भूरि भरेगो
घातक है जो मनोभव को मम पातक वाही के जारे जरेगो
दास जू सीस पे गंग धरे रहे ताकी कृपा कहो को न तरेगो"[4]

---

१. आ० विश्वेश्वर—काव्य प्रकाश, पृ० १३६।
२. मानस—बालकाण्ड २,३ (मंगलाचरण श्लोक)।
३. विनयपत्रिका—सं० वियोगीहरि, पद १०।
४. भिखारीदास—सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्र० खं० पृ० १५७।

इसी प्रकार भक्ति-रस-परक कविता में दैन्य-प्रकाशन का भी महत्त्व रहा है। तुलसी शिव के सम्मुख अपनी दीनता प्रकट करते हैं—

देव बड़े, दाता ईड़े, संकर बड़े मोरे
किये दूर दुख सबनिके, जिन्ह कर जोरे
नांव बसत वामदेव, मैं कबहुं न निहोरे
आधिभौतिक आधा भई, ते किंकर तोरे
बेगि बोलि बलि बरजिये, करतूति कठोरे
तुलसी दलि रूध्यो चहें सठ साखि सिहोरे"[1]

भक्ति रस की भूमिका में शरणागति भाव को निम्न पद में देखा जा सकता है—

"नाद महंत गिरिजा कंत दीनन के दयावंत
तिहारी कृपा तें निसिदिन गाऊँ हरिगाथा,
जैसे गाय आए संत
वरद राज सब काज संवारन मंगल मूरति
अनद्य अनंत
आनन्दघन को ब्रजजीवन त्यों सरस राखिये,
जानि आपनो जंत"[2]

शरणागति का ऐसा ही भाव तुलसी के काव्य में प्रस्फुटित हुआ है—

"तदपि नरमूढ आरूढ़ संसार-पथ, भ्रमत भव-
विमुख तव पाद मूलं ।
नष्टमति, दुष्ट अति,कष्ट-रत, सेव-गत, दास तुलसी
शंभु शरण आया"[3]

कवियों ने शिव के प्रति आत्म समर्पण का भाव भी बड़े विभोर होकर व्यक्त किया है। विद्यापति के एक पद में उसे देखिये—

"करवन हरब दुख मोर हे, भोलानाथ
दुखहि जनम मेल दुखहि गमाएव
सुख सपनहु नहीं मेल, हे भोलानाथ
आछत चानन अवर गंगाजल

१. विनयपत्रिका-सं० वियोगीहरि, पद ८।
२. घनआनन्द और आनन्दघन-सं० विश्वनाथ मिश्र. पृ० ११०।
३. विनयपत्रिका-सं० वियोगी हरि-पद १०।

बेलपात तोहि देव, हे भोलानाथ
यहि भवसागर थाह कतहु नहि
भैरव धरु कर आए, हे भोलानाथ
भन विद्यापति मोर भोलानाथ पति
देहु अभय वर मोहि, हे भोलानाथ"[१]

भक्त केवल भगवान् की अनुरक्ति में लीन रहना चाहता है। वह भगवान् को आत्मसमर्पण कर निश्चित हो जाता है। यही भक्ति रस की पराकाष्ठा है। मध्यकालीन हिन्दी कविता में शिव को आलम्बन मान, भक्ति रस की अभिव्यक्ति, शैवमत के प्रभाव के अन्तर्गत हुई है।

हास्य रस—हास्य रस में विशेषता या विचित्रता रूप या उक्ति के सम्बन्ध से प्रमुख होती है। उसमें आश्रय की प्रतीति नहीं होती, केवल आलम्बन के वर्णन से रसाभिव्यक्ति हो जाती है।

हास्य रस चित्त का विकास है जो प्रीति का एक विशेष रूप है। कलाकार मानव जीवन की असंगति या विषमता अथवा विपरीतता आदि से हास्य रस की सृष्टि कर जीवन को आनन्द प्रदान करने का प्रयास करता है। मध्यकालीन हिन्दी काव्य में शिव के पारिवारिक जीवन की असंगति या विपरीतता को हास्यरस द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। शिव के पारिवारिक जीवन तथा अन्य प्रसंगों का हास्यप्रद वर्णन शिवपुराण में भी मिलता है। इस युग के काव्य में शिव से सम्बद्ध हास्य रस की अभिव्यक्ति उक्त पुराण के अनुरूप हुई है। तुलसी के शब्दों में शिव की बारात का वर्णन देखिये—

"देखि सिवहि सुरत्रिय मुसुकाहीं, वर लायक दुलहिनि जग नाहीं।
सुर समाज सब भांति अनूपा, नहि बरात दूलह अनुरूपा
....
बर अनुहारि बरात न भाई, हंसी कोइहु पर पुर जाई
विष्णु वचन सुनि सुर मुसुकाने, निज निज सेन सहित बिलगाने।
मन ही मन महेसु मुसुकाही, हरि के व्यंग्य वचन नहिं जाहीं"[२]

तुलसीकृत उक्त रस वर्णन की तुलना शिवपुराणगत[३] रस से की जा सकती है। वहां भी शिव के बारातियों की विषमता अथवा विपरीतता हास्य का अवसर

१. विद्यापति की पदावली–बसन्तकुमार–पृ० ४२५।
२. मानस–बालकाण्ड ९२।
३. शिवपुराण–रु० सं० पा० खं० अ० ३९, ४०।

प्रदान करती है। एक अन्य स्थल पर तुलसीकृत शिव-बारात वर्णन में हास्य रसकी छटा देखने योग्य है—

"नाना वाहन नाना वेषा, विहसे शिव समाज निज देखा
कोउ मुख हीन विपुल मुख काहू, बिनु पद कर कोउ वहु पद बाहू
विपुल नयन कोउ नयन विहीना, रिष्ट पुष्ट कोउ अति तनखीना
तन खीन कोउ अति पीन पावन कोउ अपावन गति धरे
भूषन कराल कपाल कर सब सब सोनित भरे
खर स्वान सुअर सुकाल मुख गन वेष अगनित को गने
बहु जिनस प्रेत पिसाच जमात वरनत नहिं बने
जस दूलह तसि बनी बराता, कौतुक विविध होहिं भग जाता"[1]

तुलसी की वारात का उक्त वर्णन शिवपुराण के प्रभाव में किया गया है।

कवि किसनउ कृत 'महादेव-पारवती-री-वेलि' काव्य में भी शिव बारात के प्रसंग में हास्य रस का सुन्दर उदाहरण देखा जा सकता है।

"आडम्बर इतन जान ताइ आई
किता मरम री बात कहि
देखइ बींद तालीयां देदें
साला हेली हंसइ सहि,
बूढ़उ बींद नइ बींदणी वालक
भेद आभावइ नेत्र भरइ
सासु ही वतकाव सांमली
केतरउ ही अण दोह करइ"[2]

कवि कृत वारात-वर्णन में हास्य की सृष्टि शैवों की परम्परा के अनुरूप ही हुई है। कवि पद्माकर ने भी शिव की बारात का ऐसा ही हास्यप्रद वर्णन किया है—

"हसि हसि भागें देखि दूलहे दिगवंर को
पाहुनी जे आवे हिमाचल के उछाह में
कहे पदमाकर स काहू सों कहे को कहा
जोई जहां देखे सो हैसेई तहां राह में

---

१. मानस—बालकाण्ड, ९३।
२ महादेव-पारवती-री-वेलि, पद १२८, १२७।

मगन भएई हंसें नगन महेस ठाढ़े
ओरो हंसें ये हू हसाहस के उमाह में
सीस पर गंगा हंसे भुजनि भुजंगा हंसे
हास हीं को दंगा भो सु गंगा के विवाह में"[1]

हास्य का अवसर शंकर की बारात के अतिरिक्त उनके विवाह संस्कार के समय भी प्राप्त हुआ है। शिव-पार्वती गठ-बन्धन का चित्रण करते हुए कवि भिखारी दास कहते हैं—

"गोरी-अंबर-छोर अरु हरगर विषधर पूंछि
गंठिजोरा को तिय गहै तजे हंसे कहि छूंछि"[2]

शिवपुराण[3] में भी गठबन्धन खोलने का वर्णन है, किन्तु उक्त वर्णन में हास्य रस का समावेश कवि की मौलिकता है।

वीभत्स घृणित वस्तु के देखने या सुनने से जहाँ घृणा या जुगुप्सा का भाव परिपुष्ट हो वहाँ वीभत्स रस होता है। इसका स्थायी भाव घृणा है। कवितावली में तुलसी ने जुगुप्सा के सम्बन्ध से वीभत्स के लिए वातावरण प्रस्तुत किया है। वातावरण पर दृक्पात कीजिये —

"ओझरी की झोरी कांधे, आंतनि की सेल्ही बांधे
मूड़के कमंडल खपर किए कोरि के
जोगिनी झुटुंग झुंड झुंड बनी तापसी सी
तीर तीर बैठीं सो समर-सरि खोरि के
श्रोनित सों सानि-सानि गूदा खात सतुआ से
प्रेत एक पिअत बहोरि घोरि घोरि के
तुलसी बेताल-भूत साथ लिए भूतनाथ
हेरि हेरि हसत हैं हाथ-हाथ जोरि के"[4]

शिव के सम्बन्ध से वीभत्स के वातावरण को भूषण की वाणी में भी देखिये—

"प्रेतिनी पिसाचरु निसाचर निसाचरिहू
मिलि मिलि आपुस में गावत बधाई है
भैंरू भूत प्रेत भूर भूधर भयकर से

---

१. पदमाकर—सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० २०१।
२. भिखारीदास—सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रथम खण्ड, पृ० ६५।
३. शिवपुराण—रु० सं० पा० खं० अ० ४९, ५ ।
४. कवितावली, पृ० ९८।

जुत्थ जुत्थ जोगिनी जमात जुरि आई हैं
किलकि किलकि के कुतुहल करति काली
डिम डिम डमरू दिगम्बर बजाई है
शिवा पूछें सिव सों समाज आजु कहां चली
काहू पे शिवा नरेश भृकुटी चढाई है ।"[1]

गणों के साथ शिव का ऐसा वर्णन शिव पुराण स्कन्दपुराण आदि अनेक शैव ग्रंथों में मिलता है। एक अन्य पद में भूषण ने आंतों की तांत, खाल की मृदंग और खोपड़ी की ताल का वर्णन कर वीभत्स दृश्य प्रस्तुत किया है—

"भूषन भनत चैन उपजे सिवा के चित्त
चोंसठ नचाई जबे रेवा के किनारे में
ओतन की तांत बाजी खाल की मृदंग बाजी
खोपरी की ताल पशुपाल के अखारे में"[2]

कवि पद्माकर भी ऐसे ही दृश्य की ओर संकेत करते हुए वीभत्स रस की व्यवस्था करते हैं—

"रिपु-रुंड धरा को अरपत ताको हरहि हरा को मुंडदियो
लहि अर्जुन मत्था गिरिजा नत्था अमित अकत्था नचत भयो
डम डमरू बजावे बिरदनि गावे भूत नचावे छबिन छयो"[3]

मध्यकालीन हिन्दी काव्य में युद्ध वर्णन के प्रसंग में भूतनाथ का वर्णन हुआ है। उनके गुण भूतप्रेतादि श्रोनित पान तथा मांस भक्षण करते हुए चित्रित किये गये हैं। इस युग के कवियों ने वीभत्स दृश्य चित्रण कर वीभत्स रस की सृष्टि की है। उसमें शिव और उनके गण प्रमुख आलम्बन रहे हैं। इस युग के काव्य में वीभत्स रस का वर्णन शैव साहित्य के प्रभाव में हुआ है।

रौद्र रस

रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध है। इसका आविर्भाव विग्रह में माना जाता है। इसका लक्षण शरीर की उग्रता है। कवि किसनउ ने दक्ष-यज्ञ में सती के क्रोध का जो चित्रण किया है उसे शिवपुराण का छायानुवाद कहा जा सकता है। उसमें रौद्र की मनोहर झलक देखी जा सकती है। सती क्रोध के कारण अपने शरीर का त्याग करती है। कवि द्वारा प्रस्तुत उक्त वर्णन में रौद्ररस का आभास मिलता है।

---

१. भूषण ग्रंथावली—पृ० २९ ।
२. वही, पृ० ३६८ ।
३. पद्माकर—सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० २९ ।

"अरण जरण करंइ निंदा ईसर री
गइ दाखइ देखे गढ गांम
उ अपनउ शरीर छैय थी
किसउ सरीर तीये सूं कांम
तांमस कीयउ सती तन त्यागरण
आपरा गढ़ा चाढीयउ कंथ
हठ कर पड़ी हुतासन माह
बाजउ ही ज जगन कीयउ धज बंध"[१]

कवि का उक्त वर्णन नया नहीं है। शिवपुराण में सती कथा के अन्तर्गत इसी प्रकार रौद्र रस का वर्णन हुआ है। उक्त पुराण में शिव के रौद्र रूप के वर्णन का अभाव नहीं है। उत्तरकालीन कवियों ने शिव के रौद्र रूप का वर्णन उसी प्रभाव के अन्तर्गत किया है। शिव के रौद्र रूप का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

"रउदाल कीयउ तिरण वार रूप रुद्र
घरणइ सती जइ नेत्र वियाग
कोट अनह ब्रह्ममंड कांपीता
जडा हुंती काढीयउ ज्याग
चढीया जाइ पन्नंग कोप चढि
रोस सरोस थरकीया रोम
पावक धूंवइ परवउ परजलीयउ
विकटी जटा विलागी वोम"[२]

विवेच्य युग के कवि, शिव को आलम्बन मानकर, रौद्ररस वर्णन में शिवपुराण से दूर नहीं गये हैं।

भयानक रस — भयदायक वस्तु को देखने या सुनने से अथवा प्रबल शत्रु के विद्रोह आदि करने से, जब हृदय में वर्तमान भय परिपुष्ट होता है, तब भयानक रस उत्पन्न होता है। उसका स्थायी भाव भय है। शिवपुराणगत[3] वर्णन के अनुसार, राजा हिमाचल के नगर के निवासी, शिव की बारात को देख कर भयभीत होते हैं। ऐसा ही

---

१. महादेव पारवती री वेलि–पद ८८, ८९।
२. महादेव पारवती री वेलि, पर २००, २०।
३. शिवपुराण, रु० सं० पा० खं० अ० ४ -४३।

वर्णन प्रायः मध्यकालीन हिन्दी काव्य से मिलता है। तुलसी भयभीत पुर-वासियों के हृदय की दशा का वर्णन करते हैं—

"सिव समाज जब देखन लागे, बिडरि चले वाहन सब भागे
धरि धीरजु तंह रहे सयाने, बालक सब ले जीव पराने
गए भवन पूछहिं पितु माता, कहहिं वचन भयकंपित माता
कहिअ काह कहि जाइ न बाता, जम कर पार कियो बरिआता"[1]

पार्वतीमगल में भी तुलसी ने ऐसे ही भय का वर्णन किया है। शिव की बारात को देखकर बालकों के हृदय भयभीत हो जाते हैं—

'प्रमुदित गे अगवान विलोकि बरातहि
मभरे बनइ न रहत न बनइ परातहि
चले भाजि गज बाजि फिरहिं नहिं फेरत
बालक मभरि भुलान फिरहिं घर हेरत"[2]

कवि भिखारीदास हिमाचल नगर की युवतियों की भयभीत अवस्था का वर्णन करते हैं —

"जुवति गिरिराज की, लखन को गई दूलहे
विकल डरि के भजीं, निरखि संभु को सूल है
उरग तन भूषनो, बदन आक-पने भरे
बसन गज खाल को, मनुज मुंडमाल धरे"[3]

शिव की बारात को देखकर वाल-वृद्ध और युवतियां भयभीत हैं। उनके भय का ऐसा ही चित्रण शिवपुराण में हुआ है। मध्यकालीन हिन्दी-काव्यगत शैव कथाओं में अभिव्यक्त रसों में शिवपुराण का प्रभाव अनुमानगम्य है।

वीर रस

उत्साह का संचार, उत्साह भाव का परितोष वीर-रस का लक्ष्य है। उसके प्रदर्शन की कोई सीमा नहीं बांधी जा सकती। इसी कारण इसके अनेक भेद किये गये हैं। मनुष्य के धृति, क्षमा, दया, अस्तेय शौच, इन्द्रिय-निग्रह आदि जितने गुण हैं तथा परोपकार दान, तया, धर्म आदि जितने सुकर्म हैं सभी में वीरता दिखलाई जा सकती है। किसी को किसी विषय में असाधारण योग्यता, उस विषय में उसका वीर होना प्रमाणित करती है। शिवपुराण में शिव के गुण तथा सुकर्म के

---

१. मानस—बालकाण्ड, ९४।
२. पार्वती मंगल—१२।१०३, १०४।
३. भिखारीदास—सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रथम खण्ड, पृ० २५७।

अनेक उयाहरण मिलते हैं। मध्यकालीन हिन्दी कविता में उनके अनुकरण पर शिव कथाओं में वीर रस का वर्णन हुआ है। शिव व्यावलो में कवि ने वीर रस का वर्णन बड़े सुन्दर ढंग से किया है—

> "थमके सेती गूथर बाओं, धड़के घरत सवाई
> चौसठ जोगण लंगर पूरे, हाले सागर भाई
> वीर भवानी छेड़िया, पड़या नगर में सोर
> पाखरिया प्रभु तणा, जोधा आखें जोर
> गहरिया ज्यूं गेंगवा, फागण खेले फाग"[1]

प्रस्तुत रस की तुलना शिवपुराणगत सती कथा में दक्ष-यज्ञ-विध्वंस के समय होने वाले रस से की जा सकती है। इसी प्रसंग में वीर रस से आप्लावित वर्णन करते हुए—'महादेव पारवती रीं वेलि' में कहा गया है—

> "आठें गण तिके महामड आखां,
> एकां हेक चढंता हाथ।
> लंक तणइ तोरण जाइ लागा,
> मड आछटइ तिके मारत्थ।
> सादूलउ एक अनेक सिंहलि,
> घूमर कीग्रइ फेरवउ धंस
> बधा हुंतां ऊवड़े बगतर
> हाक समाती उडीयइ हंस"[2]

शिवपुराण में वीर तथा वीभत्स रस का अवसर सती के पिता के पक्ष के युद्ध के कारण उपस्थित हुआ है। मध्यकालीन हिन्दी साहित्यगत शिव कथाओं में उक्त प्रसंगों पर वीर तथा वीभत्स रस का वर्णन उक्त पुराण के अनुकरण पर हुआ है।

इन प्रसंगों के अतिरिक्त शिव के 'दानवीर' स्वरूप का वर्णन भी हुआ है। कवि पद्माकर के शब्दों में शिव के 'दानवीर' स्वरूप का वर्णन देखिए—

> "सम्पति सुमेर की, कुबेर की जु पावे ताहि
> तुरत लुटावत विलम्ब उर वारे नाहीं
> कहे पदमाकर सु हेम हय हाथिन के,
> हलके हजारन के बितर बिचारे ना

१. शिव व्यावलो–पद ९५।
२. महादेव पारवती री वेलि–पद ९५, ९६।

गज गज बकस महीप रघुनाथ राव
पाय गज धोखे कहूँ काहू देइ डारे ना
थाही डर गिरिजा गजानन को गोइ रही
गिरि तें गरे तें निज गोद तें उतारे ना"[1]

शिव की दानवीरता का उल्लेख तो अवश्य अनेक कथाओं में प्राप्त होता है, परन्तु उपरोक्त वर्णन कवि की मौलिकता है ।

पौराणिक कृतियों में शिव का एक प्रशस्त रूप 'वीर' का भी रहा है। उसके भी अनेक भेद हैं। उनमें दानबीर अवढर दानी शिव की व्याजोस्तुतियां तो अनेक स्थलों पर मिल जाती हैं। तुलसी के काव्य में शिव की व्याजो स्तुतिपरक दानवीरता का वर्णन देखिए—

"बावरो रावरो नाह भवानी
दानी बड़ो दिन देत दये बिनु, वेद बड़ाई मानी
निज घर की बरबात विलोकहु, हो तुम परम सयानी
सिव की दई संपदा देखत, श्री सारदा सिहानी
जिनके भाल लिखी लिपि मेरी, सुख की नहीं निसानी
तिन रंकन को नाक संवारत, हों आयो नकवानी
दुख-दीनता दुखी इनके दुख, जाचकता अकुलानी
यह अधिकार सौंपिये औरहिं, भीख भली में जानी"[2]

मध्ययुग के हिन्दी काव्य में उपरोक्त वीर रस का वर्णन शिवपुराण के अनुरूप हुआ है।

आलोच्य युग की शिव कथाओं में शिवपुराण के अनुरूप शान्त, भक्ति, हास्य, रौद्र, वीभत्स, भयानक तथा वीर रस का चित्रण हुआ है। अन्य प्रसंगों में भी जहाँ प्रसंगवश शिव कथाओं के संकेत प्राप्त होते हैं, वहां भी शिवपुराण के अनुकरण पर रससृष्टि हुई है, जिससे शैव-साहित्य के प्रभाव का अनुमान लगाया जा सकता है।

अलंकार

'अलंकरोति इति अलंकारः'[3] अर्थात् विभूषित करने वाले अर्थ या तत्त्व का नाम 'अलंकार' है। भावों को सजाना, उन्हें रमणीयता प्रदान करना अलं-

१. प्राचीन पद्य प्रभाकर—सं० श्रीकृष्ण शुक्ल, परिशिष्ट, पृ० १०६ ।
२. विनयपत्रिका—सं० वियोगीहरि, पद ५ ।
३. आ० विश्वेश्वर—काव्य प्रकाश टीका, २९९ ।

कारों का कार्य है। वे भावों की अभिव्यक्ति को प्रांजल एवं प्रभावशाली भी बनाते हैं। अलंकार, अलंकार्य का उत्कर्षाधायक[1] तत्त्व होता है। काव्य में शब्द और अर्थ के उत्कर्षाधायक तत्त्व का नाम अलंकार है। अतः रस भाव आदि के तात्पर्य का आश्रय ग्रहण कर अलंकारों का सन्निवेश आवश्यक है।

अलंकारों के शब्दालंकार, अर्थालंकर और उभयालंकर नाम से तीन भेद किये गये हैं। किसी विशेष शब्दों के रहने पर ही जो अलंकार रहते हैं, वे अलंकार उन विशेष शब्दों के आश्रित होने से शब्दालंकार कहलाते हैं। जो अलंकार 'शब्द परिवृत्तिसह'[2] होते हैं, अर्थात् यदि उन शब्दों का परिवर्तन करके उनके समानार्थक दूसरे शब्द प्रयुक्त कर दिये जायं तो भी अलंकार की कोई हानि नहीं होती, वे अलंकार शब्दाश्रित न होकर अर्थाश्रित होते हैं। इसलिए अर्थालंकार कहलाते हैं।

अर्थालंकारों में उपमान, उपमेय, साधारण धर्म तथा उपमावाचक-शब्द इन चार का उपयोग होता है। दो सदृश पदार्थों में प्रायः अधिक गुण वाला पदार्थ 'उपमान'[3] और न्यून गुण वाला पदार्थ 'उपमेय' होता है। उपमेय तथा उपमान के समान धर्म पर अलंकारों के दो वर्ग किये गये है।[4] सादृश्य मूलक और सादृश्यतिरिक्त मूलक अलंकार।

सादृश्य मूलक अलंकार में उपमेय और उपमान के समान धर्म का प्रतिपादन हुआ है। सादृश्य मूलक अलंकारों का आधार भूत उपमा अलंकार है। उसमें वस्तु के रूप, शील और गुण की समता किसी अन्य वस्तु के रूप शील और गुण से की जाती है।

वैदिक एवं उत्तर वैदिक साहित्य में शिव के स्वरूप का वर्णन करते समय कुछ विशिष्ट उपमानों का प्रयोग हुआ है। उनके शरीर की कान्ति का शंख, कुन्द, चन्द्रमा और कपूर के समान शुभवर्ण माना गया है। वे मोह रूप अंधकार को दूर करने में समर्थ दिवाकर है। मध्ययुग के काव्य में शिव के स्वरूप का वर्णन करते समय उक्त उपमानों का प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त स्वयं को भी उपमान' मान कर 'उपमेय' का वर्णन किया गया है। इस युग के काव्य में शिव के रूप-वर्णन में रूपक-अलंकार दृष्टव्य है।

शैवकाव्य-परम्परा में अलंकार

---

१. वही, पृ० ३९९।
२. वही, पृ० ४४०।
३. वही, पृ० ४४३।
४. वही, पृ० ४११।

रूपक

उपमेय में उपमान का आरोप रूपक अलंकार है। उसमें उपमान और उपमेय के भेद होने पर भी अत्यन्त सादृश्य के कारण उनका अभेद रूप में वर्णन किया जाता है। मध्यकालीन हिन्दी कविता में शिव के स्वरूप का वर्णन करते समय रूपक अलंकार का प्रयोग हुआ है। तुलसी उन्हें दिवाकर के गुणों से सम्पन्न मानते हैं—'मोह-तम-तरणि'[1] 'मोह-निहार-दिवाकर।'[2] शिव 'जलजनयन'[3] हैं तथा 'कंबु-कुंदेन्दु-कर्पूर गौरं।'[4] शिव के स्वरूप वर्णन में उक्त उपमानों का प्रयोग शैवों के अनुकरण पर हुआ है। इनके अतिरिक्त उपमान रूप में शिव का प्रयोग भी द्रष्टव्य है।

केशव 'पंचवटी' को शिव के गुणों से युक्त मानते हैं—

"सब जाति फटी दुख की दुपटी कपटी न रहे जहं एक घटी
निघटी रुचि मीचु घटी हूं घटी जगजीव, जतीन की छूटि तटी
अघ ओघ की बेरी कटी विकटी निकटी प्रकटी गुरु ज्ञान गये
चहुं ओर नाचति मुक्ति नटी गन धूरजटी बन पंचवटी"[5]

कवि ने उपमेय में उपमान के गुणों का आरोप किया है। पद्माकर भी उपमेय में उपमान के गुणों का आरोप करते हुए कहते हैं—"रिस में सिव।'[6]

शिव की स्तुति फलद है, उनकी भक्ति मुक्ति प्रदाता है। शिव की कृपा से भक्त के दुख दूर होते हैं। वे अपने क्रोध के लिए भी प्रसिद्ध हैं। अतएव शिव के उक्त गुणों के आधार पर उपमान रूप में उनका वर्णन वस्तुतः शिवपुराण की छाया में ही हुआ है।

उत्प्रेक्षा—उपमेय में उपमान की सम्भावना उत्प्रेक्षा अलंकार कहलाता है। मध्ययुग के हिन्दी कवियों ने वर्ण्य वस्तु में उपमान रूप शिव की सम्भावना की है। केशवदास समुद्र वर्णन में ऐसी ही सम्भावना करते हैं—

"भूति विभूति पियूषहि को विष ईश शरीर पाय कि दियो है"[7]

---

१. विनय पत्रिका—सं० वियोगीहरि, पद १०।
२. वही, पद ५।
३. वही, पद ९।
४. वही, पद १२।
५. केशवदास—रामचन्द्रिका, पृ० १७७।
६. पद्माकर—सं० विश्वनाथ मिश्र, पृ० ३७।
७. केशवदास—रामचन्द्रिका, पृ० २६६।

केशव एक अन्य स्थल पर बन की शोभा का वर्णन करते समय उत्प्रेक्षा अलंकार करते हैं—

'केलिथली जनु श्रीगिरिजा की, शोभ धरे शित कंठ प्रभा की"[१]

अलंकारों का प्रयोग भावानुभव में वृद्धि के लिये होता है। यह प्रयोग काव्य में विविध रूप[२] में सहायक सिद्ध होता है—भावों की उत्कर्ष व्यंजना में, वस्तुओं के रूप के तीव्र अनुभव में तथा क्रिया का तीव्र अनुभव कराने में। इस प्रकार भावों के उत्कर्ष और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का तीव्र अनुभव कराने में सहायक युक्ति अलंकार है। कहना न होगा कि आलोच्य युग के कवियों ने उपमान रूप में शिव का प्रयोग तथा शिव-स्वरूप वर्णन में परम्परागत उपमानों का प्रयोग शैवमत के प्रभाव में कहा है।

स्वभावोक्ति अलंकार

वर्ण्यवस्तु या व्यक्ति का सहज रूप-गुण कर्म वर्णन किया जाता है वहाँ स्वभावोक्ति अलंकार होता है। शिव के पौराणिक-स्वरूप-वर्णन का मध्यकालीन हिन्दी काव्य में अभाव नहीं है। शिव के मस्तक पर जटाजूट का मुकुट, गंगा और चन्द्रमा हैं। कानों में कुण्डल हैं। वे अपने शुभ तथा अशुभ दोनों रूपों कल्याण की खान हैं। वे जिस पर अनुकूल होते हैं, उसको ज्ञान धर्म केवल्य सुख और सुन्दर सौभाग्य आदि सहज ही मिल जाते हैं। शिव के पुराण प्रसिद्ध उक्त रूप और गुण का, मध्ययुगीन कवियों ने स्वभावोक्ति अलंकार द्वारा वर्णन किया है, जो चाहे परम्परा का परिणाम हो चाहे शैव साहित्य का।

तुलसी शिव के रूप-गुण-कर्म का वर्णन करने हैं—

"महाकल्पांत ब्रह्मांड-मंडल-दवन, भवन कैलाश आसीन काशी
तज्ञ, सर्वज्ञ, यज्ञेश, अच्युत, विभो, विश्व भवदंशसंभव पुरारी
ब्रह्मेन्द्र, चंद्रार्क, वरुणाग्नि, वसु, मरुत, यम अर्चि भवदंघ्रि सर्वाधिकारी
ज्ञान-वैराग्य, धन-धर्म, केवल्य-सुख सुभग सौभाग्य शिव सानुकूल"[३]

कवि भिखारीदासकृत शिव-वर्णन में स्वभावोक्ति अलंकार की छटा दर्शनीय है—

---

१. वही, पृ० १८०।

२. आ० विश्वेश्वर, काव्य प्रकाश (टीका) पृ० ४५०।

३. विनयपत्रिका—पद १०।

"लोचन लाल सुधाधर बाल हुतासन-ज्वाल सुभाल भरे हैं
मुंड की माल गयंद की खाल हलाहल काल कराल गरे हैं
हाथ कपाल त्रिसूल जू हाल भुजानि में व्यालि विसाल जरे हैं
दीन दयाल अधीन को पाल अधंग में बाल रसाल धरे हैं।"[1]

स्वभावोक्ति अलंकार के उक्त उदाहरणों का आलोच्य काल में अभाव नहीं है। आलोच्य युग के काव्य में शिव से सम्बद्ध स्वभावोक्ति अलंकार का वर्णन शिव-पुराण के अनुरूप हुआ है।

व्याजस्तुति—आलोच्य युग के काव्य में, शिव-स्तुति प्रसंग में, व्याज-स्तुति अलंकार का उपयोग हुआ। कवि शिव की अपार उदारता, दानशीलता से प्रभावित हैं। विद्यापति के शब्दों में शिव की व्याजस्तुति देखिये—

"जों हम जनित हूं भोला मेला ठगना
होइतहुं राम गुलाम गेमाई
माई विभीखन बड़ तप केलन्हि
जपलन्हि रामक नाम, गे माई
पूरुब पछिम एको नहि गेला
अचल भेला यहि ठाम, गे माई
बीस भुजा दस माथ चढ़ा ओलि
मांग दिहल मर गाल, गे माई
नीच ऊंच सिव किछु नहिं गुनलन्हि
हरषि देलन्हि रुंडमाल
एक लाख पूत सवा लाख नाती
कोटि सौबरनक दान, गे माई
गुन अवगन सिब एको नहिं बुझलन्हि
रखलन्हि रावनक नाम
मन विद्यापति सुकवि पुनीत मति
कर जोरि बिनओ महेस
गुन अवगुन हर मन नहिं आनथि
सेवकक हरथि कलेस, गे माई।"[2]

व्याजस्तुति में देखने में तो निन्दा प्रतीत होती है पर वस्तुतः वह होती स्तुति है। तुलसीकृत शिव-स्तुति में भी ऐसा ही दृश्य उपस्थित हुआ है।

---

१. भिखारीदास—सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० १५८।
२. विद्यापति पदावली—सं० बसन्तकुमार, पृ० ४३१।

"बावरो रावरो नाह भवानी ।
दानि बड़ो दिन देत दये बिनु, बेद बड़ाई मानी ।
निज घर की घरबात विलोकहु, हो तुम परम सयानी
सिव की दई संपदा देखत–श्री शारदा सिहानी
जिनके भाल लिखी लिपि मेरी सुख की नहीं निसानी
तिन रंकन को नाक संवारत, हों आयो नकबानी
दुख-दीनता दुखी इनके दुख, जाचकता अकुलानी
यह अधिकार सौंपिये औरहिं, भीख भली मैं जानी"[1]

उक्त उदाहरणों में प्रारम्भ में तो शिव की निंदा प्रतीत होती है परन्तु उसका पर्यवसान स्तुति में हुआ है । अतएव व्याजस्तुति कहना उपयुक्त है । शिव की व्याजस्तुति इस युग का प्रिय विषय रही है ।

विरोधाभास—वास्तव में विरोध न होने पर भी विरुद्ध रूप से वर्णन करना विरोधाभास अलंकार होता है । शिव दूसरों को तो शाल दुशाले तथा मूल्यवान वस्त्राभूषण दान कर देते हैं परन्तु स्वयं मृगछाला ही धारण करते हैं-

"सब के ओढावे भोला साल दुसलवा
आप ओढय मृगछलवा ।
सबके खिलावे भोला पांच पकबनमा
आप खाए भांग धतुरवा ।"[2]

कवि भिखारीदास भी शिव के आचरण में ऐसे विरोध का आभास पाते हैं—

"राखत हैं जग को परदा कहं आपु सजे दिगंबर राखे"[3]

एक अन्य पद में उन्होंने शिव की वेशभूषा और आचरण के चित्रण में विरोधाभास अलकार का प्रयोग किया है—

"सदाशिव नाम भेष असिव हरत बिसेषिये
मांगत है भीख औ कहावे भीख–प्रभु..."[4]

इसी प्रकार मध्यकालीन हिन्दी काव्य में ऐसे और भी कितने ही अलंकार देखे जा सकते हैं जिनके उपमान शैव–साहित्य की परपंरा के द्योतक मात्र हैं । यहां हमारा अभिप्राय अलंकार के संबंध में कुछ कहना नहीं है,

---

१. विनयपत्रिका–सं० वियोगीहरि–पद ५ ।
२. विद्यापति की पदावली–बसन्तकुमार, पृ० ४३० ।
३. भिखारीदास–सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, द्वितीय खण्ड, पृ० १२६ ।
४. भिखारीदास–सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रथम खण्ड, पृ० ६७ ।

अपितु उस परम्परा को प्रकाशित करना है जो अलंकार के क्षेत्र में शिव के सम्बन्ध से शैव काव्य में बनी रही है। रस-विवेचना भी इसी प्रकार की प्रवृति की प्रेरणा है।

निष्कर्ष—'शब्दार्थो सहितो काव्यं' अर्थात् वाचक और वाच्य दोनों मिलकर काव्य संज्ञा प्राप्त करते हैं। शब्द और दोनों में काव्यत्व होता है। अर्थ गौरव कविता का प्राण है। इसके लिए कवि का वर्ण्य विषय से तादात्म्य अनिवार्य है।

मध्यकालीन भक्त कवियों ने मानवीय सम्बन्ध के सभी भावों के आश्रय से अपने प्रेम की धारा बहायी है। भावों का आलम्बन शिव अथवा राम और कृष्ण रहे हैं। भगवान् की अप्रकट नित्य लीला के मधुर गान से हिन्दी साहित्य रससिक्त रहा हे। भगवान् के नाम, रूप और गुण के अतिरिक्त उनकी लीला अथवा उनसे सम्बद्ध कथाएं भक्तों का प्रिय होने के कारण काव्य का विषय बनी हैं।

मध्ययुग में वैष्णव भक्ति का एक महान् आन्दोलन हमारे सामने आता है, किन्तु उसमें भक्ति उदार रूप को लेकर प्रकट होती है। राम और कृष्ण के साथ उनकी शक्तियां तो उपास्यता ग्रहण करती ही हैं, शिव, पार्वती, गणेश आदि देव-देवियों भी वैष्णव उपासना के क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाते हैं। हिन्दी भाषी क्षेत्र में शिव भक्ति आई अवश्य किन्तु वैष्णव भक्ति के योग में ही शैव-भक्ति का समादर हुआ। अतएव वैष्णव काव्य की प्रचुरता में ही शैवकाव्य विलीन रहा।

हिन्दी साहित्य में शिव कथाएं प्रमुख कथा, प्रासंगिक कथा और प्रासंगिक संकेत रूप के विद्यमान हैं। शिव की प्रमुख कथाओं में सती और पार्वती की कथा से सम्बद्ध अनेक प्रसंग प्राप्त होते हैं, उनमें पार्वती-परिणय को लेकर स्वतन्त्र कार्यों का भी सृजन हुआ। इन काव्यों में पार्वती जन्म, उनकी तपस्या, सप्तऋषियों द्वारा पार्वती परीक्षा तथा शिव का ब्राह्मण वेश धारण कर पार्वती के पास आना व उनकी तपस्या और प्रेम की एकाग्रता से प्रभावित हो विवाह का वचन देना आदि प्रसंगों के साथ शिव-पार्वती विवाह का विस्तृत वर्णन भी प्राप्त होता है। विवाह की लौकिक रीतियों का सुरुचिपूर्ण चित्रण इन काव्य-कारों का लक्ष्य प्रतीत होता है।

प्रमुख कथा पर आधारित काव्यों की कथाएं, यद्यपि शिवपुराण तथा कुमारसम्भव के अनुकरण पर लिखी गयी हैं, तथापि उनमें मौलिकता का भी अभाव नहीं है। शिव ब्यावलो जैसी रचनाओं में शिव पुराण के कुछ प्रसंगों

का विसर्जन हुआ है साथ ही कवि ने लोक व्यवहार का आश्रय लेकर काव्य को मौलिकता प्रदान की है फिर भी उसमें शिव और पार्वती की पौराणिक अलौकिकता सुरक्षित है। इसी प्रकार महादेव-पारवती-री-वेलि आदि में कवि ने शिव और पार्वती के नारद-शिव वर्णन, सगर कथा और पार्वती के पूर्व जन्म की कथा का वर्णन किया है। इन काव्यों में आराध्य शिव के स्वरूप और उनके पारिवारिक जीवन का सरस चित्र प्रस्तुत किया गया है।

शैवेत्तर कवियों के काव्य में अधिकांश शैवकथाएं प्रसंग रूप से आई हैं जिनमें प्रभाव के साथ मौलिकता भी दिखलाई पड़ती है। इस युग के काव्य में शैव कथाओं के प्रासंगिक संकेत भी मिलते हैं।

मध्ययुगीन साहित्य में अधिकाशतः भक्ति या शृंगार रस की ही प्रमुखता रही है किन्तु भक्ति के परिवेश में ही शिव कथाएं, शिवप्रसंग या प्रासंगिक संकेत आये हैं, अतएव शृंगार की प्रमुखता नहीं मिल पाई। भक्ति के वातावरण में वीर, रौद्र, वीभत्स के अतिरिक्त हास्य रस की परिस्थितियां भी मिलती हैं जो शिव के स्वरूप और कर्म के अतिरिक्त उनके साथियों एवं अनुगामियों से भी सम्बोन्धित हैं। शैव साहित्य में अलंकारों की प्रतिष्ठित परम्परा चली आई है उसी का आग्रह प्रभावित हिन्दी कविता में भी दृष्टिगोचर होता है। उपमानों की विशेषता ने अलंकार की विशिष्टता का निर्माण किया है। इस प्रकार दर्शन, भक्ति, साहित्य सभी क्षेत्रों में मध्यकालीन हिन्दी कविता पर शैवमत का कुछ न कुछ आभार दृष्टिगोचर होता है।

उपसंहार

शैवमत हिन्दू धर्म का प्रमुख अंग है, जिसके उद्गम और विकास का मूल स्रोत है। भगवान शिव का चिन्तन, मनन और आराधना इस मत की विशेषता है। वैदिक ग्रंथों का अनुशीलन करने से रुद्र अथवा शंकर के वैदिक देवता होने में तनिक सन्देह नहीं रहता। रुद्र की प्रशंसा में प्रत्येक संहिता में अनेक मंत्र उपलब्ध होते हैं। यजुर्वेद में तो रुद्राध्याय नामक एक 'महत्त्वपूर्ण तथा स्वतन्त्र अध्याय ही उपलब्ध होता है। ऋग्वेद में रुद्र के लिए 'शिव' शब्द का प्रयोग एक स्थान पर हुआ है तथा विशेषण के रूप में उसका प्रयोग अनेक स्थलों पर मिलता है। वैदिक रुद्र ही शिव नाम से अभिहित किये गये हैं, पौराणिक काल में तो स्पष्ट रूप से रुद्र की परिणति शिव में हो गयी है।

शिव के दो स्वरूप—सोम्य और रौद्र, वैदिक काल से ही मिलते हैं। रौद्र रूप में वे मनुष्यों और पशुओं का संहार करते हैं। सोम्य रूप में वे भिषक्

और ओषधीष भी कहे गये हैं। इस रूप में वे कल्याणकारी हैं, जिससे प्राणी सन्तान और समृद्धि के लिये प्रार्थना करते हैं। शिव में दो आदि शक्तियों का मेल माना गया है—जीवन-दायिनी और जीवन हारिणी। वे अपने सोम्य रूप में जीवनदायिनी शक्ति से सम्पन्न रहते हैं तथा भयावह और विध्वंसक रूप में जीवनहारिणी शक्ति से युक्त होते हैं। अन्य वैदिक देवताओं के सदृश रुद्र की कल्पना भी प्राकृतिक तत्त्वों के मानवीकरण से की गयी। वे विद्युत के प्रतीक थे रुद्र और अग्नि के तादात्म्य का आधार भी यही था। भगवान् शंकर को केन्द्र मान कर अनेक आध्यात्मिक सिद्धान्तों का आविर्भाव हुआ है। दार्शनिक विचारधाराओं के विकसित होने से शैवमत विभिन्न शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त हुआ। उनमें पाशुपत, वीरशैव, शैव सिद्धान्त और प्रत्यभिज्ञादर्शन प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त कापालिक, कालमुख और रसेश्वर शैव सम्प्रदाय हैं। कुछ साधना पद्धतियों का विकास इनके समन्वय से भी हुआ जिनमें नाथ सम्प्रदाय उल्लेखनीय है।

दार्शनिक विचारों से परिपुष्ट शैवमत ने स्वतंत्र दर्शन का रूप धारण किया जो शैव सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध हुआ जिसका विशद निरूपण आगम ग्रन्थों में हुआ। आगम ग्रन्थों में वर्णित 'शैव सिद्धान्त' के विभिन्न पहलू शैवमत के प्रामाणिक आधार हैं। आगम ग्रन्थों में शैवमत के चिन्तन-पक्ष के विश्लेषण के साथ आत्म संयम अथवा योग एवं भक्ति तत्त्व का निरूपण भी हुआ है। शैवमत के सम्यक् विश्लेषण के लिये दर्शन, योग एवं भक्ति तीनों तत्त्वों का विश्लेषण अपेक्षित है।

शैवमत में शिव और जीवात्मा, शिव और जगत् तथा जीवात्मा और जगत् के सम्बन्ध का निरूपण अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत और द्वैत आदि भिन्न दार्शनिक प्रणालियों के द्वारा हुआ है तथापि इन सब की तात्विक पृष्ट-भूमि में मौलिक एकता विद्यमान है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में शिव का जो दार्शनिक स्वरूप है वही अपर-कालीन समस्त शैव दर्शन का बीज है। शैवमत में शिव को परम-सत्य और सृष्टा माना गया है, जो अपनी मावा के द्वारा सृष्टि का कार्य सम्पन्न करता है। सृष्टि की अभिव्यक्ति में माया ही सक्रिय कार्य करती है, पुरुष केवल उसका प्रेरक रहता है। दार्शनिक दृष्टि से शिव अपरिवर्तनशील चेतन है और शक्ति उसका परिवर्तनशील रूप है।

शैवमत में जीव और शिव में केवल ओपाधिक भेद माना गया है। उपाधि और उपाधि के वशीभूत जीवों का नियमन ईश्वर का धर्म है। जीव

स्वरूपतः नित्य, विभु, चेतन एवं अन्यान्य शिवधर्म से मुक्त होने पर भी संसारावस्था में इन सब का अनुभव नहीं कर पाता। शैवमत में जीवात्मा को विश्वोत्तीर्ण, सदापंचकृत्यकारी एवं अनन्त माना गया है। ज्ञान और क्रिया उसके लिये समान है। मध्ययुगीन हिन्दी काव्य में आत्मा को चैतन्य माना गया है। सन्त सुन्दरदास आत्मा को चैतन्य मानते हुए कहते हैं—

"सुंदर कहत तातें आतमा चैतन्य रूप
आप को भजन सो तों अपाही करतु है।"[1]

काश्मीरी शैवमत में आत्मा और परमात्मा के अद्वैत सम्बन्ध का प्रतिपादन हुआ है। उनके अनुसार यह विश्व और इसमें बसने वाले समस्त प्राण शरीर हैं, जिसकी आत्मा शिव हैं,विश्व शिव से भिन्न नहीं है। काश्मीरी शैवमत के प्रमुख आचार्य अभिनवगुप्त ने परमेश्वर और जगत् का परस्पर सम्बन्ध दर्पण विम्बवत् माना है। उनके अनुसार परमेश्वर में प्रतिबिम्बित विश्व शिव से अभिन्न होने पर भी घटपटादि रूप से भिन्न अवभासित होता है। मध्ययुगीन हिन्दी कविता में काव्य की आड़ में ही सिद्धान्तों की खोज हो सकी है क्योंकि कविता में सिद्धान्त बुलाने पर ही आते हैं और किसी प्रसंग का आश्रय लेकर ठहरते हैं। जब कभी वे मुक्तक रचनाओं में प्रविष्ट होते हैं तो अपनी अति स्वतन्त्रता से वे दर्शन के वेश को छिपा नहीं सकते। कबीर की साखी में अद्वैतरूप एवं द्वैताभास का निरूपण साहित्य कोटि से दूर भाग गया प्रतीत होता है।

"ज्यूं बिंबहि प्रतिबिंब समाना, उदकि कुम्भ बिगराना
कहे कबीर जानि भ्रम भागा, जीवहि जीव समाना"

वीरशैव मत के अनुसार जीवात्मा और परमात्मा में अद्वैत सम्बन्ध हैं तो अवश्य परन्तु जीवात्मा और परमात्मा से सर्वथा अभिन्न नहीं। यह शिव से भिन्न नहीं है। जीव शिव का अंश और शक्ति विशिष्ट माना गया है। वीर शैव मत के अनुसार विश्व ,शिव की इच्छा शक्ति के उद्वेलित होने पर, समुद्र में लहर और बुदबुदों के समान अभिव्यक्त होता है। यह जगत् शिव का अविकृत परिणाम है।

"जैसे ईख रस की मिठाई, भांति भांति भई
फेरि करि गारे ईख रस ही लहतु है।
जैसे घृत थीज के डरा सो बांधि जात पुनि

---

१. परशुराम चतुर्वेदी–हिन्दी संत काव्य संग्रह, पृ० १७०।

फेर पिघलें तें वह घृत ही रहतु है
तैसे ही सुन्दर यह जगत है ब्रह्म में
ब्रह्म सु जगतमय वेद सु कहत है।"[1]

शैव सिद्धान्ती एवं पाशुपत शैव द्वैतवादी हैं। इनके अनुसार शिव जीव को वन्धन से मुक्त करने के लिये जगत् की सृष्टि करते हैं। शिव अंशी हैं, पशु उनका सनातन अंश है। जीव अनन्त हैं और शिव से भिन्न हैं। प्रत्येक जीव अपना अलग अस्तित्व रखता है। द्वैत अवस्था समाप्त होने पर दोनों एक हो जाते हैं।

"जोव अनंत मसाल चिराग सु दीप पतंग अनेक दिखाहीं
सुन्दर द्वैत उपाधि मिटे जब इसुर जीव जुदे कछु नाहीं"[2]

शैवमत के दार्शनिक अन्वेषण में जीव के पाश और मोक्ष सम्बन्धी दृष्टिकोण का विवेचन भी अपेक्षित है। पाश का अर्थ बन्धन, जिसके कारण जीव शिवरूप होने पर भी, पशुत्व को प्राप्त करता है। वे पाश अविद्या, कर्म और माया हैं। इनको कंचुक भी कहा गया है। शैवमत में कर्म का सम्बन्ध अविधा से जोड़ा जाता है। इनके अनुसार कर्म जीव का बन्धन है, यही जीव के सुख-दुख और आवागमन का कारण है। जीव कर्म-बन्धन से मुक्त होने पर मोक्ष प्राप्त करता है। कंचुक या मलापसरण जीव का लक्ष्य है। पाश अथवा मल की निवृति होने पर जीव का पशुत्व दूर हो जाता है। मल शक्तियां रोध और अपसरण में ईश्वराधीन हैं। परमेश्वर की अनुग्रह शक्ति से, जिसे शक्ति-पात कहा गया है, मलापसरण सम्भव है।

ईश्वर के अनुग्रह से जीव के अज्ञान की निवृति होती है। वह ईश्वर के अनन्त ऐश्वर्य का भोग करता है। यही उसकी मुक्तावस्था है। शैवदर्शन में आधिदैविक, आधिभौतिक दुखों की निवृत्ति तथा अज्ञान भेदन करने वली स्वशक्ति और क्रियाशक्ति के उन्मेष को मोक्ष कहा गया है। यह अवस्था द्वैत प्रपंच की शान्ति से उपलब्ध होती है। यही आत्मबोध रूप दशा है, जिसे आत्मजागरण कहा गया है। इस अवस्था को प्राप्त कर जीव अविद्याजन्य दुख सुख अनुभव नहीं करता। वह जल में कमल के पत्ते के समान निवास करता है। मध्यकालीन हिन्दी काव्य जीवन्मुक्त अवस्था का वर्णन करते हुए कहते हैं—

१. परशुराम चतुर्वेदी—हिन्दी संतकाव्य संग्रह, पृ० १७०।
२. वही, पृ० १७०।

"मेरी तपति मिटी तुम देखतां, सीतल भयो भारी
भव बन्धन मुक्ता भया......................."[१]

दुख की आत्यंतिक निवृत्ति के अतिरिक्त शैवों में चिदानन्द एवं सामरस्य अवस्था को भी मोक्ष माना है। साधना के उपरान्त प्राप्त आनन्द को समरस तथा उस अवस्था को सामरस्यावस्था कहा जाता है वही शिवोऽहम् की स्थिति है, जिसे प्राप्त कर लेने पर जीव अशिव अथवा अमंगलकारी दुखों का अनुभव नहीं करता। वह अखण्ड आनन्दरस में लीन हो जाता है। जीव की संकुचित अवस्था में सुख और दुख दोनों रहते हैं लेकिन समरसता की अवस्था में केवल आनन्द ही आनन्द रहता है। वेदान्त में भी समरसता के सिद्धान्त को अपनाया गया है, परन्तु शैव दर्शन में ही समरसता के प्राप्त होने पर आनन्द की बात कही गयी है। आलोच्य युग के कवियों पर शैवों की उक्त धारणा का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है—

"आदिहुं आनंद अंतहुं आनन्द मध्यहुं आनंद ऐसे हिं जानो
बंधहु आनन्द मुक्ति हु आनन्द आनंद ज्ञान अज्ञान पिछानो
लेटेहुं आनन्द बैठेह आनन्द डोलत आनन्द आनन्द जानो
चरनदास विचारि सबै कछु आनन्द आनन्द छाड़िके दुःख न ठानो"[२]

शैवमत में आध्यात्मिक चिन्तन के अतिरिक्त साधना पक्ष में योग का भी प्राधान्य रहा है। शैवयोग साधना हठयोग से प्रारम्भ होकर क्रमशः मंत्रयोग, लययोग द्वारा राजयोग अथवा शैवयोग की आध्यात्मिक भूमिका को प्राप्त करती है। जीव योगाभ्यास के बल से उपाधि का लय कर शिवपद प्राप्त करता है। उसे प्राप्त करने के लिये आत्मनिग्रह, नादानुसन्धान और सोहं मंत्र के जाप की आवश्यकता है, जिनको साधक और साधना की विभिन्न भूमिकाओं पर प्राप्त करता है।

योग साधना की तीन भूमिकाएं हैं—कायिक, मानसिक और आध्यात्मिक। कायिक भूमिका पर साधक यम, नियम, आसन और प्राणायाम तथा प्रत्याहार द्वारा चितवृति का निरोध करता है। शैवयोग साधना में चितवृत्ति निरोध पर विशेष बल दिया गया है। उसके द्वारा साधक मानसिक भूमिका पर चित्त की शुद्धता तथा धारणा और ध्यान द्वारा समाधि अवस्था को प्राप्त करता है। ध्यान के तीन प्रकार माने गए हैं—स्थूल ध्यान, ज्योतिर-

---

१. दादू दयाल की बानी—पृ० ४३।
२. परशुराम चतुर्वेदी—हिन्दी संतकाव्य संग्रह, पृ० २६६।

ध्यान और सूक्ष्म ध्यान। शैवयोग में अन्तिम दो ही मान्य हैं। मध्ययुगीन काव्य में शैवमत के अनुरूप ही ज्योतिरध्यान और सूक्ष्म ध्यान का वर्णन हुआ है। कबीर दास का कथन है—"सुनि मंडल में पुरिष एक, ताहि रहे ल्यो लाइ"[1] एक अन्य स्थल पर भी आप गगन मंडल में ध्यान लगाने की बात कहते हैं—

"जुरा मरण व्यापे कुछ नाहीं, गगन मंडल ले लोगी"[2]

ध्यान के बाद समाधि का स्थान है। यही योग मार्ग की अन्तिम सीमा है। यही ज्ञाता और ज्ञेय तथा ध्याता और ध्येय की एकात्मकता है। सामान्यतः समाधि के दो भेद माने गये है— सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। सम्प्रज्ञात समाधि के दो भेद सविकल्प और निर्विकल्प हैं। विकल्प के नष्ट होने पर सविकल्प समाधि ही निर्विकल्प कहलाती है। उसमें केवल ध्येय पदार्थ का अनुभव होता है। इससे ऊपर की अवस्था असम्प्रज्ञात अवस्था कहलाती है। इस अवस्था में साधक अपने ध्येय के अनुभव में एकाग्र हो जाता है। यही जीव की जीवन्मुक्त दशा है, जिसे प्राप्त कर योगी अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। शैवयोग में इस अवस्था का वहुत महत्त्व है। कबीर मुक्तावस्था के आनन्द का वर्णन करते हैं—

"अवधू मेरा मन मतिवारा
उन्मनि चढया मगन रस पीवे, त्रिभावन भया उजियारा
गुड़ करि ग्यांन कर मडुवा, भव माठी करि मारा
सुषमन नारी सहजि समानीं, पीवे पीवन हारा
दोइ पुड़ जोड़ि चिगाई माठी, चुया महारस मारी
काम क्रोध किया बलीता, छूटि गई संसारी
सुंनि मंडल में मंदला बाजे, तहां मेरा मन नाचे
गुर प्रसादि अमृत फल पाया, सहजि सुषमना काछै"[3]

शैवयोग की तीन प्रमुख विशेषताएं हैं—शिव की स्थिति, प्रक्रिया और अनुभूति। शैवों के अनुसार शिव की स्थिति ब्रह्मरन्ध्र में मानी गयी है, जिसे शिवलोक[4] कहा गया है। शैवयोगी योगाभ्यास से हृदय में स्थित परमात्मा

---

१. कबीर ग्रन्थावली—पृ० ५६।
२. (क) वही, पृ० ८५।
(ख) सुंनि मंडल में सोधि ले, परम जोति परकास",—वही, पृ० ११०।
३. कबीर ग्रंथावली—पृ० ६७।
४. "शिव की पुरी बसे बधि सारु", —वही, पृ० २८१।

शिव का अनुसन्धान करता है। उसका साम्य शिवशक्ति सम्मिलन है। उसके लिए साधक कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत कर, उसे ब्रह्मरन्ध्र में लय करता है। वहीं शिव और शक्ति के सम्मिलन के उपरान्त योगी आनन्द अनुभव करता है। शैवयोग में कुण्डलिनी को उद्‌बुद्ध करने की प्रक्रिया भी विशिष्ट है, जिसमें आसन, प्राणायाम, मुद्रा, प्रत्याहार, नाड़ी विचार, षटचक्र वेधन आदि यौगिक प्रक्रियाओं का भी महत्त्व है। योग की विभिन्न भूमिकाओं पर आधारित शैव-योग की परम्परा, निर्बाध रूप से प्रवाहित रही है। मध्ययुगीन हिन्दी सन्त काव्यधारा में अभिव्यक्त योग की विभिन्न भूमिकाओं पर उसका प्रभाव स्पष्ट है।

शैवयोगियों में झोली अधारी रुद्राक्ष की माला और भस्म वेशभूषा के अंग माने गये हैं। साधना की प्रथम भूमिका में इनकी आवश्यकता स्थूल रूप से स्वीकार की गयी है। तदनन्तर इनका सांकेतिक अथवा सूक्ष्म महत्त्व प्रमुखता प्राप्त करता है अर्थात् संसार से वैराग्य प्राप्त करने के लिये तो इनका महत्त्व मान्य रहा ही है उसके पश्चात् योगी की आध्यात्मिक भूमिका पर भी उनका महत्त्व कम नहीं है। मध्ययुगीन हिन्दी काव्यधारा में शैवों की वेशभूषा का चित्रण हुआ है। वहां वेशभूषा के स्थल एवं सांकेतिक वर्णन के अतिरिक्त प्रतिक्रियात्मक चित्रण इस बात का प्रमाण है कि इस युग के कवि शैवयोगियों की वेशभूषा के पक्ष में रहे हों अथवा वे उससे नहीं, परिचित अवश्य थे। शैवों की विभूति, अधारी, जटा आदि का संकेत निम्न कविता में देखिये—

"गोरख सुठोरी लिए संभु ताको मत दिये
आपुन अकेलो संग गौरी तिहि लोग ना
वरुनि विभूति बार बार ले ले मुख लावे
उरहू लगावे पुनि भावे कछु भोग ना
अधारी ले घोरी धरी संपति धतूरा भरी
वृषभ ले चलै जाय कोऊ ताको सागे ना
जटा छिटकाय छबि छोनी में बिछाये छाल
बासुकी विरागी वाकी टेक बैठो जोग ना"[1]

इस युग के काव्य में शैवयोगी की वेशभूषा का प्रतिक्रियात्मक वर्णन भी दर्शनीय है—

---

१. पुरातन काव्य लहरी—सं० सं० साधुराम, पृ० १३३।

नहीं भंगपीवे न होय बावरो, चतुर अजब खिलारी
जगत रच्यो और रहत अकर्ता, इनकी शोभा न्यारी
मानसिंह परस्यो निज शंकर, गिरिजा सुरत हमारी"[1]

सगुण-साकार रूप में भी शिव पार्वतीपति हैं, गणेश और स्कन्द के पिता हैं। वे नटराज और अर्धनारीश्वर भी हैं। साकार रूप में उनके दो स्वरूप—सोम्य और रौद्र का वर्णन मिलता है। मध्ययुगीन हिन्दी काव्य में उक्त दोनों स्वरूपों का चित्रण हुआ है। विद्यापति उनके अर्धनारीश्वर रूप की स्तुति करते हैं—

"जय जय संकर जय त्रिपुरारि
जय अध पुरुष जयति अधनारि"[2]

सेनापति के काव्य में भी शिव के उक्त स्वरूप की छटा देखी जा सकती है—

"सोहति उतंग, उत्तमंग, ससि संग गंग
गोरि अरधंग, जो अनंग प्रतिकूल है"[3]

तुलसी के काव्य में तो उनकी अलौकिक आभा का वर्णन अनेक प्रकार से हुआ है—

"कुन्दइन्दुदरगोरसुन्दरं अम्बिकापतिमभीष्टसिद्धिदम
कारुणीककलकंजलोचनं नोभि शंकरमनंगमोचनम्"[4]

आलोच्य युग के काव्य में शिव के स्वरूप का वर्णन शिवपुराण का अनुकरण मात्र है। इस युग के कवियों ने शिव के स्वरूप वर्णन में प्राचीन परम्परा का निर्वाह किया प्रतीत होता है।

शिव के सोम्य रूप के अतिरिक्त इस युग के काव्य में उनके रौद्र रूप का चित्रण भी हुआ है। इस रूप में वे भयंकर हैं। उनके गले में मुण्डमाला है, वे भूत, पिशाच और अपने अन्य गणों के साथ विहार करते हैं। आ० भिखारीदास के शब्दों में उनका भयंकर रूप दर्शनीय है—

"लोचन लाल सुधाधर बाल हुतासन ज्वाल सुमाल भरे हैं
मुंड की माल गगंद की खाल, हलाहल काल कराल गरे है
हाथ कपाल त्रिशूल जू हाल भुजानि में व्याल विसाल जरे हैं
दीन नयाल अधीन को पाल अधंग में बाल रसाल धरे हैं"[5]

---

१. मान पद्य संग्रह–भाग २, पृ० ४।
२. विद्यापति की पदावली–सं० बसन्तकुमार, पृ० ३९६।
३. सेनापति–कवितरत्नाकर।
४. मानस–उत्तरकाण्ड, ३।
५. आ० भिखारीदास–सं० विश्वनाथ मिश्र, द्वितीय खण्ड, पृ० १५८।

भगवान् शिव की मानवाकार, लिंग, अर्धनारीश्वर और नटराज मूर्तियां भारत में सर्वत्र प्राप्त होती हैं। उपरोक्त मूर्तियों के अतिरिक्त वे मूर्तियां भी हैं, जिनमें शिव के दोनों ओर ब्रह्म और विष्णु को चित्रित किया गया है। शिव की मूर्तियों में उनके पौराणिक स्वरूप का आभास मिलता है। आलोच्य-युग के काव्य में शिव के नाम और रूप के गुण गान के अतिरिक्त उनके आभूषण, आयुध और वाहन का भी उल्लेख हुआ है। शिव का वाहन वृषभ, शिवा का सिंह और स्कन्द का वाहन मयूर तथा गणेश का वाहन मूषक है। आ० भिखारीदास शिव और उनके परिवार के वाहनों का उल्लेख करते हुए शिव के आभूषणों की ओर भी संकेत करते हैं—

"मूसो सिंहो मयूरो, डमरू वृषभ ओ व्याल है संग माहीं
ताके है एक एकै. असन करन का पावते घात नाहीं
माथे पीयूषधारी, सुभट सिरनि को, स्रग्घरे हैं गरे में"[1]

शिव और शिवा के वाहनों का उल्लेख पद्माकर ने भी किया है—

"काली चढै सिंह पे कपाली चढै बैल पे"[2]

शैवमत में शिव और उनके परिवार पार्वती, गणेश, स्कन्द और नन्दी की उपासना भी मान्य रही है। शिव की मूर्तियों के सदृश उनके परिवार की मूर्तियां भी मिलती हैं। शिव मन्दिरों में भी उनकी प्रतिष्ठा की जाती है। मध्यकालीन हिन्दी काव्य में, शैव परम्परा के अनुरूप पार्वती और गणेश के स्वरूप का विशद वर्णन है तथा शिव के साथ उनकी स्तुति भी की गयी है।

'मंगला के मंगल तं मंगल अनेग भयो
हिंगलाज राखी लाज याहि काज नयो हों
दुर्गा देवी तेरे इ दयातें दुर्ग नाधि आयो
पारबती तुम्हे सुमिरत पार भयो हों"[3]

देवी की स्तुति विद्यापति और तुलसी के काव्य में भी मिलती है जिसे शैवमत के प्रभाव के अन्तर्गत देखा जा सकता है।

शैवों के उपास्य शिव भक्तों के पापों को नाश करने वाले, कर्मों का फल देने वाले, मुक्ति प्रदाता हैं। इसी से उनकी स्तुति फलदु मानी गयी है। आलोच्य युग के काव्य में उनके फलदु स्वरूप का चित्रण हुआ है। उनको

---

१. वही, प्रथमखण्ड, पृ० २६५।

२. पद्माकर—सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ३१०।

३. पुरातन काव्य लहरी—सं० सं० साधुराम, पृ० १३३।

'अवढर-दानी' माना गया है। शैवेतर कवियों के काव्य में उनकी स्तुति से अनेक फलों को प्राप्त करने की आकांक्षा व्यक्त की गयी है।

"कहा भटकत ! अटकत क्यों न तासों मन ?
जातें आठ सिद्ध नव निद्ध रिद्ध तू लहै
लेत ही चढाइबे को जाके एक बेल पात
चढत जगाऊ हाथ चारि फल-फूल हैं"[1]

शिव के दाता स्वरूप का वर्णम भिखारीदास के शब्दों में देखिये—

"राखत हैं जग को परदा कह, आपुस ने दिगम्बर राखे
मांग विभूति भंडार भरी पे मरें गृह दास को जा अभिलाखे
छांह करे सब को हरजू निज छांह को चाहत है बट साखें
वाहन हैं वरदायक पे, वरदायक बाजि औ बारन लाखें"[2]

भक्ति भगवान् को प्राप्त करने का उत्कृष्ट साधन है। उसकी उत्कृष्टता सर्वत्र स्वीकार की गयी है। भक्ति भगवान् की एक मात्र प्रेमासक्ति है, जिसमें भक्त अपना सर्वस्व भगवान् को अर्पित कर, निर्द्वन्द्व हो केवल उनके ध्यानामृत में लीन रहना चाहता है। उत्तर वैदिक साहित्य में परमेश्वर के दो स्वरूप— निराकार और साकार—प्राप्त होते हैं। ये दोनों स्वरूप सदैव मान्य रहे हैं। मध्यकालीन संतों ने सगुण शिव का मौलिक स्वरूप निर्गुण में देखा है। यद्यपि वे भक्ति भाव की तरंग में सगुण का एक दम परित्याग नहीं कर सके हैं, फिर भी उनकी उपासना पद्धति में मानसिक पक्ष को प्रधानता मिली है। कहने का तात्पर्य यह है कि निर्गुण साधना में निराकार शिव स्तुत्य रहे हैं। वहां उनको अलख, निरंजन, शब्द और शून्य आदि अनेक नामों से सम्बोधित किया गया है। योगियों ने उनको आत्मस्थ मान कर, योगिक प्रक्रियाओं द्वारा, उनसे ऐक्य स्थापित करने का प्रयास किया है। दार्शनिकों ने अद्वैत, विशिष्टा-द्वैत, द्वैताद्वैत दार्शनिक विचारधाराओं द्वारा अलख शिव, जीव और जगत् तथा कर्म और कर्म संन्यास का विवेचन किया है।

भगवान् का साकार रूप ही सगुणोपासना का मूलाधार है। सगुण उपासना के दो साधन बहिरंग और अंतरंग माने गये हैं। भगवान् के नाम—रूप—गुण का श्रवण, कीर्तन तथा भगवान् का चरण सेवन सगुण भक्ति के बहिरंग साधन हैं। शैव और वैष्णव भक्ति के मूल तत्त्व एकसा है। उपासना

---

१. सेनापति—कवितरत्नाकर।

२. आ० भिखारीदास—सं० विश्वनाथ मिश्र, द्वितीय खण्ड, पृ० १२६।

के विस्तार में कुछ भिन्नता अवश्य मिलती है। शैवों ने शिव को आराध्य माना है, सखा नहीं। मध्ययुग की कविता में शिव का आराध्य स्वरूप मान्य रहा है। इस युग के वैष्णव कवियों ने शिव के नाम, रूप और गुण का श्रवण, मनन और कीर्तन आदि भक्ति बाह्य साधनों का महत्व मान्य रहा है। इस युग के भक्ति काव्य में शिव के अनेक नाम वैदिक और उत्तर वैदिक साहित्य में प्रतिपादित शिव नामों की परम्परा से ज्यों का त्यों अपना लिये गये हैं। इस युग के काव्य में शिव के नाम, रूप और गुण की स्तुति शैव मत के परिपार्श्व में प्रतिपादित हुई है। आ० भिखारीदास शिव के रूप और उनके गुणों का गान करते हुए कहते हैं—

> "दरवा दासनि को दोष दुख दूरि करे
> भाल पर रेखा बाल दोषाकर रेखिये
> चाहे न विभूति पे बिभूति सरबंग पर
> बाह बिन गंग-पर बाह सिर पे खिए
> सदाशिव नाम मेष असिव रहत सदा
> कर वरे सूल सूल रहत बिसेषिये
> मांगत है भीख श्रो कहावे भीख-प्रभु हम
> घरे याकी आसा याकों आसा घरे देखिये"[१]

आलोच्य युग के काव्य में शिव के मन्दिर दर्शन, पूजन, पूजन-सामग्री और तीर्थों का उल्लेख शैवमत के प्रभाव की ओर संकेत है। शिव मन्दिर का महत्व इस युग के प्रायः सभी कवियों को मान्य रहा है। कवि जोधराज के काव्य में भी शिव-मन्दिर का महत्त्व प्रतिपादित हुआ है—

> "कियो बहु हर्ष कुमार अपार, गए हर मंदिर सो तिहिं बार
> गनेसुर शंकर पुजि सुभाय, करे बहु ध्यान गहे जब पाय"[२]

पद्माकर ने भी शिवपूजन का महत्त्व स्वीकार किया है —

> "नवल बाल नंदलाल संग निज बिवाह के तांहि
> आगम की विधि सों उमहिं पूजत मंदिर मांहि"[३]

हिन्दी के कवियों ने शिव पूजा की सामग्री में अनेक उपकरणों को शैव परम्परा के अनुरूप अपनाया है। शिव पूजन में बिल्वपत्र के साथ जल

१. आ० भिखारीदात–सं० विश्वनाथ मिश्र, प्र० ख० पृ० ६७।
२. पुरातन काव्य लहरी–सं० साधुराम, पृ० १५७।
३. पद्माकर—सं विश्वनाथ मिश्र, पृ० ७२।

"चाहती सिंगार तिन्हें सिंगी सो सगाई कहा
ओधि की है आस तो अधारी कैसे गहिये
विरह अगाध तहां सुन्नि समाधि कौन
जोग काहि भावे जु वियोग दाह दहिये।"[1]

शैवमत में चिन्तन और योग के समान भक्ति-दर्शन का महत्त्व रहा है। भक्ति दर्शन का सम्यक् विवेचन उसके तीनों पक्ष—उपासक, उपास्य और उपासना पर निर्भर है।

भगवान् शिव में अनुरक्त व्यक्ति शैव भक्त अथवा शैवोपासक हैं। साधना के भेद से उपासकों के विभिन्न वर्ग बने। शिव की योगपरक उपासना करने वाले उपासक साधु और शिव के साकार रूप के उपासक भक्त कहलाये। किन्तु संत, साधु और भक्त शब्द का प्रयोग उपासक मात्र के लिए हुआ है। मध्यकालीन हिन्दी कवियों ने संत और साधु शब्द का प्रयोग भक्त अथवा उपासक के लिए ही किया है।

उपासक अपने उपास्य देव की उपासना में तल्लीन होकर परमानन्द की अनुभूति के लिए सचेष्ट रहता है। वह अपने उपास्य के अनन्य प्रेम में, उन्हीं के अनुरूप वेशभूषा धारण करता है, आचार विचार से उनके प्रति अपनी निष्ठा बनाता है। उपास्य के प्रति अनन्य अनुराग के लिए उपासक में गुणों की आवश्यकता है। निर्गुण हो चाहे सगुण उपासक के गुण सभी ने समान रूप से स्वीकार किये हैं। आलोच्य युग के कवियों ने भक्त के गुणों का अनेक प्रकार से वर्णन किया है जो शिवपुराण में कथित देवी सम्पदा के अनुरूप हैं। संत जगजीवन साहब 'साध' के गुणों का वर्णन करते हुए कहते हैं—

"भयो सीतल महा कोमल, नाहिं भावे आन
....
ऐसे निर्मल ह्वे रहे हैं, जैसे निर्मल मान"[2]

पलटू साहब भी परम्परा के अनुरूप 'साध' के गुणों का वर्णन करते हैं—

"सीतल चन्दन चंद्रमा तैसे सीतल संत
तैसे सीतल संत जगत की ताप बुझावें"[3]

---

१. वही-(आलम), पृ० १३०।
२. परशुराम चतुर्वेदी-हिन्दी संत काव्य संग्रह, पृ० २३०।
३. वही, पृ० २०७।

दादू साहब के शब्दों 'साध' के गुण इस प्रकार हैं—

"साध सबद सुख बरखि है, सीतल होइ सरीर"[1]

भक्त कवियों के काव्य में उपासक के गुणों का अभाव नहीं। उनके अनुसार क्रोध, मद, मान, मोह और लोभ आदि अवगुणों से निवृत्त होने पर भक्त हृदय भगवान् का निवास स्थान बन सकता है—

"काम क्रोध मद मान न मोहा,
लोभ न छोभ न राग न द्रोहा"[2]

भक्त के उक्त गुणों का वर्णन गोरखनाथ द्वारा वर्णित गुणों के अनुरूप है जिससे इस युग के काव्य पर शैव प्रभाव की कल्पना की जा सकती है।

उपासक कायिक शुद्धता और नैतिक आचरण के पुष्ट होने पर, मानसिक भूमिका पर, ज्ञान के विकास से आत्मोन्नति करता हुआ, आत्मा और विश्वात्मा की अभेदानुभूति प्राप्त करता है। इस प्रकार काया, मन और अध्यात्म के आधार से उपासक को तीन भूमिकाओं पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

कायिक भूमिका में शैवोपासक की वेशभूषा, आभूषण और अन्य चिन्ह विवेचनीय हैं। शैवोपासकों को उनकी विशिष्ट वेशभूषा से शीघ्र पहचाना जा सकता है। प्रत्येक शैव सम्प्रदाय की वेशभूषा, आभूषण और सज्जा में अपनी विशेषता है फिर भी उनमें समानता के कारण भिन्नता ज्ञात कर लेना आसान नहीं। शैवयोगी कमर के चारों तरफ अरबंध-लंगोट-नाग अथवा हाल-मतंग बांधते हैं। गेरुआ चोला पहनते हैं। शैवयोगी (सुखरास) टोपी और घाघरे के समान एक वस्त्र पहनते हैं तथा सतनाथी शैव नाना रंग के कपड़ों से बनी टोपी, कोट और गुदड़ी पहनते हैं। शैव नागा साधु वस्त्र के नाम पर कुछ भी धारण नहीं करते।

मेखमा, शृंगी, अधारी, कर्णमुद्रा, जनेऊ, भस्म, रुद्राक्ष, खप्पर, दण्ड और तिलक शैवयोगियों की सज्जा के विशेष उपकरण और आभूषण हैं। दशनामी शैव सन्यासी केवल गेरुआ वस्त्र धारण करते हैं और दूसरे वाह्याडम्बरों से दूर रहते हैं। शुद्ध शैवों और काश्मीर शैवोपासकों में वाह्य आडम्बर नहीं मिलते। इसी प्रकार गृहस्थ योगी अथवा भक्त की न कोई वेशभूषा है और न नियत आभूषण।

---

१. परशुराम चतुर्वेदी–हिन्दी संत काव्य संग्रह, पृ० १४९।

२. मानस–बालकाण्ड

कायिक भूमिका उपासकों की वेशभूषा के साथ उनके आचार विचार भी विवेचनीय हैं। सामान्यतः आचार के दो भाग हैं—साधारण आचार और शिष्टाचार। साधारण आचार में दैनिक कर्म, व्यावहारिक नियम एवं आश्रमिक कर्तव्यों को सुव्यवस्थित करने वाला आचरण सम्मिलित है। शिष्टाचार इसके आगे की वस्तु है। शैव सम्प्रदायों में आचार की महत्ता के साथ उसकी विशिष्टता विद्यमान है। वीर शैवों में कुछ विशेष आचरण की मान्यता है। उनमें लिंग धारण, शिव भक्ति पर विशेष बल, सामाजिक जीवन में शारीरिक परिश्रम की महत्ता, तथा अहिंसा और एकेश्वरवाद को महत्त्व दिया गया है। वीर शैवों के आचार क्षेत्र में जीवात्मा की शुद्धि के लिए अष्टावरण और पंचाचार का भी महत्त्व है। गोरखपंथी शैवों में आचार को 'रहनी' शब्द से द्योतित किया गया है तथा बाह्य-आचार सम्बन्धी समस्त विश्वासों और पूजा विधानों का खण्डन किया गया है।

उपासक कायिक भूमिका पर विचरण करता हुआ अनेक प्रकार से भगवद्भक्ति का आनन्द प्राप्त करता है। वह क्रमशः मानसिक और भावात्मक विकास की ओर उन्मुख होता है। मानसिक भूमिका पर विचरण करता हुआ साधक हृदय को भगवद्धाम बनाने के लिये विषयासक्ति और विषय दोनों का त्याग करता है तथा ब्रह्म से भिन्न संसार की सत्ता का नितान्त अभाव अनुभव करता है। जिन कारणों से भगवत्प्राप्ति में बाधा आती है वह उन सब से दूर रहता है। वह एक मात्र परमेश्वर की शरण चाहता है।

"न जानामि योगं जपं नेव पूजां नतोऽहं सदा सर्वदा शंभुतुभ्यं
जरा जन्म दुःखोघ तातप्यमानं, प्रभो पाहि आपन्नमामीश शंभो"[1]

भक्त की एक मात्र इच्छा भगवान् की अनपायिनी भक्ति प्राप्त करना है। वह भक्ति के चरम लक्ष्य पर पहुँच कर केवल प्रेम रस पीता है। उसका ध्यान एक मात्र भगवान् के चरण कमलों में लगा रहता है। श्रद्धेय के नाम–रूप–गुण का स्मरण, चिन्तन मनन उसके जीवन का धर्म बन जाता है।

उपास्य के नामकरण का श्रेय उपासक को है। शैवोपासकों ने अपने उपास्य शिव को उनके गुण और कर्म के आधार पर अनेक नामों से अभिहित किया है। ऋग्वेद में रुद्र के अनेक पर्यायी शब्द मिलते हैं, जिनमें दिवोवराह, कल्पलीकिन्, मेघपति, औषधीश, प्रचेत्स, ईशान् प्रमुख हैं। यजुर्वेद में इनको पिनाकी, नीलग्रीव, त्र्म्बक नामों से तथा अथर्ववेद में महादेव, शर्व, भव मन्त्रदाता, सहस्राक्ष, व्युक्तकेश नामों से अभिहित किया गया है। उपनिषदों में भी

---

१. मानस–उत्तर काण्ड, १०७।८।

शिव के नामों के विकास क्रम को देखा जा सकता है। यहां इनको गिरिशन्त, गिरित्र, महेश्वर कहा गया है। उत्तर वैदिक साहित्य में वैदिक शिव के नाम और रूप का विकास हुआ। शिव को मृत्युजंय, गंगाधर, हर, त्रिनेत्र, उमापति, शम्भु, पिनाकधारी, धूर्जटि, भावुक, भविक नामों से भी अभिहित किया है। मध्यकालीन हिन्दी काव्य में शिव के अनेक नामों का प्रयोग हुआ है। नन्ददास के शब्दों में शिव के विभिन्न नामों का वर्णन देखिए—

"गंगाधर, हर, शूलधर, ससिधर, शंकर, वाम
शर्व, संभु, शिव, भीम, भव मर्ग, कामरिपु नाम
त्रिनयन, त्रिबक, त्रिपुर-अरि, ईस उमापति होइ
जटा पिनाकी, धूर्जटी, नीलकंठ, मह सोई"[१]

तानसेन शिव की स्तुति करते हुए उनके अनेक नामों का उल्लेख हैं—

"महादेव, आदि देव, देवादेव, महेश्वर, ईश्वर, हर
नीलकंठ, गिरिजापति, कैलासपति शिवशंकर भोलानाथ,
गंगाधर"[२]

नाम के समान ही शिव के रूप का वर्णन भी वैदिक और उत्तरवैदिक साहित्य में मिलता है। शिव धर्माध्यक्ष हैं, उपासकों के श्रद्धेय हैं। उपासकों ने उनके निर्गुण और सगुण दोनों रूपों की उपासना की है। तुलसी के शब्दों में शिव के निर्गुण स्वरूप की स्तुति द्रष्टव्य हैं—

"नमामीशमीशान निर्वाण रूपम, विभुव्यापकं ब्रह्म देव-स्वरूपम्
निजं निर्गुणं निर्विकल्पं निरीहं, चिदाकाशमाकाशवासं भजेऽहं।
निराकारमोंकारमूलंतुरीयं, गिराग्यान गोतीतमीशं गिरीशं
कराल महाकाल कालं कृपालं, गुणागार संसारपारं नतोऽहं"[३]

जोधपुर नरेश मानसिंह की रचनाओं में भी शिव के निराकार स्वरूप की अभिव्यंजना हुई है—

"उन हर की बलिहारी, साधो में तो उन हर की बलिहारी
सब के हृदय बीच जो व्यापक, वेद रटे नित चारी
तीन गुणों पर मन को मारयो सो महेश त्रिपुरारी

---

१. नंददास ग्रन्थावली, पृ० ८० ।
२. नर्मदेश्वर चतुर्वेदी–हिन्दी के संगीतज्ञ कवि, पृ० १२१ ।
३. मानस–उत्तरकाण्ड, १०७ ख ।

का भी महत्त्व है। विद्यापति उक्त उपकरणों का अपने काव्य में उल्लेख करते हैं—

"सिव हो, उतरब पार कम्रोन विधि
लोढ़ब कुसुम तोरव वेलपात
पुजब सदासिव गोरिक सात"[1]

शिवपुराण में शिव पूजा के बहुत से उपकरणों का उल्लेख हुआ है। वहां 'आक' और 'धतूरे' तथा बिल्व-पत्र से शिव के प्रसन्न होने की बात भी कही गयी है। मध्यकालीन हिन्दी काव्य में शिव-पूजन में प्रयुक्त उपकरणों का उल्लेख उक्त पुराण के प्रभाव में लिखा गया प्रतीत होता है। इस युग के कवियों ने शैव तीर्थों के प्रति भी अपनी श्रद्धा अभिव्यक्त की है। 'हिंगलाज' शैवों का तीर्थ स्थान है। उसकी महिमा का गान कवि ने शैव प्रभाव के अन्तर्गत किया है—

"हिंगलाज राखी लाज, याहि काज नयो हों"[2]

शैवों में अंतरंग भक्ति का भी महत्त्व रहा है। उसमें भक्त भगवान् के चरणों में आत्म निवेदन कर क्रमशः रागानुगा और पराभक्ति को प्राप्त करता है। साधनावस्था में भक्त का विरक्ति भाव दृढ़ होता है। वह क्रमिक अभ्यास से आत्मसमर्पण करने योग्य वनता है। मध्ययुगीन हिन्दी काव्य में आत्मसमर्पण की भावना का विशद वर्णन मिलता है। विद्यापति के शब्दों में आत्मसमर्पण-जन्य आनन्दानुभूति देखिए—

"हर जनि बिसरब मो ममिता
हम नर अधम परम पतिता
तुअ सन अधम उधर न दोसर
हम सन जग नहिं पतिता
जग के द्वार जबाब कम्रोन देव
जरबन बुझत, निज गुन कर बतिया
जब जम किंकर कोपि पठाएत
तरवन के होत धरहरिया।

---

१. विद्यापति की पदावली—पृ० ४१२।
२. पुरातन काव्य लहरी–सत साधुराम, पृ० १३३।

मन विद्यापति सुकवि पुनीत मति
संकर विपरीत बानी
असरन सरन चरन सिर नाओल
दया करु दिअ सूलपानी"[१]

शिवभक्तों में श्रवण, कीर्तन, मनन, चरण-सेवन और आत्म निवेदन के अतिरिक्त उपासना की विशिष्ट पद्धति-नमक चमक तथा पार्थिव पूजा पद्धति मान्य हैं। हिन्दी के भक्ति काव्य में उपासना पद्धति का सैद्धान्तिक विवेचन नहीं हुआ है, हां इस युग के काव्य में शैवों की पार्थिव पूजा पद्धति का वर्णन अवश्य मिलता है, जिसको शैवों का प्रभाव ही मानना होगा।

शैवों की अंतरंग साधना में पंचाक्षर मंत्र (ॐ शिवाय नमः) के जाप का अनन्य महत्त्व है। उनके अनुसार बाह्य पूजा आभ्यांतरिक या मानसी पूजा के लिए सोपान का काम करती है। तुलसी ने अपने काव्य में शिव की मानसी पूजा की ओर भी संकेत किया है—

"रुद्राष्टकमिदं प्रोक्तं विप्रेण हरतोषय
ये पठन्ति नरा भक्त्या तेषां शंभुः प्रसीदति"[२]

शैव तान्त्रिकों ने आत्मा के सभी कर्म शिव की अर्चना माने हैं। उनमें मानसिक उपासना को बाह्य उपासना से श्रेष्ठ माना गया है। आलोच्य युग के कवियों ने मानसी उपासना को महत्त्व दिया है। सम्भवतः उन पर तांत्रिक शैवों की मानसिक उपासना का भी प्रभाव रहा है।

मध्यकालीन हिन्दी काव्य में शिव, उनके विभिन्न नाम, रूप, गुण, आयुध, वाहन और परिवार का वर्णन तो परम्परागत रूप में हुआ ही है इसके अतिरिक्त इस युग के भक्त कवियों की उपासना भी शैवोपासना से अपरिलक्षित रूप में प्रभावित रही है। आलोच्य युग के काव्य पर शैवमत का प्रभाव अनुमानगम्य है।

शिव-कथाओं के उद्‌भव का श्रेय पौराणिक काव्य को है। शिव की अनेक कथाओं में सती और पार्वती कथा प्रसिद्ध है। सती कथा में सती मोह, शिव द्वारा उनका मानसिक त्याग, दक्ष-यज्ञ विध्वंस तथा पार्वती कथा में पार्वती अवतार, पार्वती तपस्या, तारकासुरवध, मदन-दहन, शिव-पार्वती विवाह प्रसंग प्रसिद्ध हैं, जिनको संस्कृत और हिन्दी काव्य ने उसी रूप में अपना लिया

---

१. विद्यापति की पदावली—पृ० ४१७।
२. मानस—उत्तरकाण्ड, १०७।९।

है। मध्ययुगीन हिन्दी कविता में सती और पार्वती की कथा-प्रमुख कथा, प्रासंगिक कथा और प्रासंगिक संकेत रूप में विद्यमान है। प्रमुख-शिव-कथाएं संख्या में कम अवश्य हैं तथापि उन पर शैव प्रभाव स्पष्ट है। इस युग के काव्य में प्रासंगिक कथाओं एवं उनके प्रासंगिक संकेतों का बाहुल्य है

तुलसी शिव से सम्बद्ध गुणानिधि[1] कथा की ओर संकेत करते हुए कहते हैं—

"कवनि भगति कीन्ही गुननिधि द्विज
होइ प्रसन्न दीन्हेहु सिव पद निज।"[2]

इसके सदृश ही त्रिपुर-वध एवं मदन-दहन कथा के संकेत भी दृष्टव्य हैं। "काल-अतिकाल, कलि काल, व्यालादि-खग, त्रिपुरमर्दन, भीम कर्म भारी"[3]। तुलसी मदन-दहन की ओर संकेत करते हुए कहते हैं—"त्रयनयन, मदन-मर्दन-महेस।"[4] आलोच्य काल में शैवेतर कवियों के काव्य में शिव सम्बद्ध कथाओं के प्रासंगिक संकेत, शैवमत के परोक्ष प्रभाव को द्योतित करते हैं।

मध्ययुगीन हिन्दी कविता ने शैवमत के प्रभाव को साहित्य के अनेक क्षेत्रों में हो कर लिया है। जो कहीं अनुवाद रूप में है तो कहीं कथा-प्रभाव रूप में, कहीं भाव छाया है तो कहीं सांकेतिक संदर्भ। इस युग के काव्य में शैव कथाओं के साथ उनमें प्रयुक्त रसों को भी अपनाया गया है। रसोपकरणों में भिन्नता होने पर भी विभावादि की प्रक्रिया पर मूल का प्रभाव स्पष्ट है।

हिन्दी साहित्य का मध्यकाल, अपनी अनेक विशेषताओं के कारण, अन्य कालों में सर्वोपरि है। हिन्दी संसार के कवि एवं महाकवि जिनसे हिन्दी भाषा का मुख उज्ज्वल हुआ इसी काल में हुए। इस युग की काव्य धारा में एक ओर सुधा का माधुर्य है तो दूसरी ओर हृदय को रससिक्त करने वाली अलौकिक रस धारा है। उसमें ज्ञान का प्रकाश है तो भक्ति की स्निग्धता भी है। वस्तुतः यह युग भक्ति आन्दोलन का युग है, जिसमें सगुण साकार और निर्गुण निराकार दोनों ही भक्ति का केन्द्र बने थे। वैष्णवों के आलम्बन राम और कृष्ण के अतिरिक्त शैवों के आराध्य शिव भी भक्ति केन्द्र थे। शैवमत इस

---

१. देखिये—इसी अभिलेख का प्रथम अध्याय,।
२. विनय पत्रिका–सं० वियोगी हरि पद ८।
३. वही, पद ११।
४. विनय पत्रिका–सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पद १३।

युग का प्रमुख मत था। उसके चिन्तन योग एवं भक्ति सिद्धान्तों का तत्कालीन कविता पर, परोक्ष एवं अपरोक्ष दोनों रूप से प्रभाव परिलक्षित होता है। इस युग की दार्शनिक पृष्ठभूमि का विश्लेषण करते समय शैवमत के योग को भुलाया नहीं जा सकता।

मध्यकालीन हिन्दी कविता पर शैवमत का प्रचुर प्रभाव है, जिसको दर्शन, योग और भक्ति तथा साहित्यिक विद्या के अन्तर्गत देखा जा सकता है। दर्शन क्षेत्र में शैवों के अद्वैतवाद में प्रतिपादित प्रतिविम्बवाद तथा अविकृत परिणामवाद तथा उनकी मोक्ष सम्बन्धी धारणा दुख की आत्यंतिक निवृत्ति एवं आनन्दवाद का आलोच्य युग की कविता में अनेक प्रकार से उल्लेख हुआ है। इस युग के सगुण एवं संत तथा प्रेमाश्रयी कवियों ने प्रतिबिंबवाद एवं अविकृत परिणामवाद के द्वारा जीव और जगत्, जीव और परमेश्वर तथा जीव और मोक्ष सम्बन्धी दृष्टिकोण को अभिव्यक्त किया है।

मध्ययुगीन हिन्दी कविता की योग धारा वस्तुतः शैवों की ही योग धारा है जो इस युग के कवियों को नाथों से प्राप्त हुई है। इस युग के कवियों ने भले ही इसमें मौलिकता प्रदान की फिर भी वे मूल-शैवयोग धारा से दूर नहीं गये हैं। भक्ति क्षेत्र में शिव भक्ति प्रधान रही है जिसमें विष्णु की भक्ति भी समाविष्ट हुई आगे चल पंचदेवोपासना का मूल वनी।

शैव साहित्य ने भी इस युग के काव्य की शिव कथाएं, कथा संकेत और पात्र तो प्रदान किये ही हैं साथ ही शैव साहित्य की अनेक रस भी उसमें आए हैं। सारांशतः कहा जा सकता है कि शैवमत और उसके साहित्य ने इस युग के काव्य को चिन्तन, साधना और आराधना तथा साहित्य सभी क्षेत्रों में प्रभावित किया है।

———

परिशिष्ट

मूल ग्रन्थ सूची

१. अनुराग बांसुरी	नूर मोहम्मद
२. अखरावट	मलिक मोहम्मद जायसी
३. आनन्द भण्डार	आनन्द
४. इन्द्रावती	नूर मोहम्मद
५. कबीर ग्रंथावली	सं० श्याम सुन्दरदास चतुर्थ संस्करण, २००८ वि०
६. कबीर	हजारीप्रसाद द्विवेदी
७. कवरावत	अलीमुराद
८. कवितावली	तुलसी
९. कवितरत्नाकर	सेनापति
१०. काव्य निर्णय	भिखारीदास—नागरी प्रचारिणी सभा
११. गोरखबानी	डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल द्वारा सम्पादित ।
१२. गुलाल साहब की बानी	वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग
१३. घनानंद और आनन्द घन	सं० विश्वनाथ प्रसाद
१४. चरणदास की बानी	वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग
१५. चित्रावली	उसमान
१६. जगजीवन की साहब की बानी	वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग ।
१७. जायसी ग्रंथावली	सं० रामचन्द्र शुक्ल
१८. तुलसी ग्रंथावली	सं० रामचन्द्र शुक्ल
१९. तख्यलाते आनन्द	आनन्द
२०. नन्ददास ग्रंथावली	नंददास
२१, निर्पक्ष वेदान्त राग सागर	अलखानन्द
२२. नानक बानी	वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग

२३. दादू साहब की बानी — वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग
२४. दरिया सागर — सं० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी
२५. दोहाकोश — प्रबोधचन्द बागची
२६. धर्मदास की बानी — वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग
२७. धवलराम चरित — कर्ताराम
२८. धरनीदास की बानी — वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग
२९. पद्माकर — सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
३०. पलटू साहब की बानी — वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग
३१. पार्वती मंगल — तुलसी
३२. प्राण संगली — गोरखनाथ
३३. प्राचीन पद्य प्रभाकर — सं० श्रीकृष्ण शंकर शुक्ल
३४. पुरातन काव्य लहरी — सं० संत साधुराम
३५. बिहारी — सं० विश्वनाथ मिश्र
३६. बिहारी रत्नाकर — द्वितीय संस्करण–टीकाकार जगन्नाथ दास रत्नाकर
३७. बुल्ला साहब की बानी — वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग
३८. बोध सागर — वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई
३९. भजन रत्नमाला — रामस्वरूप
४०. भजन संग्रह–भाग १,२,३
४१. भिखारीदास — सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
४२. भीखा साहब की बानी — वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग
४३. भूषण ग्रंथावली — हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
४४. भ्रमर गीत सार — रामचन्द्र शुक्ल
४५. महाकवि गंग के कवित्त — वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग
४६. मान पद्य संग्रह भाग १,२,३ — रामगोपाल मोहता द्वारा सम्पादित
४७. मीरा बाई की पदावली — सं० परशुराम चतुर्वेदी
४८. मधुमालतो — मंझन
४९. मलूकदास की बानी — वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग
५०. महादेव पार्वती री वेलि — किसनउ–हस्तलिखित ग्रंथ, सार्दुल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, बीकानेर।
५१. युसुफ जुलेखा — निस्सार
५२. यारी साहब की बानी — वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग

५३. रामचरित मानस	गीताप्रेस, गोरखपुर
५४. राम गीता	संत किनाराम
५५. रामचंद्रिका	केशवदास
५६. रूप मंजरी	
५७. रैदास की बानी	वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग
५८. विवेकसार	कीनाराम
५९. विद्यापति की पदावली	सं० रामवृक्ष वेनी पुरी
६०. विनयपत्रिका	सं० वियोगी हरि
६१. शिव ब्यावलो	गोरधन दास—हस्तलिखित ग्रंथ विद्यामंदिर, बीकानेर में उपलब्ध
६२. संतभाल	मिशन प्रेस, इलाहाबाद
६३. संत दरिया	सं० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी
६४. स्वरूप प्रकाश	भिनकराम
६५. सिद्ध चरित	सूर्यशंकर पारीक
६६. सुन्दर ग्रंथावली भाग १,२	सं० हरिनारायण शर्मा
६७. सुन्दर दर्शन	डा० दीक्षित
६८. सुन्दर विलास	वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग।
६९. संतबानी संग्रह, भाग १,२	वेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद
७०. संत विलास	हस्तलिखित ग्रंथ
७१. हिन्दी संतकाव्य संग्रह	परशुराम चतुर्वेदी
७२. संत सुधासार	वियोगी हरि
७३. सूर विनयपत्रिका	सूरदास
७४. सूर सागर	सूरदास
७५. सहजोबाई की बानी	वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग
७६. ज्ञानस्वरोदय	संत दरिया
७७. हिन्दी प्रेमगाथा काव्य संग्रह	सं० गणेश प्रसाद द्विवेदी
७८. सूफी काव्य संग्रह	परशुराम चतुर्वेदी

सहायक ग्रन्थ सूची (क)

१. अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय	दीन दयाल गुप्त
२. अपभ्रंश साहित्य	हरिवंश कोचर

३. अग्निपुराण का काव्य-शास्त्रीय भाग	रामलाल शर्मा
४. आर्य संस्कृति के मूल तत्त्व	सत्यव्रत विद्यालंकार
५. आर्य संस्कृति के मूलाधार	बलदेव उपाध्याय
६. आचार्य सायण और माधव	बलदेव उपाध्याय
७. उत्तरी भारत की संत परंपरा	परशुराम चतुर्वेदी
८. कामायनी सौंदर्य	डा० फतह सिंह
९. कामायनी काव्य में संस्कृति और दर्शन	डा० द्वारिका प्रसाद
१०. कामायनी दर्शन	कन्हैयालाल सहल तथा विजयेन्द्र स्नातक
११. कबीर का रहस्यवाद	डा० रामकुमार वर्मा
१२. कबीर का विवेचन	डा० सरनामसिंह शर्मा
१३. कबीर की विचारधारा	डा० गोविन्द त्रिगुणायत
१४, कबीर साहित्य अध्ययन	पुरुषोत्तम एम० स० बनारस
१५. कबीर पंथ	मिशन प्रेस, इलाहाबाद
१६. कबीर साहित्य की परख	परशुराम चतुर्वेदी
१७. कबीर दर्शन	राजेन्द्र सिंह गौड़
१८. काव्य दर्पण (टीका)	रामदहिन मिश्र
१९. काव्य प्रकाश	डा० नगेन्द्र
२०. काव्य प्रकाश (टीका)	आचार्य विश्वेश्वर
२१. गीता हृदय	स्वामी सत्यानन्द
२२. तुलसीदास	डा० माता प्रसाद गुप्त
२३. तुलसीदास और उनका युग	डा० राजपति दीक्षित
२४. तुलसीदास और उनका साहित्य	विमल कुमार जैन
२५. तुलसी दर्शन	बलदेव प्रसाद
२६. तवसुफ और सूफीमत	चन्द्रबली पांडेय
२७. नाथ सम्प्रदाय	हजारी प्रसाद द्विवेदी
२८. नाथ सिद्ध एक विवेचन	नरेन्द्र सिंह
२९. ब्रजलोक साहित्य एक अध्ययन	डा० सत्येन्द्र
३०. प्रबोध चन्द्रोदय	ट्रेलर द्वारा अनुदित
३१. बौद्ध दर्शन	बलदेव उपाध्याय

पुस्तक	लेखक
३२. बौद्ध साहित्य की देन सांस्कृतिक झलक	परशुराम चतुर्वेदी
३३. बौद्ध साहित्य की सांस्कृतिक झलक	परशुराम चतुर्वेदी
३४. बौद्ध धर्म दर्शन	आ० नरेन्द्र देव
३५. ब्रह्मसूत्रों में वैष्णव काव्यों का तुलनात्मक अध्ययन	रामकृष्ण आचार्य
३६. वैष्णव धर्म	परशुराम चतुर्वेदी
३७. व्यावहारिक जीवन में वेदान्त	स्वामी विवेकानन्द
३८. भक्ति का निवास	मुंशीराम शर्मा
३९. भागवत सम्प्रदाय	बलदेव उपाध्याय
४०. भारतीय दर्शन	बलदेव उपाध्यय
४१. भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखाएं	परशुराम चतुर्वेदी
४२. भारतीय दर्शन शास्त्र का का इतिहास	देवराज तथा रामानन्द तिवारी द्वितीय संस्करण
४३. भारतीय साधना और सूर साहित्य	डा० मुंशीराम शर्मा
४४. भारतीय सस्कृति और उसका साहित्य	सत्यकेतु विद्यालंकार
४५. भारतीय चिन्तन	रांगेय राघव
४६. भोजपुरी के कवि और काव्य	दुर्गाशंकर सिंह
४७. भोजपुरी और उसका साहित्य	किशन देव
४८. मध्यकालीन धर्म साधना	हजारी प्रसाद द्विवेदी
४९. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति	गोरीशंकर हीराचन्द ओझा
५०. मध्यकालीन प्रेम साधना	परशुराम चतुर्वेदी
५१. मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोक तात्विक अध्ययन	डा० सत्येन्द्र
५२. मिश्र बन्धु विनोद	मिश्र बन्धु
५३. मुक्तक काव्य परम्परा और बिहारी	राम सागर त्रिपाठी
५४. राम भक्ति शाखा	राम निरंजन पांडेय

५५. राम भक्ति में रसिक सम्प्रदाय — भगवती प्रसाद
५६. राजस्थान का पिंगल साहित्य — मोतीलाल मेनारिया
५७. राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन अभिनन्दन ग्रंथ
५८. शैवमत — डा० यदुवंशी
५९. शक्ति पात रहस्य — गोपीनाथ कविराज
६०. शंकराचार्य — बलदेव उपाध्याय
६१. शंकराचार्य का आचार दर्शन — डा० रामानन्द तिवारी
६२. षड्दर्शन — रंगनाथ
६३. सिद्ध साहित्य — धर्मवीर भारती
६४. संस्कृति के चार अध्याय — दिनकर
६५. संतमत का सरभंग सम्प्रदाय — धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी
६६. सूफीमत और साहित्य — डा० विमल कुमार जैन
६७. सूरदास — रामचन्द्र शुक्ल
६८. सूर और उनका युग — डा० हरवंश लाल शर्मा
६९. सिद्ध साहित्य — सूर्य शंकर पारीक
७०. संस्कृत साहित्य का इतिहास — बलदेव उपाध्याय
७१. संस्कृत साहित्य का इतिहास — कन्हैयालाल पोद्दार
७२. सूर मीमांसा — ब्रजेश्वर वर्मा
७३. सूरपर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य — शिवप्रसाद सिंह
७४. संस्कृति संगम — शक्ति मोहन सेन
७५. हिन्दुत्व — रामदास गौड़
७६. हिन्दी साहित्य का वृहद इतिहास, प्रथम भाग — राजवली पांडेय
७७. हिन्दी साहित्य का वृहद इतिहास, भाग ६ — राहुल
७८. हिन्दी साहित्य का इतिहास — आचार्य चतुरसेन शास्त्री
७९. हिन्दी साहित्य का इतिहास — डा० रसाल
८०. हिन्दी साहित्य में निर्गुण सम्प्रदाय — डा० बड़थ्वाल

८१.	हिन्दी की निर्गुण काव्य धारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि	डा० गोविन्द त्रिगुणायत
८२.	हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन	डा० हिरण्मय
८३.	हिन्दी साहित्य युग और प्रवृतियाँ	प्रो० शिवकुमार
८४.	हिन्दी साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव	डा० सरनामसिंह शर्मा
८५.	हिन्दी साहित्य का इतिहास	रामचन्द्र शुक्ल
८६.	हिन्दी को मराठी संतों की देन	विनय मोहन शर्मा
८७.	हिन्दी के संगीतज्ञ कवि	नर्मदेश्वर चतुर्वेदी
८८.	हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	डा० रामकुमार वर्मा
८९.	हिन्दी साहित्य की भूमिका	हजारीप्रसाद द्विवेदी
९०.	हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि	विश्वम्भर नाथ उपाध्याय
९१.	हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता	डा० वेनी प्रसाद
९२.	हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का वैज्ञानिक इतिहास	शमशेर सिंह
९३.	हिन्दी के सूफी कवि और काव्य	डा० सरला शुक्ल
९४.	हिन्दी और मलयालम में कृष्ण भक्ति काव्य	
९५.	हिन्दी नीति काव्य	भोलानाथ तिवारी
९६.	देव और उनकी कविता	डा० नगेन्द्र
९७.	दरबारी संस्कृति और हिन्दी मुक्तक	त्रिभुवन सिंह
९८.	दर्शन दिग्दर्शन	राहुल सांकृत्यायन
९९.	१६ वीं शती के हिन्दी और बंगाली वैष्णव कवि	रतन कुमारी
१००.	श्रीराधा का क्रमिक विकास	

१०१. धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी अभिनन्दन ग्रंथ — सं० नलिन विलोचन शर्मा, प्रो० रामखेलावन राय

१०२. संत दरिया एक अनुशीलन — धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी

सहायक ग्रंथ सूची (ख)

१. अर्थव वेद — सायरा भास्य

२. अग्निपुराण — आनन्द आश्रम संस्कृत सिरीज

३. अमर कोश — अमरसिंह वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई

४. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा — अभिनवगुप्त रिसर्च डिपार्टमेंट जम्मू काश्मीर स्टेट

५. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी — अभिनवगुप्त

६. ऋग्वेद — सायण भाव्य

७. कृष्ण यजुर्वेद संहिता

८. कठ-उपनिषद् — गोरखपुर प्रेस

९. काली तंत्र — कन्हैयालाल मिश्र का संस्करण

१०. कुमार सम्भव — कालिदास, निर्णय सागर प्रेस, बंबई

११. कुंजिका तंत्र

१२. कौशीतकी ब्राह्मण — आनन्दाश्रम संस्कृत सिरीज

१३. गीता — गीता प्रेस, गोरखपुर

१४. गोरक्षपद्धति — गोरखनाथ

१५. गोपाल पूर्व तापनी उपनिषद्

१६. घेरण्ड संहिता — घेरण्ड

१७. छान्दोग्य उपनिषद् — लक्ष्मण शास्त्री का संस्करण

१८. तत्व वैशारदी

१९. तंत्रसार — अभिनवगुप्त

२०. तन्त्रालोक — अभिनवगुप्त

२१. तैत्तिरीय ब्राह्मण — आनन्दाश्रम संस्कृत सिरीज

२२. तैत्तिरीय आरण्यक — आन्नदाश्रम संस्कृत सिरीज

२३. तैत्तिरीय संहिता — आनन्दाश्रम संस्कृत सिरीज

२४. दर्शनोपनिषद्

२५. ध्वन्यालोक — निर्णय सागर प्रेस, बंबई

२६. नारद भक्ति सूत्र — गीता प्रेस, गोरखपुर

२७. पाणिनी सूत्र — पाणिनी
२८. प्राण तोषिणी
२९. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् — आडयार लायब्रेरी, मद्रास
३०. पातंजल योग दर्शन — पातंजलि–लखनऊ विश्वविद्यालय
३१. ,, ,, , — गीता प्रेस, गोरखपुर
३२. प्रश्नोपनिषद् — गीता प्रेस, गोखरपुर
३३. ब्रह्म पुराण — आनन्द आश्रम संस्कृत सिरीज
३४. ब्रह्माण्ड पुराण — आनन्द आश्रम संस्कृत सिरीज
३५. बोधायन धर्मसूत्र
३६. वाल्मिकी रामायण — निर्णय सागर प्रेस बंबई
३७. भागवत् — गीताप्रेस, गोरखपुर
३८. महाभारत — गीताप्रेस, गोरखपुर
३९. मत्स्य पुराण — आनन्द आश्रम, संस्कृत सिरीज
४०. मगेन्द्र तंत्र
४१. मालिनी विजयोत्तर तंत्र
४२. मानव गृह्य सूत्र — गायकवाड़ ओरियंटल सिरीज
४३. मेरू तंत्र
४४. मैत्रायणी उपनिषद् — लक्ष्मण शास्त्री
४५. मुण्डकोपनिषद् — गीताप्रेस, गोरखपुर
४६. योग सूत्र
४७. योग उपनिषद्
४८. योग शिखोपनिषद्
४९. रुद्राष्टाध्यायी
५०. लाटायन श्रोत सूत्र
५१. लिंग धारण चंद्रिका — एम० आर सखरी, बंबई
५२. लिंग पुराण — वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई
५३. वराहपुराण — विब्लियोथिका इंडिका
५४. वृहदारण्यक उपनिषद् — निर्णय सागर प्रेस बम्बई
५५. वाजसनेयि संहिता — वेवर
५६. ब्रह्म पुराण — आनन्द आश्रम संस्कृत सिरीज
५७. वायु पुराण — आनन्द आश्रम संस्कृत सिरीज
५८. वामन पुराण — आनन्द आश्रम संस्कृत सिरीज
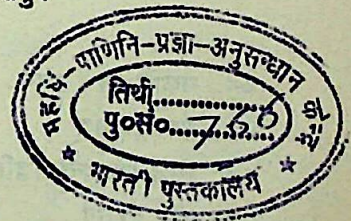
५९. विज्ञान भैरव
६०. शतपथ ब्राह्मण — वेबर का संस्करण
६१. शंकर दिग्विजय — आनन्दगिरि
६२. श्वेताश्वतर उपनिषद् — गीता प्रेस गोरखपुर
६३. शाण्डिल्य भक्ति सूत्र — गीता प्रेस गोरखपुर
६४. शांखायन श्रोत सूत्र
६५. शिवज्ञान बोधम् — मयकण्ड देवर
६६. शिवमहिम्नस्तोत्र — प्रकाशक ठाकुरदास बुकसेलर, बनारस
६७. शिव ताण्डव स्तोत्र — प्रकाशक ठाकुरदास बुकसेलर, बनारस
६८. शिवपुराण — वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई
६९. शिव सूत्र वार्तिक — भास्कर
७०. शिव दृष्टि — उत्पलेदव
७१. शिव संहिता — वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई
७२. शिव सूत्र विमर्शिनी — प्रो० रिसर्च डिपार्टमेंट, जम्मूकाश्मीर
७३. शिव सहस्र नाम स्तोत्र — गीता प्रेस, गोरखपुर
७४. शुक्ल यजुर्वेद — सं० ज्वालाप्रसाद मिश्र
७५. षटचक्र निरूपण
७६. षड्दर्शन
७७. सर्वदर्शन संग्रह — सायण माधव, प्रो० आनन्दाश्रम संस्कृत सिरीज पूना
७८. सकाम शिव पूजन — गंगा विष्णु श्रीकृष्ण
७९. स्वच्छंद तंत्र
८०. सिद्ध-सिद्धान्त पद्धति
८१. सौर पुराण — आन्दाश्रम संस्कृत सिरीज, पूना
८२. स्कन्द पुराण — वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई
८३. हठयोग प्रदीपिका — वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई

सहायक ग्रंथ सूची (ग)

१. एलाजिकल प्रेजेण्टेशन आफ दी शैव सिद्धान्त फिलासफी — कोहून एच० पिट
२. भास्करी — डा० के सी पाण्डे
३. कल्चरल हेरिटेज आफ इंडिया — रामकृष्ण मिशन

४. डाक्ट्राइन ग्राफ शक्ति इन इंडियन लिटरेचर — डा० ग्रार सी चक्रवती
५. इवोलूशन ग्राफ तंत्राज — पी सी बागची
६. गोरखनाथ एण्ड दी कनफटा योगीज — जार्ज डब्लू ब्रिग्स
७. हिस्ट्री एण्ड फिलासफी ग्राफ लिंगायत रिलिजन — एम ग्रार सखोरी
८. ग्राउट लाइन्स ग्राफ रिलिजियस लिटरेचर ग्राफ इंडिया — डा० फरक्यूहर
९. रिलिजन ग्राफ हिन्दूज — एच एच विल्सन
१०. शक्ती एण्ड शक्ता — ग्रारथोर ग्रवोलन
११. श्रीकर भास्य
१२. वैदिक माइथोलाजी — डा० मेकडोनल
१३. वेप्णाविज्म, सेवीज्म एण्ड माइनर रिलीजस सिस्टम्स — डा० ग्रार जी भण्डारकर
१४. ए हेंड बुक ग्राफ वीर शेविजम — डा० नन्दी नाथ
१५. ग्राब्सक्यूयर रिलिजस कल्ट्स — शशी भूषण दास गुप्ता
१६. काश्मीर शैविजम — जे० सी० चटर्जी
१७. ग्रभिनवगुप्त–ए स्टडी ग्राफ हिस्ट्री एण्ड फिलासफी — डा० के० सी० पाण्डे
१८. सर्व-दर्शन-संगह — कावेल
१९. इन्ट्रोडकशन टू तन्त्राज — ए० एवालोन
२०. प्रिंसिपल्स ग्राफ तन्त्रास — ए० एवालोन
२१. दी ग्रेट लिबेशन (महा निर्वान तन्त्र) — ए० एवालोन
२२. हिस्ट्री ग्राफ संस्कृत लिटरेचर — कीथ
२३. डान्स ग्राफ शिवा — कुमार स्वामी
२४. तन्त्र राज तन्त्र — ए० एवालोन
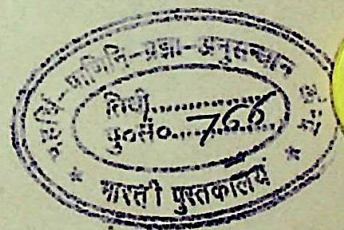
सहायक पत्र पत्रिकाएं (घ)

१. जनरल ग्राफ दी ग्रमेरिकन ग्रोरियंटल सोसायटी
२. नागरी प्रचारिणी पत्रिका

३. मरु भारती
४. संत बानी
५. कल्याण
६. कल्याण विशेषांक—
(१) संक्षिप्त शिवपुराण अंक—१९६२ ई०
(२) शिवांक १९३३ ई०
(३) शक्ति अंक
(४) भक्ति अंक
(५) योगांक
(६) वेदान्त अंक १९३६ ई०
(७) संतवाणी अंक
स्कन्दपुराण अंक १९५१ ई०
(९) हिन्दू संस्कृति अंक १९५० ई०
(१०) उपनिषद् अंक १९४९ ई०